प्रकाशक,
आगरा बुक स्टोर,
रावतपाड़ा, आगरा।

[मूल्य दो रुपये आठ आने]

मुद्रक,
गुलाबचन्द अग्रवाल, बी० कॉम०.
अग्रवाल प्रेस, आगरा।

पूजनीया माता जी के

चरण कमलों में

सादर समर्पित

FOREWORD

This book on the rise and growth of Indian Nationalist Movement that culminated in the establishment of Independence of our country on August 14, 1947 has been written primarily for students appearing for the B A Examination in Political Science of our universities. It has kept the requirements of university students strictly in view, and yet it is also likely to be profitable for the general reader who may like to have a correct knowledge of the main incidents in India's struggle for freedom

Dr Lal Bahadur hardly needs introduction to serious students of Political Science His Ph D thesis on 'The Muslim League' has already been favourably received by top-ranking scholars His present work, though meant for university students, is a careful study of the subject. Being a teacher and a practised writer, he has not left anything of value for his prospective readers I am confident in commending the book as one of the best works on the subject

7-2-55

A L. Srivastava, M A, Ph D,
D Lit (Luck), D Litt (Agra),
Prof & Head of the Dept of
History & Political Science
Agra College, Agra

दो शब्द

'राष्ट्रीय विकास की सरल रूप-रेखा' आपके हाथों सौंपते हुए मुझे आन्तरिक प्रसन्नता हो रही है। इसका कारण यह है कि इतिहास के एक विद्यार्थी के नाते मेरा यह विचार है कि भारत ने कभी किसी सत्ता की दासता सदा के लिये स्वीकार नहीं की। क्या मुसलमान और क्या अंग्रेज दोनों के शासनकाल में वह मुक्ति के लिये प्रयत्नशील बना रहा। इस विचार को मैंने इस पुस्तक में रखने की चेष्टा की है और इसके आधार पर अंग्रेजी काल के भारतीय संघर्ष का इतिहास प्रस्तुत किया है। आगरा विश्वविद्यालय के बी० ए० के विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में तो यह विषय है ही, अन्य विश्वविद्यालयों में भी इसको स्थान दिया गया है। मैंने इस विषय के विद्यार्थियों का ध्यान रखते हुए उसकी सभी दिशाओं को स्पर्श किया है तथा पुस्तक को पूर्ण रूपेण उपयोगी बनाने की चेष्टा की है। यदि इससे विद्यार्थियों को कुछ भी लाभ पहुँचा तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूँगा।

मैं अपने भूतपूर्व विद्यार्थी श्री दीनानाथ सहाय का हृदय से आभारी हूँ, क्योंकि उन्होंने इस पुस्तक की रचना में बड़ी सहायता की है। भाषा को सुगम तथा व्यवहारिक बनाकर पुस्तक की उपयोगिता बढाने में उन्होंने अत्यधिक रुचि से कार्य किया है। साथ ही, श्री सूरजभान अग्रवाल तथा श्री गुलाबचन्द अग्रवाल भी मेरी कृतज्ञता के पात्र हैं क्योंकि उनके हार्दिक सहयोग के बिना इस पुस्तक का इतने कम समय में प्रकाशित होना सम्भव न था।

८-२-५५ }

लाल बहादुर

विषय-सूची

अध्याय १

राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव

भारतवर्ष में देश-प्रेम का कभी अभाव नहीं रहा। यह कहना कि हमारे देश में राष्ट्रीय भावनाओं का सूत्रपात अँग्रेजों के शासन-काल में ही हुआ, सर्वथा मिथ्या है। मुसलमानों के प्रशासन में भी भारतवासी स्वातन्त्र्य प्राप्ति के लिये निरन्तर युद्ध करते रहे। ससार के किसी भी अन्य देश के इतिहास में स्वतन्त्रता के लिये इस प्रकार का ६०० वर्षों से अधिक सघर्ष हमे दिखाई नहीं देता। जब कभी राजपूत राजाओं को देहली राज्य के दुर्बल होने के कारण या अन्य कारणों से अवकाश प्राप्त होता था तो वे अपनी स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त कर लेते थे तथा दोआब के जमींदार तो मध्यकालीन भारत में स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये सदा सघर्ष करते रहे।[1] यद्यपि यह सत्य है कि संगठन के अभाव, जाति-पाति के भेद-भाव और छुआछूत के कारण भारतीय लोग स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए एक सामूहिक प्रयत्न न कर सके तथापि अनेकों वीरों से समय-समय पर जीवन की आहुति दिलाने वाली प्रेरणा, राष्ट्रीय भावना और देश-प्रेम ही थी। साथ ही, इस तथ्य की उपेक्षा करना भी भूल होगी कि भारत मे अँग्रेजी राज्य की स्थापना से पूर्व का युग अवनति का युग था। स्वार्थ-सिद्धि एव तुच्छ विचारों के समक्ष हमारे आदर्श उस युग में बहुत गिर गये थे। अँग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् हमारे देश की राजनीतिक अराजकता का ह्रास हुआ एवं राष्ट्रीय भावना का वेग सहित उत्थान हुआ। राष्ट्रीयता की भावना को उद्वेलित करने वाले कारणों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

धार्मिक आन्दोलन :

१६ वीं शताब्दी भारतवर्ष के पुनर्जागरण के लिये इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगी। इस शताब्दी में अनेकों धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलनों

---

1. Dr A.L. Srivastava The Sultanate of Delhi.

ने भारतीय जीवन में एक नई चेतना का सचार किया, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय भावनाओं का उदय हुआ। भारतवासियों ने अब यह अनुभव किया कि बिना स्वतन्त्रता प्राप्त किये उनका जीवन उनके आदर्शों के अनुरूप व्यतीत होना असम्भव है। सर्वप्रथम, राजा राममोहनराय ने जनता को अन्धकार एव आलस्य के गर्त में से निकालने का प्रयत्न किया। बगाल एव उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर उनके विचारों का बहुत प्रभाव पड़ा और उनके अनुयायियों ने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। बम्बई में रानाडे तथा भंडारकर आदि के प्रयत्नों से प्रार्थना समाज की स्थापना हुई जिसने सामाजिक-सुधार एव शिक्षा के प्रचार द्वारा राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहित करने में योग दिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दुओं का ध्यान वेदों की ओर आकर्षित कर उन्हें अनेकों कुरीतियों के विरुद्ध चेतावनी दी और उनमें एक नवीन शक्ति का सचार किया। स्वामी विवेकानन्द ने भारतवासियों को आत्म-विश्वास एव स्वाभिमान की शिक्षा दी। यद्यपि यह सभी आन्दोलन वास्तव में धार्मिक आन्दोलन थे फिर भी यह मानना पड़ेगा कि हमारे देश में राजनीतिक प्रगति का धार्मिक विकास से निकट सम्बन्ध रहा है। उपर्युक्त सभी आन्दोलन भारतीय लोगों में देशभक्ति एव लोक-सेवा के भाव जाग्रत करने में सहायक हुए।

पाश्चात्य सभ्यता :

भारतीयों के रहन-सहन एव उनके विचारों पर अँग्रेजी भाषा एव पाश्चात्य सभ्यता का विशेष प्रभाव पड़ा। यद्यपि प्राचीनकाल में तीर्थ-स्थानों एव कुम्भ के मेलों आदि उत्सवों पर भारत के सुदूरवर्ती प्रदेशों के निवासी एकत्रित होकर पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का अवसर प्राप्त कर लेते थे तथा विचार-विनिमय भी हो जाता था परन्तु विभिन्न प्रान्तों के बीच सम्पर्क स्थापित करने एव जनता को अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिये एक सर्वदेशीय भाषा का कार्य अँग्रेजी ही ने किया। इस भाषा के द्वारा ही मद्रास, पजाब, बगाल, बम्बई आदि प्रान्तों के भिन्न-भाषा-भाषी लोग सुगमतापूर्वक विचार-विनिमय कर सके। यदि किसी राष्ट्र के उत्थान में किसी एक भाषा की सार्वदेशिकता का प्रभाव पड़ता है तो अँग्रेजी भाषा ने इस कार्य की सम्पूर्णता में महत्वपूर्ण योग दिया। इसके अतिरिक्त अँग्रेजी-शिक्षा प्राप्त देश-प्रेमी लेखकों के लेखों का भी हमारे विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। शैली (Shelley), कीट्स्, वर्डस्वर्थ, मिल्टन, बर्क, मैकॅले, स्पेन्सर आदि की रचनाओं का शिक्षितवर्ग पर बहुत प्रभाव पड़ा एव स्वराज्य की भावनाओं को

बड़ी प्रेरणा मिली। उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने के लिये इङ्गलैंड जाने वाले नवयुवकों ने वहाँ स्वतन्त्रता का सच्चा स्वरूप देखा; उनके विचारों में भारी उथल-पुथल हुई एवं स्वदेश लौटने पर उनके हृदय में अँग्रेजी साम्राज्यवाद के अत्याचारों के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न हो गई तथा देश के प्रति प्रेम जाग्रत हो गया। इस प्रकार पाश्चात्य सभ्यता ने भी भारतवासियों को राजनीतिक भावनाओं से युक्त कर उनमें एक नवीन चेतना का सचार किया।

आर्थिक शोषण :

अँग्रेजी शासन की स्थापना के पश्चात् भारतीयों की आर्थिक-दशा बहुत बिगड़ गई थी। उद्योग और व्यवसाय दिन प्रति दिन पतन की ओर अग्रसर हो रहे थे और दरिद्रता का कोप बढ़ता ही जा रहा था। भारतीय स्वतन्त्रता के प्रथम सग्राम (१८५७) के पश्चात्, अँग्रेजों का विश्वास हिन्दुओं और मुसलमानों पर से हट गया था और तदनन्तर अविश्वास ने ही उनकी नीति में प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया। भारतीय लोगों को राज्य में उच्च पदों से वञ्चित किया जाने लगा। भारतीय सिविल सर्विस की प्रतियोगिता तो इगलैंड में होती ही थी, १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उसमें भाग लेने की उच्चतम आयु सीमा भी २१ वर्ष से घटाकर १६ वर्ष करदी गई। ऐसी दशा में भारत-निवासियों के लिये अँग्रेजों से मुकाबला करना एक समस्या होगई। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी पर इस अन्याय का बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने सन् १८७७-७८ में इसके विरुद्ध आवाज उठाई। अँग्रेजों की 'विनिमय-प्रणाली' एव 'कर-नीति' भी इगलैंड को लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से आयोजित की गई थीं। उदाहरणार्थ, विलायत से भारत में आने वाले कपड़ों पर कोई कर नहीं लगाया जाता था तथा भारतीय आय-व्यय में कमी होने पर यदि उन पर कर लगाने का कभी प्रयत्न भी किया गया तो अँग्रेजों के आन्दोलनों के समक्ष भारतीय सरकार को इङ्गलैंडवासियों की इच्छा के अनुरूप कार्य करने को बाध्य होना पड़ा। भारतीय उद्योगों एव व्यवसाय के पतन ने देश में आर्थिक असन्तोष को जन्म दिया जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला।

जातीय भेदभाव :

सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता-सग्राम के पश्चात् अँग्रेजों ने भारतीयों के प्रति अविश्वास की नीति का पालन आरम्भ कर दिया था और जैसा कि

सन् १८५७ की घटना का सम्पूर्ण दोष भारत-निवासियों पर थोपा गया और इस सम्बन्ध में लार्ड डलहौजी के अत्याचारी कार्यों को तो भुला ही दिया गया। जब अंग्रेज लोग भारत आते थे तो आने से पहिले ही उनको भारतवासियों की कठोरता एवं बर्बरता की झूठी-सच्ची कहानियाँ सुना दी जाती थीं और आरम्भ से ही वे भारतीय लोगों के लिये घृणा की भावना लिये हुए होते थे। वे यह समझते थे कि एक अँग्रेज का जीवन अनेकों भारतीयों के बराबर है। उनकी धारणा यह भी थी कि भारत पर सफलतापूर्वक शासन करने के लिये जनता को भयभीत रखना ही आवश्यक है। ऐसी दशा में उनका व्यवहार भारतीयों के प्रति बड़ा घृणित एवं वर्बर होता था। यदि अंग्रेज सैनिक किसी देशीय व्यक्ति का वध भी कर देते थे तो उनको उपयुक्त दण्ड नहीं दिया जाता था। सरदार गुरमुख निहालसिंह ने इस प्रकार की अनेकों घटनाओं का वर्णन किया है जिनसे अंग्रेजों का हमारे प्रति दुर्व्यवहार प्रदर्शित होता है।[1] उदाहरणार्थ, एक बार अंग्रेजी सैनिकों ने एक भारतीय रसोइये को केवल इसलिये मार डाला कि वह उनके लिये एक देशीय स्त्री प्राप्त नहीं कर सका था। लार्ड कर्जन के विशेष प्रयत्नों पर भी अपराधियों को इस जघन्य एवं नृशंस अत्याचार के लिये मृत्यु-दण्ड न मिल सका। यही नहीं, प्रत्युत ऐंग्लो-इंडियन लोग भी इस प्रकार के घृणित कार्यों में अंग्रेजों का ही पक्ष ग्रहण करते थे तथा देशीय समाचार-पत्रों में इन कार्यों के विरुद्ध आलोचनाओं के प्रकाशित होने पर वे अपने समाचार पत्रों में उनका खंडन करते थे। अंग्रेजों के इस व्यवहार से भारतीय जनता में उनके प्रति असंतोष एवं संघर्ष की भावना प्रस्फुटित हो गई एवं जाति-विभेद की नीति ने भारत में राष्ट्रीयता को जन्म दिया।

भारतीय समाचार-पत्र

देश की जाग्रति में समाचार-पत्रों का बड़ा महत्त्व रहा है। यद्यपि समाचार-पत्रों पर समय-समय पर अनेकों प्रतिबन्ध लगते रहे तथापि १९ वीं शताब्दी के अन्त तक उनकी संख्या ६०० के लगभग होगई थी।[2] इनमें बहुधा

---

1 G N Singh Landmarks in Indian Constitutional And National Development

2 Amrit Bazar Patrika, Bande Matram, Bombay Samachar, Gujrati-Daftar-dum, Indian Mirror, Indian National Herald, Sambodhi Patrika, The Bengali, The Tribune, The Punjabi, Marahati etc.

प्रान्तीय भाषाओं का उपयोग होता था एवं अंग्रेजी शासन की तीव्र आलोचनाएँ की जाती थीं; जिसके कारण राष्ट्रीय चेतना के विकास में ये बड़े सहायक सिद्ध हुए। यद्यपि अनेक समाचार-पत्र अंग्रेजी भाषा में ही प्रकाशित होते थे, इनका कार्य भी देश में राष्ट्रीयता एवं देश-प्रेम की भावनाओं को जाग्रत करना होता था। पत्रकारों के अतिरिक्त भारतीय साहित्यकारों ने भी देश की राजनीतिक जागृति में योग दिया। उन्होंने अपनी रचनाओं एवं लेखों में राष्ट्रीय दृष्टिकोण को प्रधानता देकर देश में एक नवीन चेतना का संचार किया। इस सम्बन्ध में बङ्किमचन्द्र चटर्जी, दीनबन्धु मित्रा, हेमचन्द्र बनर्जी, नवीनचन्द्र सेन, रवीन्द्रनाथ टैगोर, सरलादेवी चौधरी आदि के नाम स्मरणीय हैं।

यातायात के साधन :

लार्ड डलहौजी के शासन काल में रेल, डाक, तार आदि यातायात के साधनों की उन्नति से देश में राष्ट्रीयता की भावना को अधिक प्रोत्साहन मिला। अब विभिन्न प्रान्तों के नागरिक सुगमतापूर्वक विचार-विनिमय कर परस्पर एक सूत्र में बँधने लगे। वे एक दूसरे की कठिनाइयों को समझकर समय-समय पर पारस्परिक सहायता करने के लिये तैयार रहने लगे। यातायात की सुविधाओं के कारण ही देश में राष्ट्रीय सम्मेलन एवं सभाएँ सम्भव हो सकीं एवं नेताओं को देश-भ्रमण तथा जनमत के संगठन में रेलों एवं मोटरों से बड़ी सहायता मिली। सन् १८७७–७८ में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का सिविल सर्विस की प्रतियोगिता के सम्बन्ध में देश का भ्रमण रेल द्वारा ही हुआ। अपने विचारों के प्रतिपादन के द्वारा उन्होंने प्रथम बार समस्त देश को एक लक्ष्य के प्रति प्रयत्नशील बनाया।

लार्ड लिटन की नीति :

वैसे तो सन् १८५७ के पश्चात् से ही अंग्रेजों का भारतीयों पर कोप था किन्तु लार्ड लिटन की साम्राज्यवादी नीति ने देशप्रेमियों की आँखें खोल दीं। उनका शासन-काल राजनीतिक भूलों से भरा हुआ था। अफगानिस्तान की नीति, समाचार-पत्रों पर प्रतिबन्ध, भारतवासियों का निःशस्त्रीकरण एवं इग्लैंड से आने वाले कपड़े पर से आयात कर के उन्मूलन ने देश में राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहित करने में बड़ा योग दिया।[1] इसके अतिरिक्त सन् १८७७ में जबकि देश में प्रतिदिन अनेकों व्यक्ति भीषण दुर्भिक्ष के कारण मर

रहे थे, लार्ड लिटन ने दिल्ली में एक बहुत व्ययशील दर्बार कर, देशवासियों के प्रति उपेक्षा एव तिरस्कार के भाव को प्रदर्शित किया। कार्यकारिणी द्वारा शासन की प्रथा भारतीय लोगों के लिये बड़ी अप्रिय थी एव उसमें भारतीय सदस्यों का अभाव जनता में असन्तोष की भावना उत्पन्न कर रहा था। लार्ड लिटन ने अपनी उग्र नीति के द्वारा, अंग्रेजी शासन के प्रति भारतीयों की घृणा को और भी बढ़ा दिया।

इलबर्ट बिल :

लॉर्ड रिपन, जो लॉर्ड लिटन के पश्चात् वाइसराय हुये, के शासनकाल में राजनीतिक आन्दोलन को और भी प्रोत्साहन मिला। वे उदारवादी दल के होने के कारण भारतवासियों क प्रति सहानुभूति रखते थे। सन् १८८३ में पी० सी० इलबर्ट ने कौंसिल मे एक बिल प्रस्तावित किया, जिसके अनुसार भारतीय न्यायाधीशों को भी अँग्रेजी अपराधियों के मुकदमों का निर्णय करने का अधिकार प्रदान करने का आयोजन किया गया। इलबर्ट बिल से पूर्व की प्रथा दूषित थी। उसके अनुसार केवल अग्रेजी न्यायाधीश अथवा उससे छोटी श्रेणी के अग्रेज अधिकारी को ही योरुपीय अपराधियों के मुकदमे सुनने का अधिकार था। इस प्रथा का फल यह होता था कि एक अग्रेजी सहायक-न्यायाधीश (Joint-magistrate) ऐसे मुकदमों का निर्णय कर सकता था जिसमें एक या एक से अधिक दल अँग्रेज हों, परन्तु उससे भी उच्च पद का अधिकारी एक भारतीय जिलाधीश इस प्रकार के मुकदमे नहीं सुन सकता था जिसमें कोई भी एक दल अग्रेज हो। इस बिल के द्वारा न्याय के क्षेत्र में जातीय विभेद को मिटाने का प्रयत्न किया गया, परन्तु इस पर तो विवाद उठ खड़ा हुआ और एँग्लो-इडियन लोगों ने इसका घोर विरोध किया। यहाँ तक कि लॉर्ड रिपन का खुले-आम अपमान किया गया और उनके विरुद्ध षड्यन्त्र रचे गए। विवश होकर लॉर्ड रिपन को इस बिल में बहुत सशोधन करना पड़ा। यद्यपि भारतीय जिलाधीशों एव सैशन जजों को यूरोपियन अपराधियों के मुकदमों का निर्णय करने का अधिकार दे दिया गया, यह निश्चित हुआ कि यूरोपीय अपराधी अपने मुकदमों में जूरी बैठाने की माँग रख सकते थे जिसमें लगभग आधे सदस्यों का यूरुपियन होना अनिवार्य था। इलबर्ट बिल पर वाद-विवाद एव सशोधन ने भारतीय लोगों में जातीय भावना को और भी उद्वेलित किया। वे अब यह अनुभव करने लगे कि अँग्रेजों से समानता का व्यवहार पाना केवल स्वप्न है, और बिना स्वतन्त्रता प्राप्त किये वह भी पूरा न हो सकेगा। इस बिल पर अग्रेजों के आन्दोलन ने भारत

की राष्ट्रीयता को एकता एवं परिपक्वता प्रदान कर देश के उत्थान को प्रोत्साहन दिया।

कॉंग्रेस का जन्म, प्रारम्भिक उद्देश्य एवं कार्य-पद्धति

कॉंग्रेस का जन्म

उपर्युक्त अनेक कारणों से भारतवासियों मे राष्ट्रीय आत्म-सम्मान, देश-भक्ति, तथा स्वतन्त्रता प्राप्त करने की प्रबल इच्छा का सचार हो चुका था और ऐसी दशा में यह असम्भव था कि किसी अखिल-भारतीय राजनीतिक सस्था का जन्म न हो। यह सत्य है कि कॉंग्रेस की स्थापना के पूर्व भी हमारे देश में कुछ सस्थाएँ इस दिशा में कार्यशील थीं। उदाहरणार्थ, बगाल, मद्रास तथा बम्बई प्रेसीडेन्सी में 'इडियन ऐसोसिएशन' (Indian Associations) स्थापित थीं। परन्तु कलकत्ते के अतिरिक्त अन्य स्थानों से ये सस्थाएँ शीघ्र ही समाप्त हो गई। इनके अतिरिक्त सन् १८८३ में कलकत्ता की 'नेशनल कान्फ्रेन्स' में सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भारतीयों को देश-हित के लिये एक सूत्र में एकत्रित करने का विशेष प्रयत्न किया। सन् १८८४ में मद्रास में 'महाजना सभा' (Mahajana Association) की स्थापना हुई और सन् १८८५ में बम्बई में तैलंग, फीरोजशाह मेहता एव तैय्यबजी आदि के सहयोग से 'बम्बई प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन' का जन्म हुआ। पूना में जोशी एवं रानाडे के प्रयत्नों द्वारा सन् १८७० में स्थापित 'सार्वजनिक सभा' राजनीतिक प्रचार का कार्य बड़े जोरों से कर रही थी। इस प्रकार देश में राजनीतिक सस्थाओं का अभाव तो नहीं था, परन्तु ये सब सस्थाएँ स्थानीय थीं, उनमें सार्वदेशिक प्रयत्न एव प्रतिनिधित्व की क्षमता नहीं थी।

इसलिये यह आवश्यक था कि एक ऐसी सस्था की स्थापना की जाये जो कि समस्त देश का प्रतिनिधित्व कर सके और यह आवश्यकता सन् १८८५ के अन्त मे पूरी हो सकी। ए० ओ० ह्यूम तथा अन्य प्रगतिशील नेताओं ने देश-हित सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करने के अनन्तर एक राष्ट्रीय सस्था की स्थापना का कार्य अत्यन्त आवश्यक समझा और कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों तथा अन्य प्रमुख व्यक्तियों का ध्यान भी इस ओर आकर्षित किया। सन् १८८५ के बड़े दिन की छुट्टियों में पूना के स्थान पर प्रमुख राष्ट्र-प्रेमियों के एक सम्मेलन का आयोजन हुआ, परन्तु सक्रामक रोग के फैल जाने के कारण उसका समय और स्थान बदल दिये गये। तदनन्तर दिसम्बर मास के

अन्त मे (२८–३१) लगभग ७२ प्रतिष्ठित व्यक्तियों का एक सम्मेलन बम्बई में गोकुलदास तेजपाल संस्कृत पाठशाला में हुआ।[1] यह काग्रेस का प्रथम अधिवेशन था।

काग्रेस के जन्म मे ए. ओ ह्यूम का बड़ा भारी हाथ था। उन्होंने समकालीन वाइसराय लार्ड डफरिन से भेंट कर एक अखिल भारतीय सस्था की स्थापना के लिये आग्रह किया। वे इग्लैंड भी गये और वहाँ उन्होंने लगभग १५० पार्लियामेंट के मुख्य सदस्यों से भेंटकर उन्हें भारत में एक राष्ट्रीय सस्था की स्थापना का पक्षपाती बनाया। सन् १८८३ में उन्होंने ही कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों को देश-हित के कार्यो में भाग लेने के लिये पत्र लिखा। वास्तव में सन् १८८५ का बम्बई का सम्मेलन भी ह्यूम महोदय के विशेष प्रयत्नों के कारण ही सभव हो सका। ह्यूम महोदय अग्रेजी शासन के एक प्रमुख कर्मचारी रह चुके थे, उन्होंने अपने समय और शक्ति का प्रयोग भारतीय हित के कार्यों में क्यों किया, इसके कारणों पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में लोगों के विभिन्न मत हैं। लाला लाजपतराय तथा सर विलियम वैडरबर्न के अनुसार ह्यूम महोदय न केवल भारत में अँग्रेजी साम्राज्यशाही की सुरक्षा के उद्देश्य से काग्रेस की स्थापना में विशेष योग दिया।[2] सन् १८५७ के पश्चात् अग्रेजों को यह भय हो गया था कि कहीं इसी प्रकार का एक और विस्फोट भारत में उनके शासन का पूर्णतया अवसान न करदे। वे इस देश में अग्रेजी राज्य की जड मजबूत रखना चाहते थे। परन्तु यह कथन कि ह्यूम महोदय ने भी इस साम्राज्यशाही की सुरक्षा के विचार से ही काग्रेस की स्थापना में प्रमुख भाग लिया, पूर्णत सत्य नहीं है। स्वय लाला लाजपतराय ने इस बात को स्वीकार किया है कि ह्यूम महोदय एक उच्च विचारों से युक्त सज्जन पुरुष थे और उनका अन्त:करण शुद्ध था। अग्रेज होने के कारण ही वे वाइसराय, पार्लियामेन्ट एव भारत-सचिव (Secretary of State for India) को अपने विचारों से शीघ्र प्रभावित कर सके तथा इसी कारण से अखिल-भारतीय काग्रेस की स्थापना सुगमतापूर्वक

---

1 Dadabhai Nauroji, Dinshaw Wacha, Ferozshah Mehta, Sir Surendra Nath Banerjea, Badruddin Tyabji, Gopal Krishna Gokhale, Lala Lajpat Rai, Pandit Madan Mohan Malaviya, Rash Bahari Ghosh, Ranade, Tilak, Telang, etc

2 Lala Lajpat Rai Young India

हो गई—यह माना जा सकता है। किन्तु यह संभव नहीं था कि ह्यूम महोदय फीरोजशाह मेहता, सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि जैसे जागरूक एवं प्रतिभाशाली नेताओं को अधिक समय तक भुलावे में रखते।[1]

इस विषय पर डॉ० नन्दलाल चटर्जी ने भी प्रकाश डाला है। उनके मतानुसार उस समय अंग्रेज लोग रूसियों के भय के कारण भारत की राजनीतिक स्थिति सुधारने मे प्रयत्नशील थे। अत. ह्यूम महोदय द्वारा कांग्रेस की स्थापना में भाग लेने का उद्देश्य भी इस कार्य में अंग्रेजों की सहायता करना था।[2] यह संभव है कि ह्यूम महोदय न अंग्रेज अधिकारियों के सम्मुख कांग्रेस की स्थापना के पक्ष में इस प्रकार के तर्कों का उपयोग किया हो परन्तु इसी आधार पर यह कहना कि उन्होंने सशस्त्र विद्रोह मे अंग्रेजी साम्राज्य की रक्षा करने के लिये, देश की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शक्ति को निकालने के लिये एक रक्षा-नली (Safety-Valve) बनाने को अथवा समय-समय पर गुप्त रूप से भारतवासियों के विचारों को समझकर अंग्रेजी राज्य को सफल एव सुगम बनाने के लिये कांग्रेस की स्थापना में भाग लिया, उचित प्रतीत नहीं होना।

कांग्रेस के प्रारम्भिक उद्देश्य एव कार्य-पद्धति :

कांग्रेस के उद्देश्य समयानुसार बदलते रहे हैं। इसके प्रारम्भिक उद्देश्यों का ज्ञान हमे तभी हो सकता है जब कि हम इसके प्रस्तावों एव घोषणा-पत्र (जिसके फल-स्वरूप पूना की कान्फ्रेंस बुलाने की योजना बनाई गई थी) पर दृष्टिपात करें। इनके अतिरिक्त, कांग्रेस के प्रथम सभापति श्री योगेशचन्द्र बनर्जी का प्रथम भाषण भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण है। इनके आधार पर कांग्रेस के प्रारभिक उद्देश्यों का वर्गीकरण सक्षेप में निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

१—राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य-कर्त्ताओं को पारस्परिक परिचय प्राप्त करने का अवसर देना,

२—आपसी मेल-जोल द्वारा प्रान्तीयता एव साम्प्रदायिकता का अन्त करना,

---

1 Sardar G.N. Singh Landmarks in Indian Constitutional And National Development.

2 Dr. Nand Lal Chatterjee Modern Review, Oct. 1950.

३—भारत की सामाजिक समस्याओं पर देश के शिक्षित व्यक्तियों के विचारों एवं सुझावों को सग्रहीत करना,

४—आगामी वर्ष के लिये कार्य-प्रणाली एव उपयुक्त साधन निश्चित करना।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्थापना के पश्चात् प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस का उद्देश्य स्वराज्य की प्राप्ति नहीं था। इस लक्ष्य का अनुसरण तो कांग्रेस ने समयान्तर में देश की शक्तिशाली सस्था का रूप ग्रहण करने पर ही किया। आरम्भ में कांग्रेस की माँगें साधारण थीं। उदाहरणार्थ, सिविल सर्विस की परीक्षा का इग्लैंड एव भारतवर्ष दोनों देशों में आयोजित होने के लिये आग्रह, कार्यकारिणी के सदस्यों में भारतीयों की सख्या में वृद्धि, चुनाव-व्यवस्था में परिवर्तन आदि।

कांग्रेस की प्रारम्भिक कार्य-पद्धति भी प्रगतिशील नहीं थी और न हो सकती थी क्योंकि किसी भी नई सस्था के लिये शीघ्र ही उथल-पुथल मचा देना सम्भव नहीं होता। कांग्रेस का कार्य करने का ढग भी आरम्भ में सरल था। प्रतिवर्ष इसके सदस्य भारत के किसी एक स्थान पर एकत्रित होते थे और अपने वार्षिक अधिवेशन में प्रस्ताव पास किया करते थे। इन प्रस्तावों की एक-एक प्रति वे वाइसराय, भारत-सचिव आदि अधिकारियों को भेजा करते थे। इन प्रस्तावों का अधिकाश भाग माँगों एव अन्तिम भाग उन माँगों की स्वीकृति के लिये अधिकारियों के प्रति प्रार्थना से युक्त होता था। कांग्रेस के उग्रवादी पक्ष के नेताओं ने इसी कार्य-पद्धति को बाद में "राजनीतिक भिक्षा" का शीर्षक दिया। इसके अतिरिक्त स्वदेश-हित के लिये इङ्गलैंड की जनता में विचार-परिवर्तन के लिये प्रतिनिधि-मण्डल भेजना भी कांग्रेस की तात्कालिक नीति थी। दूसरे शब्दों में, इस समय में कांग्रेस का कार्य करने का ढग वैधानिक था, अंग्रेजों का वास्तविक एव स्पष्ट रूप से विरोध करना उसकी सामर्थ्य से बाहर था और अंग्रेजी वस्तुओं का बहिष्कार तथा स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार कांग्रेस की स्थापना के प्रारम्भिक काल में कल्पना-मात्र ही थे।

कांग्रेस की सफलता

अपने जीवन के प्रथम भाग (१८८५-१९०७) में कांग्रेस वैधानिक ढग से शासन में सुधार करने का प्रयत्न करती रही। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, स्वराज्य-प्राप्ति कांग्रेस का प्रारम्भिक उद्देश्य नहीं था और यह सम्भव भी नहीं

था क्योंकि अभी भारत की समस्त जनता इसके पीछे नहीं थी। इसलिये आरम्भ में कांग्रेस अपने वार्षिक सम्मेलनों में सुधारों के प्रस्ताव पास कर सरकार के पास आवेदन-पत्र भेजती रही तथा इङ्गलैंड मे अधिकारियों के पास प्रतिनिधि-मडल भेजती रही। परन्तु इन प्रस्तावों से सरकार की नीति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। फिर भी इसकी असफलता ने ही देश के नवयुवकों में असन्तोष की भावना उत्पन्न कर उनमें स्वतन्त्रता-प्राप्ति के प्रयत्नों के लिये उत्साह पैदा किया। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन देश की राजनीतिक शिक्षा के लिये बड़े उपयोगी सिद्ध हुए। भारतवासियों में राजनीतिक कार्यों में भाग लेने के लिये रुचि उत्पन्न हो गई तथा उनमें जनमत का विकास आरम्भ हो गया।

ब्रिटिश सरकार की नीति को प्रभावित करने में कॉंग्रेस इस समय में पूर्णतः असफल न रही। अंग्रेजी शासन की निरंकुशता को इसने कुछ मात्रा में अवश्य लचकाया। इङ्गलैंड एवं भारत में अपने आन्दोलनों द्वारा इसने सरकार का ध्यान भारत में शासन सुधार की ओर आकर्षित किया। लार्ड डफरिन ने परिस्थिति की गम्भीरता का अनुभव कर कौंसिलों के सुधार के लिये प्रयत्न आरम्भ किया, जिसके परिणाम स्वरूप सन् १८६२ का भारतीय कौंसिल एक्ट (Indian Council Act, 1892) पास हुआ। कांग्रेस के प्रारम्भिक युग में इस एक्ट का पास होना उसकी एक बड़ी सफलता थी। इसके अनुसार धारा-सभाओं की सदस्य-सख्या बढा दी गई और स्थानीय-शासन-प्रबन्ध में भारतीय सदस्यों की नामजदगी का आयोजन किया गया। यद्यपि यह एक्ट सन् १८६१ के एक्ट की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील था तथापि इसकी वास्तविक सफलताएँ कुछ भी नहीं थीं। गोपालकृष्ण गोखले ने इसकी बड़ी आलोचना की। उन्होंने कहा कि यदि कोई अधिकारी इसी कार्य के लिये नियुक्त किया गया होता कि इस एक्ट के उद्देश्यों को अ य धाराओं द्वारा भग करे तो वह इससे अच्छा एक्ट नहीं बना सकता था। इसके अतिरिक्त कांग्रेस ने सरकार के कुछ प्रतिक्रियावादी नियमों को रद्द करवाने में भी सफलता प्राप्त की। सन् १८६४ में सरकार ने, वकीलों को जिलाधीशों एव रेवेन्यू कमिश्नरों के अधीन कर उनकी राजनीतिक स्वतन्त्रता का अन्त करने के लिये एक नियम की योजना बनाई परन्तु कांग्रेस के विरोध के कारण यह बिल पास न हो सका।

इसी बीच में कांग्रेस अंग्रेजी जनता का ध्यान भारत की राजनीतिक परिस्थितियों की ओर आकर्षित करने में भी लगी रही। सन् १८८६ में इङ्गलैंड में कार्य करने के लिये कांग्रेस की एक कमेटी नियुक्त की गई और इसके खर्चे के लिये ४५,००० रुपये दिये गए। इस कमेटी ने ब्रिटिश लोकमत को

उनका तर्क पूर्णत: सत्य नहीं है। बैक महोदय के साम्राज्यवादी विचारों का प्रभाव सैयद अहमदखाँ पर अवश्य पड़ा परन्तु उनके सम्पर्क में आने से पहिले भी वे अपने विचारों में प्रगतिशील नहीं थे। भारत के एक राष्ट्रीय स्वरूप की कामना वे स्वप्न में भी नहीं करते थे। देश में प्रतिनिधि-शासन को वे मुसलमानों के लिये अत्यन्त अहितकर समझते थे एवं इसी कारण से हिन्दू और मुसलमानों के बीच अन्तर बतलाने का प्रयत्न करते थे।[1] उनके भाषणों एवं लेखों[2] द्वारा उनके संकीर्ण विचारों की पुष्टि होती है।

---

1 Author's own book The Muslim League--its History, Activities & Achievements

2 Khairkhuaban-Musalmanan-i-Hind.

अध्याय २

बंगाल का विभाजन

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के समस्त युग में देश की राजनैतिक चेतना एव जागरण को प्रवर्त्तन देने वाली घटनाओं में बगाल के विभाजन की घटना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में यह घटना पूरे सात वर्षों तक भारतीय राजनीति को प्रभावित करती रही। सन् १६०५ में इसका आरम्भ होकर सन् १६११ मे इसका रूपान्तर एवं लोप हुआ। लेकिन जबकि बगाल की अविभाज्य प्रजा को विभाजित करने की योजना स्वयं लार्ड कर्जन द्वारा ही बनाई हुई थी, बंगाल के प्रादेशिक विभाजन की नीति उससे पूर्व ही आरम्भ हो चुकी थी।[1] सन् १८७४ में वगाल के दो सीमा प्रादेशिक जिले—कचार और सिलहट—आसाम में मिला दिये गये थे परन्तु सयुक्त जनमत के अभाव के कारण इस विभाजन का विरोध न हो सका। तत्पश्चात् सन् १८६६ में आसाम के चीफ कमिश्नर सर विलियम वार्ड ने चटगॉव प्रदेश एव ढाका तथा मैमनसिंह के जिलों को आसाम में मिला देने का प्रस्ताव किया परन्तु उनके पश्चात्गामी अधिकारी सर हेनरी काटन ने इस योजना को कार्यान्वित होने से रोक दिया। हेनरी काटन भारतीय विचारधारा एव परिस्थितियों को भली-भाति समझते थे। अपनी कुशाग्र बुद्धि एवं समूचे ज्ञान से वे इस परिणाम पर पहुँचे कि प्रगति के पथ पर वढते हुये भारतीयों को शक्तिहीन करने के उपाय निरर्थक ही सिद्ध होंगे। अतः जगली जातियों से प्रवसित लुशाई की पहाड़ियों को ही आसाम में मिलाकर उन्होंने इस योजना की इतिपूर्ति की।

विभाजन के कारण .

सन् १६०२ के प्रारम्भ से ही लॉर्ड कर्जन भारतीय प्रान्तों की सीमाओं के पुनः समीकरण के लिये चिन्तित थे। उसी वर्ष अप्रैल के महीने में उन्होंने लॉर्ड

---

1. A. C. Mazumdar Indian National Evolution.

जार्ज हैमिल्टन को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने 'शासन की सुविधा' के लिये बरार को मध्य प्रान्त में मिला देने का प्रस्ताव किया। उनकी सम्मति में बंगाल के समस्त प्रान्त को उसकी विशालता के कारण शासन की एक इकाई बनाये रखना उचित नहीं था। परन्तु लार्ड कर्जन के इस प्रस्ताव से महीनों पहिले प्रान्तों की सीमाओं के पुनर्समीकरण पर अँग्रेजी अधिकारियों में वाद-विवाद हो चुके थे। इसका ज्ञान उन्हें हैमिल्टन महोदय को पत्र लिखने के थोड़े दिनों बाद इस विषय की एक फाइल सामने आने पर ही हुआ।[1] फिर भी उन्होंने यह निर्णय किया कि बंगाल, आसाम तथा मध्य प्रान्त की सीमाएँ ठीक नहीं हैं और उनका पुनर्समीकरण आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यह तर्क रखा गया कि तत्कालीन भारत के प्रान्तीय अधिकारियों में बंगाल के गवर्नर को ही सबसे अधिक कार्यभार एवं आवागमन की कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। उस समय की एक विज्ञप्ति में कहा गया कि बंगाल का लेफ्टीनैण्ट गवर्नर अपने कार्यकाल में समस्त प्रान्त के केवल एक भाग का ही दौरा सुगमता-पूर्वक कर सकता है।[2] इसी समय अँग्रेजी सरकार की नीति का सदा समर्थन करने वाले समाचार-पत्र "कलकत्ता रिव्यू" ने लिखा "बंगाल के स्थूलाकार प्रान्त का विभाजन शासन की सुविधा के लिये अत्यन्त आवश्यक है और अधिकारियों की कठिनाइयों में तनिक भी रुचि रखने वाले व्यक्तिगण इस विषय पर सहमत हैं।"[3]

परन्तु बंगाल जैसे सुसगठित प्रान्त के विभाजन के लिये 'शासन की सुविधा' का तर्क बड़ा हास्यकर प्रतीत होता है। एक प्रान्त के सु-शासन के लिये दो गवर्नरों की आवश्यकता का अनुभव करने के साथ-साथ देश के लिये भी दो वाइसरायों की कल्पना की जा सकती थी क्योंकि भारतवर्ष जैसे विशाल देश का प्रबन्ध-भार भी तो एक ही वाइसराय के हाथों में सौंप देना अनुचित था। यह सत्य है कि उस समय में भी बंगाल भारत का सबसे अधिक घना बसा हुआ प्रान्त था, परन्तु घनी आबादी उस प्रान्त के सुशासन के लिये बाधक तो नहीं थी। बंगाल का प्रबन्ध अन्य प्रान्तों की अपेक्षा किसी भी प्रकार असुन्दर नहीं था। और फिर विभाजन के पश्चात ही उसकी दशा क्या सुधर गई ? एक सम-सामयिक पत्रकार ने लिखा है बंगाल के विभाजन के लिये रक्खे गये तर्कों में 'शासन की सुविधा' का तर्क एक अच्छा मुहावरा है।

1 Earl of Ronaldshay The Life of Lord Curzon, Vol II
2 Lovat Fraser India under Curzon And After
3 The Calcutta Review Oct 1907

परन्तु क्या उस तिरस्कृत प्रस्ताव के निर्लज्जतम् समर्थक भी यह स्वीकार कर सकते हैं कि विभाजन के पश्चात् शासन का प्रबन्ध पहिले से अच्छा हो गया था ।[1] तात्कालिक भारत-सचिव मार्ले ने भी यह अनुभव किया कि बंगाल का विभाजन भारत के राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल था और उन्होंने निःसंकोच स्वीकार किया कि विभाजन के समान बंगाली जनता की भावनाओं की उपेक्षा करने वाली योजना, अँग्रेजी सरकार ने कभी कार्यान्वित नहीं की ।[2] इसके अतिरिक्त, इस योजना के आदि से लेकर अन्त तक की कार्य-विधि से भी अँग्रेजी सरकार की विज्ञप्तियों पर सदेह होना स्वाभाविक है । यदि 'शासन की सुविधा' ही बंगाल के विभाजन का वास्तविक उद्देश्य था तो इस योजना में बाद में किये गये परिवर्तनों को जनता से छुपाये रखना क्योंकर आवश्यक था ? आरम्भ में लार्ड कर्जन ने आसाम, चटगाँव तथा अन्य १५ जिलों के १,०१,००० वर्गमील क्षेत्रफल तथा ३,१०,००,००० की आबादी वाले प्रदेश को मिलाकर पूर्वी बंगाल का एक नया प्रान्त बनाने का विचार किया ।[3] परन्तु बंगाल प्रान्त का दौरा करने के पश्चात् उन्होंने यह विचार छोड़ दिया और बंगाल के पूर्वी भागों का ही एक नया प्रान्त बनाने का निश्चय किया । इस बीच में उन्होंने मुसलमानों की बड़ी-बड़ी सभाओं में भाषण दिये जिससे कि वे लोग भी विभाजन की आवश्यकता अनुभव करने लगे । उनके ये भाषण श्रृङ्खला-बद्ध तर्कों के प्रतिरूप थे और मुसलमानी जनता पर इच्छित प्रभाव डालने में सफल हुए । अब उन्होंने अपनी प्रारम्भिक योजना को छोड़कर एक नई योजना बनाई जिसका अभिप्राय बंगाल से विच्छेद किये जाने वाले भाग को पहिले की अपेक्षा बढ़ाकर एक नया प्रान्त बनाना था, जो कि लेफ्टीनैन्ट-गवर्नरी के स्तर का हो और जिसकी स्वयं की एक अलग धारा-सभा हो ।[4] परन्तु इस नई योजना पर जनता की राय नहीं ली गई; इस पर विचार, वाद-विवाद तथा निर्णय सभी गुप्त रूप में हुये ।[5] स्वयं मार्ले महोदय ने यह स्वीकार किया कि बंग-विभाजन की प्रथम योजना तो भारतीयों के सम्मुख धीरे-धीरे तथा समस्त रूपों में प्रकट की गई, परन्तु अन्तिम

1. Speeches on Indian Affairs by John Morley
2. The Modern Review · June, 1907
3. Dodwell A Sketch of the History of India from 1858 to 1918
4. Earl of Ronaldshay · The Life of Lord Curzon, Vol. II.
5. G N Singh · Landmarks in Indian Constitutional And National Development.

योजना की किसी को खबर तक न लगी।[1] बगाली जनता के भाग्य-निर्णय की इस विधि से यह सिद्ध होता है कि बगाल का विभाजन 'शासन की सुविधा' के उद्देश्य से नहीं किया गया था।[2]

बग-विभाजन की योजना का एक पहलू और भी है। इस प्रान्त का विभाजन बगाल की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई राष्ट्रीयता का विनाश करने के उद्देश्य से किया गया था। इसका प्रयोजन यह था कि हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट-पैदा करके एक नया प्रान्त बनाया जाये जिसमें इस्लाम तथा उसके अनुयायियों की प्रधानता रहे।[3] लार्ड कर्जन की योजना एव कार्य-विधि की तीव्र आलोचना होने पर भी बग-विभाजन के सम्बन्ध में अंग्रेजी सरकार के अडिग रहने से उसके इस इरादे की पुष्टि होती है। अखिल-भारतीय कांग्रेस के बीसवें वार्षिक अधिवेशन में निर्वाचित सभापति सर हेनरी काटन ने भी कहा था कि इस योजना का स्थानीय महत्त्व अधिक है विशेषकर जबकि इसका प्रभाव वहाँ की राष्ट्रीयता एव परस्पर सौहार्द की भावना के लिये घातक है।[4]

पूर्वी बगाल का एक नया प्रान्त बनाने में अंग्रेजी सरकार का अभिप्राय स्पष्ट है। लन्दन के प्रमुख समाचार-पत्र 'द कमिंग डे' के सम्पादक जान पेज हाप्स (John Page Hopps) ने लिखा था कि 'होम-रूल' का शब्द-युग्म ग्रेट ब्रिटेन के लिये एक अपशकुन है।[5] हिन्दुओं में अब इसकी आवाज सुनाई देने लगी थी। इसके विपरीत मुसलमान लोग अपने नेता सर सैयद अहमद खाँ द्वारा निर्देशित अंग्रेजी सरकार के प्रति स्वामिभक्ति नीति का पालन कर रहे थे। अंग्रेजों के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने का उनका कोई कार्यक्रम नहीं था। यही नहीं, वे तो अंग्रेजी सरकार की सहायता करने को भी तत्पर हो गये थे। ऐसी दशा में अंग्रेजी अधिकारियों के सामने हिन्दुओं की सामूहिक चिल्लाहट को शात करने का एक अच्छा उपाय यह था कि भारतवासियों को एक-दूसरे के विरुद्ध संतुलित कर दिया जाये। उन्होंने अस्वदेश-भक्त लोगों को अपनी ओर मिलाने की नीति से लाभ उठाने का यह अवसर हाथ से न जाने दिया। बग-विभाजन की योजना के पीछे अंग्रेजों का यही प्रयत्न छिपा हुआ था। वास्तव में सरकार एव

1 S N Banerjea A Nation in Making
2 Speeches on Indian Affairs by John Morley.
3 Author's own book The Muslim League—Its History, Activities & Achievements
4 The Indian Review March 1904
5 Modern Review June 1907 (Editorial)

मुसलमान शत्रुसेवियों की यह संधि दो अग्रघर्षकों (Aggressors) की अपवित्र सधि थी ।[1]

लार्ड कर्जन का शासन के प्रत्येक विभाग में सुधार करने का उत्साह भी बगाल के विभाजन का एक कारण था । शिक्षा, सिंचाई, रेलवे, पुलिस आदि सभी विभागों में उन्होंने सुधार किये । अपने शासन-काल में उन्होंने अगाध उत्साह, भरपूर योग्यता एवं विशेष निरीक्षण से कार्य किया ।[2] उनकी शक्तियाँ उत्तेजित थीं । अनेकों बार वे अपनी योजनाओं को बनाकर विगाड़ देते थे । वे भारत को एक नये साँचे में ढालना चाहते थे । इस प्रकार बंगाल का विभाजन भी अंशतः लार्ड कर्जन की सुधार करने की असन्तोष्य अभिलाषा का परिणाम था, यद्यपि इसका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक ही था ।

विभाजन-विरोधी आन्दोलनों एव सरकार की दमन-नीति से भी इस योजना के उद्देश्यों पर विशेष प्रकाश पड़ता है । जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है, इस योजना को कार्यान्वित करने का मुख्य उद्देश्य बगाल में उत्तरोत्तर बढती हुई राष्ट्रीयता का विनाश करना था । राज्य की ओर से कहा गया कि वे आन्दोलन अतार्किक थे और कुछ वकीलों तथा ऐसे राजनीतिज्ञों द्वारा प्रेरित किये गये थे जिनके स्वय के प्रेस थे और जिनको प्रान्त के विभाजन से भारी आर्थिक हानि होने की संभावना थी । लोवेट फ्रेजर ने तो यहाँ तक कहा कि इन आन्दोलनों का कारण कुछ उपद्रवियों का षड्यन्त्र था जो बहुत दिनों से लार्ड कर्जन को निंदित करने के अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे ।[3] इसके अतिरिक्त कांग्रेस को भी इनके लिये दोषी ठहराने का प्रयत्न किया गया और उस पर इन आंदोलनों को उत्तेजना देने का दोषारोपण किया गया । इसी समय अंग्रेजी सरकार के पिट्ठू समाचार-पत्र 'कलकत्ता रिव्यू' ने भी प्रकाशित किया कि 'कांग्रेस के सदस्य भारतीयों की दृष्टि में अंग्रेजों को नीचा दिखाने तथा शासन-प्रवन्ध में वाधा डालने का भरसक प्रयत्न कर रहे हैं ।'[4]

वास्तव में इन आन्दोलनों के लिये अतार्किक अथवा अन्याययुक्त होने का विशेषण निराधार है क्योंकि वास्तविक असन्तोष के अभाव में किसी भी

---

1. Author's own book The Muslim Legue-Its History, Activities & Achievements.
2 The Cambridge History of India, Vol. VI.
3. Lovat Fraser India Under Curzon and After.
4 The Calcutta Review Oct 1907

आन्दोलन का सुसगठित होना असभव है। कृत्रिम परिस्थितियाँ बड़े आन्दोलनों को जन्म नहीं दे सकतीं और न अतार्किकता से ही कोई बडा कार्य सफल हो सकता है। भारत-सरकार की आलोचना करते हुये स्वय लार्ड मार्ले ने कॉमन सभा में बताया था कि बगाल में विभाजन के विरुद्ध उत्पन्न आन्दोलन षड्यन्त्रकारियों एव उपद्रवी राजनीतिज्ञों द्वारा उत्तेजित नहीं हैं।[1] प्रश्न यह है कि यदि जनता स्वय ही खुशहाल और समृद्धिशाली हो तो उसे क्या पड़ी कि वह षड्यन्त्रकारी अथवा उपद्रवी राजनीतिज्ञों की ओर तनिक भी ध्यान दे। यह तो कहना ही निर्मूल है कि इस सम्बन्ध में दिलचस्पी लेने वाले कुछ स्वार्थी व्यक्तियों के उकसाने पर ही बंगाल की समस्त जनता ने आन्दोलन आरम्भ कर दिया। ससार क सभी बड़े-बड़े आन्दोलनों पर दृष्टिपात करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनकी सफलता का एक कारण उनके नेताओं की नि.स्वार्थता ही रही है। जहाँ तक 'उत्तेजना' का प्रश्न है, यह तो मानना ही पड़ेगा कि इसकी मात्रा आन्दोलनकारियों में पर्याप्त थी और यह भावना प्रत्येक आन्दोलन के आरम्भ होने तथा उसके कायम रहने के लिये आवश्यक भी है। परन्तु, ये उत्तेजना आन्दोलनों का परिणाम थी, उनका कारण नहीं और कांग्रेस पर उत्तेजना उत्पन्न करने का दोष लगाना अनुचित है। कांग्रेस द्वारा इस आन्दोलन में भाग लेन के विषय में तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उसका तो कर्त्तव्य ही यही था कि वह जनता की सहायता करे। बगाल का विभाजन भारत की राष्ट्रीयता को एक चुनौती थी और देश का प्रतिनिधित्व करने वाली एक-मात्र सस्था कांग्रेस इस अनुचित कार्य की सिद्धि के लिये एक मौन दर्शक क्योंकर बन सकती थी। कर्त्तव्य-पालन करने वाली सस्था पर शासन-प्रबन्ध में बाधा डालने का आरोप लगाना अनुचित है। यहाँ पर हिन्दुओं पर लगाये गए एक अन्य आक्षेप का निरीक्षण कर लेना भी आवश्यक है। जान बकन की सम्मति में उन आन्दोलनों का एक कारण यह था कि विभाजन के फलस्वरूप मुसलमानों का एक नया प्रान्त बन जाने से हिन्दुओं को अपनी धार्मिक प्रबलता एव कलकत्ता नगर के महत्त्व के कम हो जाने का भय हो गया था।[2] यह कथन सर्वथा मिथ्या है और कदाचित इसी कारण से इसको प्रमाणित नहीं किया जा सका। अपनी साम्राज्यवादी नीति के प्रतिपादन के लिये ही अंग्रेजी अधिकारियों ने इस प्रकार के तर्कों का उपयोग

---

1 Speeches on Indian Affairs by John Morley
2 John Buchan Lord Minto, A Memoir

किया था और स्पष्टतः यह कथन भारत मे युग-युगों से चली आने वाली धार्मिक सहनशीलता की परम्परा के प्रतिकूल है।

मुख्य घटनाएँ

कुछ भी हो, सन् १६०५ में बंगाल का विभाजन बंगालियों की इच्छा के विरुद्ध उन पर लाद दिया गया। इसके फलस्वरूप समस्त देश में विशेषकर बगाल में, आन्दोलन की लहर फैल गई। चारों तरफ से यह आवाज़ आने लगी कि बगालियों को विभाजित करके उनके लोकमत की अवहेलना की गई है। इसी समय जापान द्वारा रूस पर विजय ने समस्त पूर्वी देशों में एक बिजली सी दौड़ा दी और भारतीयों में भी एक नवीन उत्साह उत्पन्न हो गया। वे अब यह समझ गये कि सभाओं में कोरे प्रस्ताव पास करने अथवा प्रार्थना करने से काम नहीं चलेगा। फलस्वरूप, अंग्रेजों के व्यापार को क्षति पहुँचाने के उद्देश्य से ब्रिटिश माल के बहिष्कार तथा स्वदेशी के प्रयोग का आन्दोलन देश में चलने लगा। भिन्न-भिन्न स्थानों पर गुप्त समितियाँ स्थापित हो गई और आतंकवादी घटनाओं की संख्या बढ़ने लगी। सारे बगाल में विभाजन-विरोधी सभाएँ हुई और उनमें अंग्रेजी सरकार की नीति की निन्दाएँ की गईं। कलकत्ता के टाउन हाल में बगालियों ने अधिक-से-अधिक संख्या में एकत्रित होकर विभाजन की तीव्र आलोचना की तथा ब्रिटिश माल के बहिष्कार का प्रस्ताव पास किया। जुलूस निकाले गये, सभाएँ की गई, प्रदर्शन किये गये, हड़तालें हुई और इन में बूढ़े-जवान, स्त्री-पुरुष, एवं नागरिक सभी ने योग दिया। स्वयं मार्ले महोदय ने यह स्वीकार किया कि बगाल का विभाजन वहाँ के निवासियों की इच्छाओं के विपरीत था।[1] ऐसी दशा में आन्दोलन का जोर पकड़ना स्वाभाविक था। बंगाली जनता के उद्वेग का ज्ञान हमें इस घटना से हो सकता है कि कॉगड़ा में बाढ आजाने पर मैमनसिंह के जिलाधीश ने वहाँ के एक सुप्रसिद्ध वकील से बाढ-पीड़ित लोगों की सहायता के लिये चन्दे का आयोजन करने को कहा। उसने थोड़े से रुपये एक पत्र के साथ भेज दिये जिसमें लिखा था "बगाल के विभाजन के कारण लोग निराश, खिन्न और अशांत हो गए है। ऐसी दशा में उनसे चन्दा प्राप्त करने की आशा रखना व्यर्थ है।"[2]

---

1. Recollections by John Viscount Morley, Vol II.
2 The Aligarh Institute Gazette: Aug 9, 1905.

आन्दोलनों के साथ सरकार की दमन नीति भी चलती रही। छोटे-छोटे अपराधों पर तथा बिना अपराधों के भी लोगों को भारी एव अनुचित दण्ड दिये गये। सर बैम्पफील्ड फुलर ने बगाल की हिन्दू जनता को तीव्र प्रकोप का शिकार बनाया। मैमनसिंह जिले में दो लड़कों पर केवल इसीलिये जुर्माना कर दिया गया क्योंकि वे वन्देमातरम् का गान कर रहे थे। सार्वजनिक सभाओं को भग कर दिया गया, अध्यापकों को चेतावनियाँ दी गई एव देश-भक्तों को नाना प्रकार की अनोखी सजाएँ दी गई। फुलर महोदय ने ऐसी आज्ञाएँ प्रकाशित कीं जिनका आशय मुसलमानों को हिन्दुओं का साथ देने से रोकना था तथा डिवीजनल कमिश्नरों और जिला न्यायाधीशों को यह आदेश दिया गया कि वे प्रत्येक ऑफिस में एक निश्चित अनुपात में मुसलमानों की भर्ती अवश्य करें और मुसलमान उम्मीदवारों को योग्यताओं की कमी के कारण ही निर्धारित अनुपात की पूर्ति होने तक अस्वीकार न करें।[1] फुलर महोदय ने मुसलमानों के प्रति खुले-आम पक्षपात आरम्भ कर दिया था और उनको वे अग्रेजी साम्राज्य की प्रिय पत्नी कहकर पुकारते थे। परन्तु कुछ स्वाभिमानी मुसलमानों ने इस शब्द के प्रयोग का स्वागत नहीं किया। उदाहरणार्थ, मुहम्मद यूसुफ खॉ बहादुर ने एक बार कहा कि 'मुसलमान होते हुए भी मुझे अग्रेजों द्वारा यह पक्षपात अच्छा नहीं लगता। उनकी कृपा में न कोई फायदा है और न शान।'[2] वास्तव में मुसलमानों को यह दिखाने की कोशिश की गई थी कि सरकार उनकी तरफदारी कर रही है। सर बैम्पफील्ड फुलर ने खुल्लम-खुल्ला हिन्दुओं के लिये हानिकारक तथा मुसलमानों के लिये लाभदायक नीति का पालन किया और जानबूझ कर हिन्दुओं को दबाने और नीचा दिखाने का क्रम आरम्भ कर दिया था।[3] इस प्रकार की बातों का फल यह हुआ कि हिन्दुओं पर नाना-प्रकार के अत्याचार किये गये, उनका रक्तपात हुआ और मुसलमान अत्याचारियों को उनके जघन्य एव तिरस्कृत कार्यों के लिये कोई दण्ड नहीं दिया गया। उसी समय के एक न्यायाधीश ने कहा है कि एक स्थान पर मुसलमानों ने ढोल बजा-बजा कर यह घोषणा की कि सरकार ने उन्हें हिन्दुओं को लूटने की आज्ञा दे दी है, एक अन्य स्थान पर उन्होंने यह प्रसिद्ध कर दिया कि उन्हें सरकार से हिन्दू विधवाओं के साथ निकाह करने की अनुमति मिल गई है।[4] एक मुसलमान स्पेशल मजिस्ट्रेट ने कुछ बलवाइयों के एक मुकदमे में निर्णय देते हुए प्रकट किया कि बलवा करने के लिये उनको तनिक भी नहीं

1 The Indian Review June, 1906
2 The Indian Review Nov, 1906
3 C Y Chintamani Indian Politics Since the Mutiny.
4 Ibid

ललकारा गया था और उनका मुख्य उद्देश्य हिन्दुओं को सताना ही था। इसी प्रकार के एक अन्य मुकदमे में उन्होंने लिखा कि 'अभियोक्ता की ओर से दी गई गवाही से स्पष्ट है कि ठीक बलवे के दिन अपराधी मुसलमान ने अपने सहधर्मियों की एक भीड़ के सामने एक नोटिस पढते हुये कहा कि सरकार तथा ढाका के नवाब बहादुर की आज्ञाओं के अनुसार कोई भी मनुष्य हिन्दुओं को लूटने और उन पर अत्याचार करने के लिये दण्डित नहीं किया जावेगा।'[1] इस घटना के पश्चात् शीघ्र ही मुसलमानों ने एक मन्दिर में काली देवी की मूर्ति को तोड़ डाला और हिन्दू व्यापारियों की दुकानें लूट लीं। 'मार्डन रिव्यू' ने सत्य ही लिखा है कि आन्दोलन काल की घटनाएँ सभी सम्बन्धित पक्षों के लिये निन्दनीय हैं—हिन्दुओं के लिये उनकी भीरुता के कारण, क्योंकि उन्होंने मन्दिरों के अपवित्रीकरण, मूर्तियों के खडन और स्त्रियों के अपहरण के विरुद्ध बल का प्रयोग नहीं किया; स्थानीय मुस्लिम जनता के लिये नीच व्यक्तियों के बाहुल्य के कारण एव अग्रेजी सरकार के लिये इस कारण कि उसके प्रशासन में इस प्रकार की घटनाएँ बिना रोक-टोक बहुत दिनों तक होती रहीं।[2] इन सब बातों पर विचार करने के पश्चात् हम यह निःसकोच कह सकते हैं कि मुसलमानों को अपने साथ मिलाकर अग्रेजों ने जो अत्याचार किये उनके सामने भारतीय क्रान्तिकारियों के कार्य-कलाप कुछ भी नहीं थे। अग्रेजी सरकार की नीति से जन-साधारण को यह विश्वास हो गया कि जब तक सर बैम्पफील्ड फुलर इङ्गलैंड वापिस नहीं चले जायेंगे, उनको चैन और आराम नहीं मिलेगा। क्योंकि सिविल सर्विस के कर्मचारी, न्यायाधीश आदि सभी स्थानीय अधिकारी उनके द्वारा निर्देशित दमन-नीति का पालन कर रहे थे। ऐसे अनेकों उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकारीगण हिन्दुओं के प्रति कितना भेद-भाव कर रहे थे। सन् १९०७ में कामिला के स्थान पर एक बड़ा भारी बलवा हुआ। बलवाइयों के अभियोग का निर्णय करने के लिये स्थानीय न्यायाधीश ने गवाहों को हिन्दू और मुसलमान वर्गों में विभाजित करके उनके बयान लिये और अन्त में केवल एक वर्ग के बयान को ही सत्य मानकर कानूनी कार्यवाही समाप्त कर दी। इस प्रकार खुले-आम मुसलमानों के हित के लिये कानून का भी उल्लघन किया जा रहा था।[3]

परन्तु उपर्युक्त विवरण का तात्पर्य यह नहीं है कि भारतीय लोग चुपचाप यह सब देखते रहें। भारतीयों ने भी अनेकों अग्रेजी अधिकारियों को मार डाला

1 A C Mazumdar · Indian National Evolution.
2 The Modern Review · June 1907
3 Author's own book The Muslim League—Its History, Activities & Achievements.

और उनके आफिसों तथा अन्य स्थानों पर बमों का प्रयोग किया। परन्तु बंगाली जनता ने जो कुछ भी किया वह सरकार की निर्दयतापूर्ण दमन-नीति की प्रतिक्रिया थी। अधिकांश घटनाओं के निरीक्षण से यही प्रकट होता है कि अँग्रेजों के अत्याचारों से उत्तेजित होकर ही बंगाल के क्रान्तिकारियों को आतंक का सहारा लेना पड़ा। उदाहरणार्थ, एक बार सर बैम्पफील्ड फुलर को गोली से उड़ा देने की योजना सहित दो नवयुवक छात्र सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी से उनकी राय लेने के लिये आये। कारण पूछने पर उन्होंने बतलाया कि वे फुलर द्वारा नियुक्त गोरखा फौजों द्वारा स्त्रियों पर बलात्कार होने से तंग आ गए थे और इस कारण बदला लेने के इच्छुक थे। इस प्रकार की घटनाओं की ओर संकेत करते हुए श्री बनर्जी ने ठीक ही कहा है कि बंगाली जनता में अविश्वास, नैराश्य तथा असहायता की भावना को जन्म देने वाले, अंग्रेजी प्रशासन के कार्यों का वर्णन करते समय ब्रिटिश इतिहासज्ञ सदैव लज्जा का अनुभव करेंगे।[1] कांग्रेस की नीति की सदा आलोचना करने वाले एवं राष्ट्रीय प्रगति के ईर्ष्यालु 'अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गजट' ने भी स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये बंगालियों के उत्साह पर आश्चर्य प्रकट किया है।[2] इस प्रकार विभाजन, आन्दोलन, दमन और प्रतिक्रिया के सम्मिश्रण का यह क्रम पूरे सात वर्षों तक अबाधित रूप से चलता रहा। अन्त में सन् १९११ के दर्बार में विभाजन को रद्द कर दिये जाने की घोषणा कर दी गई और आन्दोलन समाप्त हो गया।

विभाजन के परिणाम :

उपर्युक्त घटनाओं ने भारतीय राजनीति में एक युगान्तर कर दिया। इनके परिणामस्वरूप देश में राष्ट्रीयता का पुनर्जन्म हुआ। यह सत्य ही कहा गया है कि विभाजन से ५० वर्ष पूर्व के काल में किसी अन्य घटना ने देश में अभूतपूर्व एकता और राष्ट्रीयता का संचार नहीं किया। विभाजन-विरोधी आन्दोलन विदेशियों के अन्यायों के विरुद्ध भारतीयों द्वारा एक बड़े स्तर का प्रदर्शन था। इस घटना से भारतवासियों की सुप्त शक्तियाँ जाग्रत हो गईं और देश पर मर-मिटने वाले लोगों की एक सेना उठ खड़ी हुई। देशवासियों का उत्साह एक अपूर्व सीमा तक पहुँच गया जिससे भविष्य में स्वतन्त्रता संग्राम को और भी बल मिला। विभाजन के फलस्वरूप देश में उग्र राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हुआ और क्रान्तिकारी आन्दोलनों को प्रोत्साहन मिला। अखिल-भारतीय कांग्रेस में एक नये दल का निर्माण हुआ जो अपनी उग्रवादी नीति के कारण

---

1 S N Banerjea A Nation in Making
2 The Aligarh Institute Gazette 12th Feb 1906.

इतिहास में गरम दल के नाम से प्रसिद्ध है। आन्दोलनों के कारण विभाजन की योजना के रद्द हो जाने से भारतवासियों को आत्म-निर्भरता एवं त्याग की महत्वपूर्ण शिक्षाएँ मिल गईं, जिनका प्रयोग वे सन् १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने तक करते रहे। उन्होंने अब यह समझ लिया कि ब्रिटिश उदारता पर निर्भर रहने के स्थान पर उनकी नीति का खुले-आम अवरोध करके ही उनकी माँगें पूरी हो सकती थीं। विभाजन के परिणाम-स्वरूप आरम्भ होने वाले स्वदेशी आन्दोलन ने भी भारतीय राजनीति को बहुत प्रभावित किया। इससे देश के व्यवसाय को तो प्रोत्साहन मिला ही, साथ ही विदेशों में भारत का सम्मान बढ़ गया। जनता की अभूतपूर्व उत्तेजना का यह सजीव प्रमाण था। अश्विनी कुमार दत्त तथा निवेदिता ने इसकी सराहना की तथा विदेशियों ने इस पर आश्चर्य प्रकट किया। अनेकों वर्षों के संघर्ष एवं घोर प्रयत्नों से भी भारतीयों को प्रगति का वह स्तर शायद ही मिल पाता जो उनको इस आन्दोलन से सहज ही प्राप्त हो गया। मुसलमानों के रुख को सही-सही प्रदर्शित करने का कार्य भी बंग-विभाजन की घटना ने ही किया।

इस घटना के पश्चात् मुसलमानों का मार्ग और भी अलग हो गया। विभाजन के प्रति उत्सुकता एवं उसके रद्द हो जाने पर शोक की भावना प्रदर्शित करके मुसलमानों ने यह प्रकट कर दिया कि वे हिन्दुओं के विपक्षी हैं। उन्होंने यह कहना आरम्भ किया कि आग और पानी के मेल के समान हिन्दुओं और मुसलमानों का मेल-जोल भी असंभव है।[1] मुसलमानों के इस व्यवहार ने हिन्दुओं को उनके प्रति सजग और स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रयत्नों के प्रति अधिक प्रयत्नशील बना दिया।

---

1 Azad · 20th Sept 1895.

अध्याय ३

मुस्लिम साम्प्रदायिकता और मुस्लिम लीग की स्थापना

मुस्लिम साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति

मुस्लिम साम्प्रदायिकता किसी विशेष समय की उत्पत्ति नहीं है। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही, मुहम्मद बिन कासिम के सिन्ध पर आक्रमण के समय मुस्लिम साम्प्रदायिकता का विचार उत्पन्न हो गया था। यद्यपि इससे भी पूर्व भारत में समय-समय पर अनेकों जातियों के आगमन के कारण ऊँच-नीच, छुआ-छूत का भेद-भाव विद्यमान था तथापि साम्प्रदायिकता का जन्म मुसलमानों के ही आने पर हुआ। प्रथम बार भारतवासियों ने एक भिन्न प्रकार की भाषा, रहन-सहन के ढंग, एव पृथक् धर्म का अनुभव किया।[1] अरबों के पश्चात् अफगानों एव मुगलों के राज्यकाल में साम्प्रदायिकता को और भी प्रोत्साहन मिला। इस्लाम-प्रभुत्व राज्य (Theocratic State) की स्थापना कर उन्होंने इस्लाम की विजय-पताका सर्वत्र फहराने का प्रयत्न किया। इस धर्म को न मानने वाले हिन्दुओं को उन्होंने शासन की सुविधा के लिये जिम्मी की स्थिति में रख कर उन्हें ईसाईयों एव यहूदियों के साथ समान स्तर प्रदान किया।[2] ऐसी दशा में मुसलमानों का अपनी जाति के प्रति पक्षपात स्वाभाविक था। राज्य के उच्च पद एवं विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ अधिकतर मुसलमानों को ही मिलती थीं। इस प्रकार सुविधाओं में पलने के कारण मुसलमानों के आत्म-निर्भरता आदि गुण लोप हो गये और उनमें संकटों का सामना करने की सामर्थ्य नहीं रही। यही कारण था कि अंग्रेजी राज्य की स्थापना के काल में वे निर्धन, अशिक्षित एव पतित अवस्था में पड़े हुए थे।

सन् १८५७ के प्रथम स्वाधीनता-सग्राम के पश्चात् मुसलमानों के प्रमुख नेता सर सैयद अहमदखाँ थे। इस सग्राम के अनन्तर अंग्रेजों की नीति में परिवर्तन हो गया और हिन्दुओं एव मुसलमानों के प्रति अविश्वास के कारण

---

1 Al Beruni's India Edited by E C. Sachau Vol I
2, Dr A L Srivastava Agra Univ Extension Lecture on the Nature of State in Mediaeval India

उन्होंने दोनों जातियों पर क्रोध उगलना आरम्भ कर दिया था। सैयद अहमद खाँ ने अँग्रेजों और मुसलमानों के बीच अच्छे सम्बन्ध रखने के लिये विशेष प्रयत्न किया। "रिसाला-असबाब-बगावते-हिन्द" और "रिसाला खैर-ख्वहान मुसलमानान" शीर्षक पुस्तकें लिखकर उन्होंने यह प्रदर्शित किया कि गदर में मुसलमानों का कोई दोष नहीं था। उन्होंने अंग्रेजों को यह बतलाया कि हिन्दू और मुसलमान सिपाहियों को एक ही स्थान पर रखने की उनकी नीति के कारण ही दोनों में प्रेम हो गया था। उन्होंने लिखा "अगर इन्हीं दोनों कौमों की पल्टनें इस तरह पर आरास्ता होतीं कि एक पल्टन निरी हिन्दुओं की होती, जिसमें कोई मुसलमान न होता और एक पल्टन निरी मुसलमानों की होती, जिसमें कोई हिन्दू न होता तो आपस का इत्तिहाद और बिरादरी न होने पाती और वही तफर्का कायम रहता और मैं ख्याल करता हूँ कि शायद मुसलमान पल्टनों को कारतूस जदीद काटने में भी कुछ उज्र न होता।" उन्होंने यह भी कहा कि इस्लाम उन अत्याचारों की अनुमति नहीं देता जोकि हिन्दुओं ने गदर के समय में अंग्रेजों पर किये। आजीवन उनका मुख्य प्रयत्न यही रहा कि मुसलमानों तथा अंग्रेजों के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो जायें ताकि मुसलमान उन्नति कर सकें। भारतीय राष्ट्रीयता की भावना उनके पास होकर भी न गई थी।

कुछ लोगों का कहना है कि सैयद अहमद खाँ साम्प्रदायिकतावादी नहीं थे और वे उनके इन वाक्यों को दोहराते हैं जिनसे राष्ट्रीयता की भावना टपकती है। उदाहरणार्थ, एक बार उन्होंने कहा था कि हिन्दू और मुसलमान भारत की दो आँखें हैं—जब एक को पीड़ा होती है तो दूसरी को होना स्वाभाविक है। किन्तु सच्चाई के ज्ञान के लिये उनके यत्र-तत्र कहे गये इस प्रकार के वाक्यों को उनके विचारों का आधार मान लेना उचित नहीं है। सर सैयद अहमद एक विशाल जाति के नेता थे और जनता में तो इसी प्रकार की बातें करना उनके लिये शोभनीय था। सत्य तो यह है कि जीवन-पर्यन्त उन्होंने अंग्रेजों का साथ दिया और मुसलमानों को राष्ट्रहित के कार्यों में सम्मिलित होने से रोका।

सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् सर सैयद ने मेरठ और लखनऊ के स्थानों पर भाषण देकर मुसलमान जनता को कांग्रेस में सम्मिलित न होने का आदेश दिया। वह इसी पर सन्तुष्ट नहीं रहे। उन्होंने 'इण्डियन

1. Author's own book. The Muslim League—Its History, Activities & Achievements.

पैट्रियोटिक ऐसोसियेशन' की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश्य कांग्रेस का विरोध करना था। इसके एक वर्ष के पश्चात् ही उन्होंने "मुस्लिम एज्यूकेशनल कान्फ्रेन्स" की स्थापना की, जिसका सम्मेलन प्रतिवर्ष भारत के किसी प्रमुख नगर में होता था और जो मुसलमानों की शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं के साथ-साथ राजनीतिक विषयों पर भी प्रकाश डालती थी। इस सस्था ने मुसलमानी जनता के लोकमत को शिक्षित करने का कार्य भी किया। सन् १८६३ में सैयद अहमदखाँ न "ऐङ्गलो-मुहम्मदन डिफेन्स ऐसोसियेशन" की स्थापना की। कुछ लोगों का कहना है कि यह सस्था उन्होंने अपने पुत्र सैयद महमूद के जज के पद से त्याग-पत्र दे देने के पश्चात्, अंग्रेजी सरकार में विश्वास कम हो जाने के कारण स्थापित की थी और त्याग-पत्र देने का कारण चीफ जस्टिस सर जॉन ऐज तथा उनके बीच मतभेद था। परन्तु इस प्रकार का विचार सर्वथा मिथ्या है। सैयद अहमह खाँ का अंग्रेजी सरकार के प्रति विश्वास कभी भी कम नहीं हुआ था। स्वय उन्होंने 'पायनियर' को लिखा कि इस प्रकार की अफवाहें मेरे राजनीतिक विचारों को तो दूषित रूप में प्रकट करती ही हैं, साथ ही वे मेरे चरित्र और ख्याति को भी धक्का पहुँचाती हैं, क्योंकि वे मेरे जीवन-भर की स्वामिभक्ति तथा अंग्रेजी राज्य के प्रति श्रद्धा पर पानी फेरती है, सैयद महमूद और इलाहबाद हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस सर जान ऐज के बीच मामूली से मतभेद को इस प्रकार की सूचनाएँ अधिक महत्व देने का प्रयत्न करती हैं।

सर सैयद अहमद खाँ की धार्मिक-द्वेष की भावना उनके अन्य कार्यों से भी प्रकट होती है। एक बार उन्होंने एक अंग्रेज अधिकारी को यह शिकायत भेजी कि मध्य-प्रान्त में रायपुर के नॉर्मल स्कूल में मुसलमान अध्यापक रखने पर शिक्षा-विभाग के अधिकारियों ने रोक लगा दी है। इस शिकायत का आधार केवल यह घटना थी कि निबन्ध प्रतियोगिता में भाग लेते समय एक प्रतियोगी ने कहीं यह लिख दिया था कि रायपुर के नॉर्मल स्कूल में मुसलमान अध्यापकों की नियुक्ति बन्द कर दी गई है। यह बात गलत थी। वास्तव में उस स्थान पर मुसलमानों की सख्या हिन्दी भाषा-भाषियों की अपेक्षा नगण्य होने के कारण इन्सपैक्टर महोदय ने सदर्शनार्थी पुस्तक (Visitors Book) में यह नोट लिख दिया था कि क्योंकि वहाँ के मुसलमान व्यक्ति अध्यापक के पद पर कार्य करने की योग्यता-प्राप्त नहीं थे—भविष्य में मुस्लिम भाषाओं के अध्ययन की इच्छा रखने वाले विद्यार्थियों का प्रवेश न किया जाये। इसका यह अर्थ नहीं था कि मुसलमानों की नियुक्ति पर कोई प्रतिबन्ध लगा दिया गया

था। परन्तु सैयद साहब के मामले की जाँच किये बिना ही सरकार से इस अत्याचार को हटाने का आग्रह आरम्भ कर दिया।

इसके अतिरिक्त 'एँग्लो-मुहम्मदन-ऑरियण्टल कॉलेज' की नियमावली में सर सैयद ने ही इस धारा का समावेश किया कि हिन्दुओं से चन्दा न माँगा जाये (क्योंकि वे काफिर हैं)। सैयद अहमद खाँ की सम्मति में हिन्दुओं से चन्दा माँगना कुरान के प्रतिकूल था क्योंकि हिन्दू किताबी भी नहीं हैं। परन्तु इस नियम के अनुसार स्वय चन्दा देने की इच्छा रखने वाले हिन्दू चन्दा दे सकते थे।

सर सैयद ने शिवप्रसाद द्वारा लिखे गये भारत के इतिहास का धार्मिक दृष्टिकोण से तीव्र विरोध किया। इससे भी उनकी धार्मिक कट्टरता का आभास होता है। उन्होंने ये तर्क रक्खा कि इस पुस्तक में बन्दा बैरागी का वध बहुत बढ़ा-चढ़ाकर लिखा गया है और लेखक ने उसके द्वारा मुसलमानों पर किये अत्याचारों को तो भुला ही दिया है। कुतुबुद्दीन मुबारक शाह के चरित्र-वर्णन को भी उन्होंने दूषित बतलाया और पुस्तक में लगा हुआ मुहम्मद शाह का चित्र तो उनके विचार में बहुत अनुपयुक्त था। इन सब तर्कों को लेकर उन्होंने उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त की सरकार को लिखा कि यदि यह भी मान लिया जाये कि जो कुछ इस पुस्तक में लिखा गया है सही है तो भी ऐसी पुस्तक जिसमें इस प्रकार के वर्णन हों, सरकारी सस्थाओं में नहीं पढाई जानी चाहिये। उनके कथनानुसार इस पुस्तक का अधिकाश विषय इस्लाम धर्म के प्रतिकूल था। यद्यपि स्थानीय शिक्षा सचालक ने सैयद साहब के विचारों का समर्थन नहीं किया क्योंकि उनकी दृष्टि से भी ऐतिहासिक तथ्यों को धर्म के प्रतिकूल बतलाना अनुचित था, परन्तु सैयद साहब अपने प्रयत्न में सलग्न रहे और उन्होंने उस पुस्तक में पर्याप्त सशोधन करा लेने पर ही चैन लिया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मुसलमानों के प्रधान नेता सर सैयद अहमदखाँ हिन्दुओं के कट्टर विरोधी थे और राष्ट्रीय मार्ग पर प्रगतिशील कदम उठाने की उनकी तनिक भी इच्छा न थी। कुछ लोगों का विचार है कि सैयद साहब की इस प्रकार की विचारधारा के लिये अग्रेज लोग उत्तरदायी हैं।[1] निस्सदेह कुछ अग्रेज अधिकारियों का सर सैयद पर प्रभाव पड़ा, यथा—सन् १८७५ से १८६६ तक थ्योडर बैक (Theodre Beck) ने, सन् १६०० से १६०५ तक मॉरीसन् बैक (Morrison Beck) ने तथा सन् १६०५ से १६१०

---

1. Syed Tufail Ahmed · Musalmanon ka Roshan Mustaqbil.

तक आर्कबोल्ड (Archbold) ने अलीगढ़ के आन्दोलनों पर अपना प्रभाव डाला परन्तु इन अंग्रेज महानुभावों के सम्पर्क से पहिले भी सैयद अहमदखाँ हिन्दुओं के विरोधी थे और उनकी नीति ही दोनों जातियों को अलग-अलग रखने की थी। उन्होंने भारत में प्रतिनिधि-शासन की स्थापना के लिये सदा विरोध किया क्योंकि उनका विचार था कि इस प्रकार के शासन में हिन्दू लोग अपनी सख्या की अधिकता के कारण मुसलमानों पर छा जायेंगे। उनका यह दृढ-विश्वास था कि मुसलमानों का हित अंग्रेजों स मिलकर, हिन्दुओं के विरोध में ही है। इसलिये उन्होंने मुसलमानों को हिन्दुओं से सदा अलग रहने का आदेश दिया और इस प्रकार साम्प्रदायिकता को जन्म दिया।

आश्चर्य की बात तो यह है कि मुसलमानों न बाल गगाधर तिलक, स्वदेशी आन्दोलन, आर्य समाज तथा हिन्दी के प्रसार के लिये प्रयत्न आदि को दोनों जातियों के बीच सम्बन्धों को बिगाड़ने के लिये उत्तरदायी ठहराया है। परन्तु उनका यह आरोप वास्तव में निराधार है। इसमें सत्य का अश तनिक भी नहीं है। बाल गगाधर तिलक का मुख्य प्रयत्न महाराष्ट्र के निवासियों को जागृत करना था और वहाँ के लोगों को जागृत करने के लिये यह आवश्यक था कि उस स्थान के पुराने वीरों की गाथाएँ गाई जाएँ। इसी कारण उन्होंने शिवाजी की चर्चा की और उनके नाम पर मेले लगवाए। देश के पिछड़े हुए भागों में जाग्रति उत्पन्न करना स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक था परन्तु इससे मुसलमानों को गलतफहमी पैदा हो गई। सच बात तो यह थी कि मुसलमान लोग हिन्दू नेताओं को राष्ट्रीय नेता मानने के लिये कभी तैयार नहीं थे और शिवाजी के प्रति उनमें घृणा की भावना इस कारण थी कि उन्होंने औरगजेब तथा दक्षिण के मुसलमानी राज्यों—बीजापुर और गोलकुण्डा—को नीचा दिखाया था।[1] स्वदेशी के प्रचार के सम्बन्ध में तो यही कहना ठीक होगा कि हिन्दुओं की ओर से जब कभी कोई आन्दोलन उठता था तो चाहे वह कितना ही ठीक क्यों न हो मुसलमान लोग उसका विरोध किया करते थे। आर्य-समाज तो केवल हिन्दुओं के उत्थान की सस्था थी। प्रत्येक जाति को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपने धर्म में सुधार करे अथवा उसकी खराबियों को दूर करे। एक ओर तो मुसलमान तबलीग पर जोर देते थे और दूसरी ओर वे आर्य-समाज की आलोचना करते थे। यह कहाँ तक न्यायसगत था? हिन्दी-उर्दू का प्रश्न भी राष्ट्रीय एकता के प्रतिकूल था, परन्तु यह स्मरणीय है कि लीग की स्थापना से पूर्व हिन्दी के प्रसार के लिये कोई महत्त्वपूर्ण प्रयत्न नहीं किया

1 Author's own book the Muslim League-Its History Activities & Achievements

गया था। वास्तव में मुसलमान नेता ही हिन्दी भाषा के विरुद्ध आवाज उठाकर उसके प्रसार के लिये प्रोत्साहन दे रहे थे। सैयद अहमद खाँ के प्रिय एव योग्य शिष्य नवाब मेहदअली मोहसन-उल-मुल्क, और नवाब विकार-उल-मुल्क तो उर्दू भाषा के कट्टर समर्थक थे तथा इसके विपरीत कुछ भी सुनने को तैयार नहीं थे। नवाब विकार-उल-मुल्क ने तो एक बार यहाँ तक कहा था कि यद्यपि हमारी कलम इस समय दुर्बल हो गई है, हमारे हाथों में तलवार उठाने की शक्ति अब भी अधिक है। इस प्रकार के कथनों एव कार्यों के आधार पर हिन्दू नेताओं को मुस्लिम साम्प्रदायिकता को जन्म देने का दोष देना सर्वथा अनुचित है।

मुस्लिम-लीग को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ

साम्प्रदायिकता की भावना जागृत हो जाने पर मुसलमानों के लिये यह स्वाभाविक था कि देश में एक अलग राजनीतिक सगठन की स्थापना करते। अपनी इस आकाक्षा में उनको अंग्रेजों का सहयोग भी उपलब्ध था क्योंकि वे उनके प्रति स्वामिभक्ति को निभा रहे थे। सैयद अहमदखाँ द्वारा संस्थापित मुहम्मद-ऐंग्लो ऑरियण्टल कॉलेज उन्नति करता जा रहा था और उसमें शिक्षा प्राप्त स्नातकों पर देश के राजनीतिक वातावरण का पर्याप्त प्रभाव पड़ रहा था। अब मुसलमान जनता को यह भय हो गया था कि कहीं वे अखिल-भारतीय-कांग्रेस के सदस्य न हो जायें क्योंकि इससे तो किसी भावी मुसलमान सस्था की स्थापना का अभिप्राय ही नष्ट हो जाता। उनको एक ऐसी सस्था की आवश्यकता अनुभव हुई जो उनको सगठित कर उनके समय एवं शक्ति को मुसलमानों के हितों की ओर लगाये तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद की रक्षा करे। इसी समय अलीगढ इन्स्टीट्यूट गजट ने लिखा कि यह हर्ष का विषय है कि मुसलमान लोगों का ध्यान अब व्यावहारिक कार्यों की ओर लग गया है; शिक्षा का कार्य तो धीरे-धीरे ही पूरा हो सकेगा और हम उस समय तक इतजार नहीं कर सकते जब तक कि कौम का एक बड़ा भाग यूनीवर्सिटी शिक्षा-प्राप्त हो पाये। दूसरे शब्दों में हमें एक सगठन की आवश्यकता है।[1] मौलवी मुश्ताक हुसैन तथा नवाब विकारउल मुल्क के विशेष प्रयत्नों से लखनऊ में २१ अक्टूबर १९०१ को एक बड़ी सभा हुई जिसका उद्देश्य एक ऐसी सस्था की स्थापना करना था जो कि मुसलमानों की राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।[2] 'मुस्लिम वातावरण' को उत्पन्न करने के लिये 'मुस्लिम

1. The Aligarh Institute Gazette' 4th July, 1903
2 The Aligarh Institute Gazette 1st August, 1903

विश्वविद्यालय' की स्थापना पर विशेष जोर देने वाले आगा खाँ ने भी राजनीतिक कार्यों में दिलचस्पी लेना आरम्भ कर दिया। ढाका के नवाब सलीम उल्लाह खाँ की भी यही इच्छा थी कि देश में मुसलमानों को सगठित करने वाली एक संस्था की स्थापना हो और उन्होंने भी अपने समय और शक्ति का उपयोग इस दिशा में आरम्भ कर दिया।

मुसलमानों की शक्तियों को एक धारा में सगठित करने के साथ-साथ यह भी आवश्यक था कि कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति को रोका जाये। ये सस्था दिन प्रति दिन लोकप्रिय होती जा रही थी और इसके सदस्य बढते जा रहे थे। सन् १६०५ में सर विलियम वैडरबर्न ने कहा था कि १५ साल बाद भारत में लौटने पर अनेकों राजनैतिक परिवर्तनों में कांग्रेस के अभूतपूर्व सार्वदेशिक विस्तार एव दृढ सगठन ने मुझे विस्मित बना दिया है।[1] कांग्रेस का निरन्तर विरोध करने वाले मुसलमानों ने ऐसी दशा में यह अनुभव किया कि यदि इस सस्था की राजनैतिक माँगें पूरी हो गई तो उनके पृथक् अस्तित्व को बड़ा धक्का पहुँचेगा। इसलिये वे भी अब एक अलग राजनीतिक संस्था के निर्माण के लिये प्रयत्नशील हो गये।

इस विषय में यह स्मरणीय है कि मुसलमानों क हिन्दू बहुमत के प्रति भय को मनगढन्त घटना कह कर उपेक्षित नहीं किया जा सकता है। उनको यह भय अवश्य था और यह स्वाभाविक भी था क्योंकि देश में हिन्दुओं की सख्या उनकी अपेक्षा अत्यत अधिक थी और साथ ही वे अपने धर्म एव सस्कृति की विशिष्टता में दृढ विश्वास करते थे।[2] परन्तु हिन्दूजाति के आधारभूत चरित्र के सूक्ष्म निरीक्षण के पश्चात् ऐसा भय वास्तविक प्रतीत नहीं होता। यद्यपि ये लोग अपनी जाति के नीचे स्तर के लोगों के प्रति अधिक उदार नहीं रहे हैं फिर भी विदेशियों के लिये आक्रमक-नीति का पालन इन्होंने कभी नहीं किया। इतिहास साक्षी है, हिन्दुओं ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने अथवा प्रजातन्त्र राज्य की स्थापना के प्रयत्नों में अल्पमत की कभी भी अवहेलना नहीं की है। भारतीय सघ की सरकार भी अल्प-सख्यक मुसलमानों को उचित (और कहीं-कहीं पर तो उचित से अधिक) मान्यता प्रदान कर रही है। उनको राजनीतिक अधिकार, राजकीय सरक्षण एव आश्रय आदि समान रूप से मिले हुए हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व के समय में मुसलमानों के

1 The Indian Review March 1905
2 The Calcutta Review July 1920

हिन्दुओं के प्रति भय एवं संदेह को निराधार प्रमाणित करने के लिये इससे अधिक प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।[1]

जिस समय भारत के मुसलमान एक नई राजनीतिक संस्था की लालसा में लीन थे, अंग्रेजी सरकार को राष्ट्रीयता की प्रगति के कारण अपनी सत्ता के नष्ट होने का भय लगा हुआ था। इस भय से प्रेरित होकर उन्होंने परस्पर सहायता के लिये मुसलमानों की ओर मैत्री का हाथ बढ़ाया। इसका प्रमाण यह है कि १ अक्टूबर सन् १६०६ को लार्ड मिण्टो से मिलने वाला शिमला डेपूटेशन भी एक पूर्वनिश्चित गुप्त योजना के अनुसार गया था। अंग्रेजों ने अब यह स्पष्ट तौर पर समझ लिया था कि मुसलमानों की सहायता के बिना उनके लिये राजनीति का खेल खेलना आसान नहीं था। अपनी सत्ता को कायम रखने के लिये उन्होंने मुसलमानों को एक संगठित शक्ति के रूप में परिवर्तित करने की नीति अपनाना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर तो मुसलमानों की एक अलग राजनीतिक संस्था की लालसा और दूसरी ओर अंग्रेजों का राष्ट्रीयता की प्रगति के प्रति भय, मुस्लिम-लीग की स्थापना के लिये कार्यशील परिस्थितियाँ थीं।

शिमला डेपूटेशन

शिमला डेपूटेशन की नियुक्ति तथा मुस्लिम लीग की स्थापना के लिये कार्यशील परिस्थितियों का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। इनको जन्म देने वाले अनन्तरित कारण दो मुख्य घटनाओं से सम्बन्धित हैं—वैधानिक सुधारों की आशा से मुसलमानों का एकीकरण तथा उत्तरोत्तर बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के प्रति अंग्रेजों का भय जो बंग-विभाजन समस्या से और भी बढ़ गया था।

सन् १६०६ में इण्डियन काउन्सिल अधिनियम के बिल पर वाद-विवाद प्रारम्भ होने के समय से ही मुसलमानों ने एक राजनीतिक संस्था के निर्माण का विचार बना लिया था।[2] कामन्स-सभा में भारतीय बजट पेश करते हुए जब लार्ड मार्ले ने भारतीय-शासन में सुधारों की संभवता पर विचार करने के लिये एक कमेटी की नियुक्ति का प्रस्ताव किया तो सैयद अहमद खाँ के पश्चात्गामी नेता मेंहदीअली नवाब मोहसिन-उल-मुल्क ने भी शिमला

1. Author's own book : The Muslim League-its History Activities and Achievements
2. Sir Reginald Coupland . India-A Restatement.

डेपूटेशन की नियुक्ति के लिये विशेष प्रयत्न आरम्भ कर दिये थे।[1] इस प्रकार जबकि लार्ड मार्ले के साथ-साथ अंग्रेजी सरकार भारत के सविधान एवं प्रशासन में सुधार करने की योजना में लगी हुई थी, मुसलमान-नेता अपनी जाति के हितों की रक्षा के लिये एक सस्था की स्थापना के प्रयत्नों में लीन थे।[2]

अंग्रेजी सरकार भी मुसलमानों की तात्कालिक विचारधारा एव भय की भावना से भली प्रकार परिचित थी और उसने अपने हितों के लिये उनकी भावनाओं का उपयोग करने में समय नष्ट नहीं किया। बग-विभाजन की योजना ने हिन्दुओं, विशेषकर बगालियों में विरोध की भावना उत्पन्न करके उसके फलस्वरूप देश में विद्रोहों एव आतकवादी घटनाओं की भरमार के द्वारा अंग्रेजी-शासन के पैर डगमगा दिये थे। इसलिये अब लार्ड मिण्टो ऐसे मित्रों की तलाश में थे जो उनको राष्ट्रीयता की प्रगति के विरुद्ध सहायता दे सकें और भारत के जमीदारों एव मुसलमानों से उन्हें इस दिशा में सहयोग प्राप्त हुआ। लार्ड मार्ले ने तो यह सलाह दी कि कांग्रेस की बराबरी करने के लिये भारत के देशीय राजाओं का एक समाज बनाया जाये।[3] उनके जीवन-लेखक जान बकन ने अँग्रेजी सरकार की तात्कालिक नीति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि यद्यपि ब्रिटिश राज्य के प्रति मुसलमानों की स्वामिभक्ति की भावना कम नहीं थी तथापि अपनी धार्मिक शिक्षण-प्रणाली की अनुपयुक्तता के कारण वे सरकारी पदों को प्राप्त करने में हिन्दुओं से बहुत पिछड़े हुए थे और इस कारण उनमें एक हीनता की भावना प्रवेश कर गई थी। बगाल का विभाजन उनके लिये लाभदायक सिद्ध हुआ परन्तु बैम्पफील्ड फुलर के वापिस बुला लिये जाने पर उनको चिंता हो गई। ऐसी दशा में उनके नेताओं ने यही उचित समझा कि वाइसराय से मिलकर उनसे मुसलमानों के कष्टों का वर्णन किया जाये।[4] दिनाक १० दिसम्बर १९०६ के एक पत्र में मौलाना मोहम्मदअली ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि अंग्रेजी सरकार उस समय मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिये अत्यन्त उत्सुक थी और अंग्रेजी अधिकारियों में चारों ओर मुसलमानों और मुहम्मदन-एंग्लो

---

1 Mohammad Noman Rise and Growth of the All India Muslim League
2 Eminent Musalmans,. Published by Natesan & Co
3 Recollections by John Viscount Morley, Vol II Macmillan & Co Limited
4. John Buchan Lord Minto, A Memoir.

ओरियण्टल कॉलेज की प्रशंसा सुनाई पड रही थी।[1] उस समय की सभी घटनाओं पर दृष्टिपात करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि शिमला-डेपूटेशन एक "आदेशित प्रदर्शन" (Command Performance) था। राष्ट्रीयता का विरोध करने के उद्देश्य से ही इसकी योजना की गई थी। ए. सी. बनर्जी ने सत्य ही कहा है कि "प्रोफेसर कूपलैंड का यह कहना कि शिमला डेपूटेशन के लिये कोई भी पूर्व-निर्मित गुप्त योजना नहीं थी—असत्य है।[2] इस विषय पर उपलब्ध प्रमाणों के उपर्युक्त कथनों का खण्डन करने के प्रयत्न निरर्थक ही सिद्ध होंगे।

घटना सन् १६०६ की है। नवाब मेंहदअली ने मुहम्मद-ऐंग्लो ओरियण्टल कॉलिज के प्रिन्सिपल आर्चबोल्ड को एक पत्र लिखा और उसमें यह प्रार्थना की कि सरकार का ध्यान मुसलमानों की आवश्यकताओं की ओर आकर्षित करने के लिये वे लार्ड मिन्टो के प्राइवेट सेक्रेटरी डनलप स्मिथ से पत्र-व्यवहार करें। स्मिथ महोदय के एक पत्र के आधार पर आर्कबोल्ड ने नवाब मेंहदीअली को यह सलाह दी कि वे खास-खास मुसलमान व्यक्तियों के हस्ताक्षरों से युक्त एक आवेदन-पत्र सरकार के पास भेजें और इसके पश्चात् शीघ्र ही मुख्य व्यक्तियों का एक डेपूटेशन भेजा जाये। साथ ही उन्होंने यह भी बतलाया कि आवेदन-पत्र में वायसराय के प्रति अधिक से अधिक स्वामिभक्ति की भावना को प्रदर्शित किया जाये। आर्चबोल्ड महाशय इन सब घटनाओं की आड़ में रहना चाहते थे परन्तु लार्ड मिण्टो को दिये जाने वाले आवेदन-पत्र को भी स्वयं उन्होंने ही तैयार करने का प्रस्ताव किया।[3] वास्तव में शिमला डेपूटेशन की घटना में आद्योपान्त उनका बड़ा हाथ था और उनके पास इस विषय से सम्बन्धित अनेकों महत्त्वपूर्ण कागजात भी थे जिनको कदाचित् राजनीतिक एवं कूट-नीतिक कारणों से प्रकाशित होने का अवसर नहीं दिया गया। अलीगढ के एक सज्जन के पत्र के उत्तर में उन्होंने स्वयं ही लिखा था कि "मैं भी शिमला डेपूटेशन को जन्म देने वाले प्रमुख व्यक्तियों में से एक हूँ और इस विषय पर कुछ दिलचस्प कागजात भी मेरे अधिकार में हैं परन्तु उन सबकी वार्तों को इस स्थान पर दोहराना मेरे लिये उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में मैं मुसलमानों की भरसक सहायता करने का प्रयत्न कर रहा था और इसकी जानकारी आपको अपने नेताओं से भली प्रकार हो सकती है। इसलिये इस सम्बन्ध में

---

1. Addressed to Nawab Mohsin-Ul-Mulk.
2. The Indian Constitutional Documents. Vol. II
3. Maulvi Tufail Ahmad Musalmanon ka Roshan Mustaqbil.

यदि आप सर आफताब अहमदखाँ और विशेषकर, आगाखाँ से मिलें तो अच्छा होगा। संभव है कि यह घटना उनको मेरी भाँति समस्त एवं क्रमबद्ध रूप में न मालूम हो परन्तु वह यह ठीक-ठीक बतला सकेंगे कि दुनिया को कौनसी बातें बतला देना चाहिये अथवा कौनसी बातें गुप्त रखने के योग्य हैं।"[1]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि १ अक्टूबर १९०६ को वायसराय से मिलने वाला शिमला डेपूटेशन मुसलमानों द्वारा स्वेच्छा से नहीं ले जाया गया था। इस कथन की सत्यता कुछ अन्य सम्बन्धित घटनाओं से भी प्रकट होती है। उदाहरणार्थ, मुहम्मद-एँग्लो ओरियण्टल कॉलेज के प्रिन्सिपल आर्चबोल्ड महाशय उन दिनों शिमला में ही उपस्थित थे जबकि कॉलेज खुल जाने के कारण उनकी अलीगढ में उपस्थिति अधिक आवश्यक थी, और वर्षा-ऋतु के आरम्भ हो जाने के कारण शिमला जैसे पहाड़ी स्थान पर पड़े रहने का कोई अन्य विशेष कारण नहीं हो सकता था। शिमला डपूटेशन के नेता आगाखाँ बनाये गये, इसका भी एक विशेष कारण था। सैयद अहमद खाँ के अन्तिम दिनों में लगभग एक लाख रुपये के गबन[2] के कारण मुहम्मदन-एँग्लो ओरियण्टल कॉलिज को उस समय आर्थिक संकट का सामना करना पड़ रहा था और इस संकट से कालिज को बचाने के लिये ही आगाखाँ का पल्ला पकड़ा गया था। सन् १९०३ में ही नवाब मेंहदीअली ने आगाखाँ को मुस्लिम एज्यूकेशनल कान्फ्रेन्स के सभापतित्व के लिये आमन्त्रित करके अपना मित्र बना लिया था और तब ही से वह मुसलमानों के राजनैतिक हितों के कट्टर समर्थक हो गये थे।। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि लीग की स्थापना का विचार भी वास्तव में आगाखाँ द्वारा अभिमन्त्रित किया गया था। उन्होंने स्वयं ही कहा है—'सन् १९० में अलीगढ में परिभ्रमण करते समय मुझे मुस्लिम लीग की स्थापना की आवश्यकता अनुभव हुई और मैंने यह विचार अपने परम-मित्र मोहिमन-उल-मुल्क के सम्मुख प्रकट किया। उन्होंने अपनी दूरदर्शिता से लीग की स्थापना के लिये प्रयत्न आरम्भ किया एवं डपूटेशन की नियुक्ति की।"[3]

लार्ड मिण्टो को दिये गये आवेदनपत्र का मुख्य उद्देश्य यह था कि सरकार द्वारा सुधारों की नवीन योजना में मुसलमानों के अधिकार भली-

---

1 Letter Dated 10th June 192 , and preserved in the Conference Hall of Muslim University, Aligarh
2 Azad 30th August 1895
3 Eminent Musalmans

भाँति सुरक्षित रखे जायें और प्रशासनिक कार्यों में उनको भी अन्य जातियों के समान महत्व दिया जाये।[1] डेपूटेशन के सदस्यों ने वाइसराय से यह प्रार्थना की कि वे मुसलमानों की राजनैतिक प्रास्थिति एवं ऐतिहासिक प्रतिष्ठा को मान्यता देने की कृपा करें। उन्होंने अपने आवेदन-पत्र में व्यक्त किया कि यदि नवीन निर्वाचन-प्रणाली का आधार धार्मिक एवं जातीय पृथकत्व न रहा तो मुसलमान जाति का भविष्य ऐसे लोगों के हाथों में चला जायेगा जिन्हें उनसे तनिक भी सहानुभूति नहीं होगी।[2] इस समय 'इण्डियन रिव्यू' ने लिखा कि 'मुसलमानों का रुख हिन्दुओं की राष्ट्रीय भावनाओं के अनुकूल होता जा रहा है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि डपूटेशन के मुख्य प्रवक्ता आगाखाँ तथा नवाब सैयद मुहम्मद ने वाइसराय के सम्मुख हिन्दुओं की आकाक्षाओं के प्रति सहृदयता का प्रदर्शन किया है। विभाजन के पश्चात् पूर्वी बंगाल में घटित घटनाओं की ओर उन्होंने तनिक भी संकेत नहीं किया है। इस प्रकार की अन्य घटनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित होते जा रहे हैं।[3] इस पत्र की तात्कालिक विचारधारा से हम सहमत नहीं हैं। क्योंकि यदि डेपूटेशन के सदस्यों ने बंगाल में हुए उपद्रवों की ओर संकेत नहीं किया तो उसका कारण यह था कि वहाँ पर बलवों के शिकार अधिकतर हिन्दू ही हुए थे न कि मुसलमान। वे इस सत्य को छुपाना चाहते थे। वास्तविकता यह थी कि भारतीय देशभक्त देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये हिन्दू-मुस्लिम एकता को अनिवार्य समझते थे और अंग्रेजों के इस तर्क के प्रत्युत्तर में ही कि हिन्दू और मुसलमानों के बीच गहरी फूट है, वे यह प्रकट किया करते थे कि वास्तव में मुसलमान राष्ट्रीय हितों के पक्षपाती हैं। दोनों जातियों के बीच विभिन्नता प्रदर्शित करने वाले कट्टर मुसलमानों को देशभक्त स्वार्थी कहकर टाल देते थे। मुसलमान जाति के 'पृथकत्व' के विशिष्ट गुण को तो उन्होंने जान-बूझ कर ही न समझने का बहाना किया था। यह उनका दुर्भाग्य है कि वे अपनी इस नीति से भी पाकिस्तान एवं हिन्दुस्तान में देश का विभाजन न रोक सके और न मुसलमान लोकमत को ही अपना पक्षपाती बना सके। सर मुहम्मद इकबाल भी जिनकी देश-प्रेम से ओत-प्रोत कविताओं के आधार पर साधारण जनता उनको राष्ट्रीय भावनाओं से युक्त समझती थी, समय आने पर अपने असली रूप को न छुपा सके। कलकत्ता में विद्यार्थियों की एक सभा में उन्होंने उनको चेतावनी

1. The Aligarh Institute Gazette. Sept, 18 1907.
2. Ibid.
3. The Indian Review : November, 1906.

यदि आप सर आफताब अहमदखाँ और विशेषकर, आगाखाँ से मिलें तो अच्छा होगा। सम्भव है कि यह घटना उनको मेरी भाँति समस्त एवं क्रमबद्ध रूप में न मालूम हो परन्तु वह यह ठीक-ठीक बतला सकेंगे कि दुनिया को कौनसी बातें बतला देना चाहिये अथवा कौनसी बातें गुप्त रखने के योग्य हैं।"[1]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि १ अक्टूबर १६०६ को वायसराय से मिलने वाला शिमला डेपूटेशन मुसलमानों द्वारा स्वेच्छा से नहीं ले जाया गया था। इस कथन की सत्यता कुछ अन्य सम्बन्धित घटनाओं से भी प्रकट होती है। उदाहरणार्थ, मुहम्मद-एँग्लो ओरियण्टल कॉलेज के प्रिन्सिपल आर्चबोल्ड महाशय उन दिनों शिमला में ही उपस्थित थे जबकि कॉलेज खुल जाने के कारण उनकी अलीगढ़ में उपस्थिति अधिक आवश्यक थी, और वर्षा-ऋतु के आरम्भ हो जाने के कारण शिमला जैसे पहाड़ी स्थान पर पड़े रहने का कोई अन्य विशेष कारण नहीं हो सकता था। शिमला डेपूटेशन के नेता आगाखाँ बनाये गये, इसका भी एक विशेष कारण था। सैयद अहमद खाँ के अन्तिम दिनों में लगभग एक लाख रुपये के गबन[2] के कारण मुहम्मदन-ऐंग्लो ओरियण्टल कॉलिज को उस समय आर्थिक संकट का सामना करना पड़ रहा था और इस संकट से कालिज को बचाने के लिये ही आगाखाँ का पल्ला पकड़ा गया था। सन् १६०३ में ही नवाब मेंहदीअली ने आगाखाँ को मुस्लिम एज्यूकेशनल कान्फ्रेन्स के सभापतित्व के लिये आमन्त्रित करके अपना मित्र बना लिया था और तब ही से वह मुसलमानों के राजनैतिक हितों के कट्टर समर्थक हो गये थे।[3] पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि लीग की स्थापना का विचार भी वास्तव में आगाखाँ द्वारा अभिमन्त्रित किया गया था। उन्होंने स्वयं ही कहा है—'सन् १६० में अलीगढ़ में परिभ्रमण करते समय मुझे मुस्लिम लीग की स्थापना की आवश्यकता अनुभव हुई और मैंने यह विचार अपने परम-मित्र मोहसिन-उल-मुल्क के सम्मुख प्रकट किया। उन्होंने अपनी दूरदर्शिता से लीग की स्थापना के लिये प्रयत्न आरम्भ किया एवं डेपूटेशन की नियुक्ति की।'"[3]

लार्ड मिण्टो को दिये गये आवेदनपत्र का मुख्य उद्देश्य यह था कि सरकार द्वारा सुधारों की नवीन योजना में मुसलमानों के अधिकार भली-

1 Letter Dated 10th June 192 , and preserved in the Conference Hall of Muslim University, Aligarh
2 Azad 30th August 1895
3 Eminent Musalmans.

वाइसराय से उनके निवास स्थान पर मिलने के लिये गये। वार्ता में वाइसराय ने मुसलमानों के अधिकारों पर विशेष ध्यान दिया और सरकार द्वारा प्रकाशित सुधारों की नवीन योजना पर नवाब साहब से विचार करने के लिये कहा। इससे नवाब मोहिसन-उल-मुल्क को विश्वास होगया कि सुधार की नवीन योजना में मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों को सुरक्षा मिल सकेगी। इस घटना के पश्चात् वाइसराय का मुहम्मदन-एँग्लो ऑरियन्टल कॉलिज में आगमन भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। वहाँ पर उनका उचित आदर-सत्कार किया गया और उन्होंने भी इस संस्था की सराहना में कसर न रखी।[1] सर आकलैंड काल्विन के शब्दों को दोहराते हुए उन्होंने कहा कि अलीगढ़ का निवासी होना अँग्रेजों तथा भारतीय मुसलमानों की सम्मान-प्राप्ति का पासपोर्ट है।[2]

मुस्लिम लीग का जन्म :

लार्ड मिन्टो से आश्वासन प्राप्त करने के पश्चात् मुसलमानों को अपने अधिकारों की रक्षा मे तनिक भी सन्देह नहीं रह गया।[3] शिमला डेपूटेशन की सफलता ने अब उनको एक नवीन राजनैतिक सगठन के लिये प्रेरित कर दिया। इसी समय ढाका के नवाब सलीम उल्लाह ने मुस्लिम जाति के समस्त हितों की रक्षा के लिये एक 'केन्द्रीय मुहम्मदन सभा' (Central Mohammedan Association) की स्थापना का सुझाव दिया। उनका विचार था कि इस प्रकार की एक संस्था की स्थापना से उस समय की अनेकों ऐसी संस्थाओं का अन्त हो सकता था, जिनको संगठित करने वाले लोग मुसलमान जाति की सहायता करने के स्थान पर व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति में अधिक प्रयत्नशील थे। उन्होंने यह भी प्रस्ताव किया कि अँग्रेजी सरकार की नीति का समर्थन तथा मुसलमानों के अधिकारों की रक्षा इसके मुख्य उद्देश्य होंगे। कांग्रेस की बढ़ती हुई लोकप्रियता के विरुद्ध मुसलमान नवयुवकों को उसमें सम्मिलित होने से रोकने का कार्य भी इसी सस्था को सौंपने का विचार किया गया।[4]

परन्तु नवाब सलीम उल्लाह की इस योजना को अपरिवर्तित रूप में स्वीकार नहीं किया गया। सन् १६०६ के दिसम्बर मास में ढाका में "मुहम्मदन एज्यूकेशनल कान्फ्रेंस" के लिये लोगों को आमन्त्रित किया गया

1. John Buchan : Lord Minto–A Memoir.
2. Ibid.
3. The Aligarh Institute Gazette : April 22,(1908.
4 The Aligarh Institute Gazette : Jan. 2, 1907.

दी कि इस समय इस्लाम सकट में है। साहस उत्पन्न करने के प्रयत्न में उन्होंने एक बार लिखा "हमें विरोधी शक्तियों से भयभीन नहीं होना चाहिये। उनसे संघर्ष करने में ही जीवन है।[1] इस बात की प्रशसा हमें अवश्य करनी चाहिये कि सरकार से पृथक् राजनीतिक अधिकारों की माँग करते समय उन्होंने यह छुपाने का प्रयत्न नहीं किया कि इस प्रकार वे सर सैयद अहमदखाँ के कदमों पर चल रहे थे। उनको विश्वास था कि यदि उस समय सैयद अहमदखाँ जीवित होते तो अपनी ही नीति का पालन होते देख उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती।[2] आश्चर्य इस बात का है कि इन सब बातों को देखते हुए भी हिन्दू नेता दोनों जातियों के एक होने का स्वप्न देख रहे थे, जिसका वाइसराय को भेंट किये गये आवेदन-पत्र में लेशमात्र भी जिक्र नहीं था। उनकी माँग तो यह थी कि उनका राजनैतिक स्तर उनकी सख्या पर ही नहीं बल्कि ऐतिहासिक महत्त्व एव ब्रिटिश साम्राज्य के लिये की गई सेवाओं के आधार पर निश्चित किया जाना चाहिये। देश में प्रतिनिधि-शासन की स्थापना के लिये उनमें तनिक भी उत्साह नहीं था और फिर भी उनका आग्रह यह था कि मुसलमानों के लिये पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र बनाये जावें।[3] डेपूटेशन की कार्यवाही में मुसलमानों के लिये एक केन्द्रीय सस्था की स्थापना के विषय पर भी वाद-विवाद हुआ।[4]

वाइसराय के अच्छे बर्ताव से डेपूटेशन के सदस्यों को अपने कार्य में और भी प्रोत्साहन मिला। उन्हें यह आश्वासन दे दिया गया कि आगामी वैधानिक सुधारों में उनको यथोचित सुविधाएँ प्रदान करदी जाएँगीं। एक भाषण में वाइसराय ने यह भी कहा कि यद्यपि उनका ध्येय साम्प्रदायिकता को जन्म देना नहीं था फिर भी विभिन्न जातियों एवं धर्मावलम्बियों से युक्त समस्त देश के लिये एक ही निर्वाचन-पद्धति उपयुक्त नहीं थी। उनका यह कथन यथार्थ था और उनके श्रोताओं ने उनके इस विचार की सराहना की। लार्ड मार्ले ने उनकी कूटनीतिज्ञता की प्रशंसा करते हुए कहा कि अपनी नीति से वाइसराय ने मुसलमानों में बढ़ती हुई विद्रोह की भावना को शात कर दिया जो ब्रिटिश साम्राज्य की तत्कालीन सकटावस्था के लिये अत्यन्त आवश्यक था।[5] २६ सितम्बर १९०७ को नवाब मोहसिन-उल-मुल्क मध्याह्न के समय

1 Manuscript Letter dated Sept 23, 1937, written by Mohammad Iqbal to Noman-Preserved in the Conference Hall of the Muslim University, Aligarh.
2 The Aligarh Institute Gazette Sept 18, 1907
3 John Buchan Lord Minto-A Memoir.
4 Manuscript Letter dated Nov. 22, 1906, written by Sayyid Nawab Ali and addressed to Mohsin-ul-Mulk

वाइसराय से उनके निवास स्थान पर मिलने के लिये गये। वार्ता में वाइसराय ने मुसलमानों के अधिकारों पर विशेष ध्यान दिया और सरकार द्वारा प्रकाशित सुधारों की नवीन योजना पर नवाब साहब से विचार करने के लिये कहा। इससे नवाब मोहसिन-उल-मुल्क को विश्वास होगया कि सुधार की नवीन योजना में मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों को सुरक्षा मिल सकेगी। इस घटना के पश्चात् वाइसराय का मुहम्मदन-एँग्लो ऑरियन्टल कॉलिज में आगमन भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। वहाँ पर उनका उचित आदर-सत्कार किया गया और उन्होंने भी इस सस्था की सराहना में कसर न रखी।[1] सर आकलैंड काल्विन के शब्दों को दोहराते हुए उन्होंने कहा कि अलीगढ का निवासी होना अँग्रेजों तथा भारतीय मुसलमानों की सम्मान-प्राप्ति का पासपोर्ट है।[2]

मुस्लिम लीग का जन्म :

लार्ड मिन्टो से आश्वासन प्राप्त करने के पश्चात् मुसलमानों को अपने अधिकारों की रक्षा मे तनिक भी सन्देह नहीं रह गया।[3] शिमला डेपूटेशन की सफलता ने अब उनको एक नवीन राजनैतिक सगठन के लिये प्रेरित कर दिया। इसी समय ढाका के नवाब सलीम उल्लाह ने मुस्लिम जाति के समस्त हितों की रक्षा के लिये एक 'केन्द्रीय मुहम्मदन सभा' (Central Mohammedan Association) की स्थापना का सुझाव दिया। उनका विचार था कि इस प्रकार की एक संस्था की स्थापना से उस समय की अनेकों ऐसी संस्थाओं का अन्त हो सकता था, जिनको संगठित करने वाले लोग मुसलमान जाति की सहायता करने के स्थान पर व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति में अधिक प्रयत्नशील थे। उन्होंने यह भी प्रस्ताव किया कि अँग्रेजी सरकार की नीति का समर्थन तथा मुसलमानों के अधिकारों की रक्षा इसके मुख्य उद्देश्य होंगे। काग्रेस की बढती हुई लोकप्रियता के विरुद्ध मुसलमान नवयुवकों को उसमें सम्मिलित होने से रोकने का कार्य भी इसी सस्था को सौंपने का विचार किया गया।[4]

परन्तु नवाब सलीम उल्लाह की इस योजना को अपरिवर्तित रूप में स्वीकार नहीं किया गया। सन् १६०६ के दिसम्बर मास में ढाका में "मुहम्मदन एज्यूकेशनल कान्फ्रेंस" के लिये लोगों को आमन्त्रित किया गया

1. John Buchan : Lord Minto–A Memoir.
2. Ibid.
3. The Aligarh Institute Gazette . April 22,(1908.
4. The Aligarh Institute Gazette : Jan. 2, 1907.

और वहीं पर ३० दिसम्बर को नवाब विकार-उल-मुल्क की अध्यक्षता में एक सभा हुई जिसमे अखिल-भारतीय मुस्लिम-लीग की स्थापना का प्रस्ताव पास हुआ। दिल्ली निवासी हकीम अजमलखाँ तथा अन्य कट्टर मुसलमानों ने इसके लिये बड़ा उत्साह प्रदर्शित किया। लीग का विधान तैयार करने के लिये एक कमेटी भी नियुक्त की गई और नवाब मोहसिन-उल-मुल्क तथा नवाब विकार उल-मुल्क उसके सहायक-सचिव चुने गए। विधान बन चुकने के पश्चात् कमेटी को उसकी स्वीकृति के लिये एक आम सभा बुलाने का अधिकार भी दिया गया।[1] २६ दिसम्बर १६०७ को सर आदमजी पीरभाय की अध्यक्षता में हुई एक सभा ने इस कमेटी के नियमों एव कार्यक्रम को अपनी स्वीकृति प्रदान की और इस प्रकार लीग का जन्म हुआ।

इस सम्बन्ध में मुस्लिम लीग की ब्रिटिश कमेटी का वृत्तात भी उल्लेखनीय है। ६ मई सन् १६०८ को सैयद अमीर अली की अध्यक्षता में वैस्टमिनिस्टर में इस कमेटी की प्रारम्भिक बैठक हुई। इसका उद्देश्य इङ्गलैंड की जनता में भारतीय मुसलमानों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना था। इसका प्रस्ताव यह सैयद अमीर अली ने ही किया था और उन्हीं के निर्देशन, निरीक्षण तथा नियन्त्रण में मुस्लिम लीग की यह शाखा कार्य करती रही। उनका प्रथम भाषण भी हिन्दुओं के प्रति अविश्वास एव पृथकत्व के विचारों से परिपूर्ण था। उन्होंने कहा कि यह असभव है कि मुसलमान लोग अपने स्वतत्र जातीय अस्तित्व को अन्य किसी जाति में मिला दें और न यह सभव है कि वे अपने आदर्शों की पूर्ति के लिये किसी गैर राजनीतिक सगठन की अधीनता में प्रयत्न करते रहें। मुस्लिम लीग ने अपनी इस शाखा को भरपूर सहायता प्रदान की और इसने भी अंग्रेजी लोकमत को मुसलमानों की राजनीतिक माँगों के पक्ष में करने में कोई कसर न उठा रक्खी। भारत में मुसलमानों के लिये पृथक् निर्वाचन एव प्रशासन में सीटों का आरक्षण, इसी कमेटी के विशेष प्रयत्नों के परिणाम थे।

मुस्लिम-लीग के उद्देश्य :

अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना धार्मिक एव राजनैतिक क्षेत्रों में मुसलमानों का स्वतत्र अस्तित्व कायम रखने के लिये हुई थी। 'अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गजट' के नियमित लेखक श्री जकाउल्लाह के कथनानुसार लीग का

1. The Aligarh Institute Gazette Jan 9, 1907.
2 The Indian Review · June 1908

कार्य सैयद अहमद खाँ की नीति का अक्षरशः पालन करना था। उन्होंने यह निःसंकोच स्वीकार किया है कि कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के उद्देश्यों में तनिक भी समानता नहीं थी और इसके लिये उन्होंने उपयुक्त तर्क भी दिये हैं। लीग भारतीय मुसलमानों को ब्रिटिश सरकार के प्रति पूर्ण स्वामिभक्ति की शिक्षा देती थी तो कांग्रेस स्पष्ट रूप से सरकार का विरोध करने पर तुली हुई थी। लीग के सेक्रेटरी द्वारा मुरादाबाद में दिये गये भाषण के कुछ अंश को उद्धृत करके उन्होंने लीग के उद्देश्यों पर पूर्ण रूप से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। भाषण का सार यह है कि लीग हिन्दू और मुसलमानों की सामाजिक एकता की विरोधी नहीं थी; उसका मुख्य प्रयत्न मुसलमानों के अस्तित्व को पृथक् बनाए रखना था, क्योंकि राजनीतिक एकता के लिये हिन्दू तथा मुसलमानों के उद्देश्यों का समान होना आवश्यक था और यह असंभव था। कांग्रेस भारत में ब्रिटिश सरकार के पैर उखाड़ना चाहती थी और लीग के उद्देश्यों की पूर्ति उसको सुदृढ़ बनाये रखने से ही हो सकती थी। कांग्रेसियों की प्रतिनिधि-शासन की माँग मुसलमानों के लिये अहितकर थी क्योंकि उनकी संख्या थोड़ी थी। कांग्रेस के सदस्य प्रशासन में कर्मचारियों की नियुक्ति के लिये प्रतियोगिता के इच्छुक थे परन्तु इसका अर्थ मुसलमानों को नौकरियों से वञ्चित कर देना था क्योंकि अपनी धार्मिक शिक्षण-प्रणाली के कारण वे प्रतियोगिताओं में भाग लेने के लिये योग्य नहीं थे। लीग का कार्यक्रम अपनी माँगों को सरकार के सम्मुख आदरभाव से प्रस्तुत करना था तो दूसरी ओर कांग्रेस की नीति उसकी सम्मति में बहिष्कार, उत्तेजक व्याख्यान, उद्दण्ड लेखों एवं विरोध-प्रदर्शन से परिपूर्ण थी।[1]

आरम्भ में मुस्लिम लीग के उद्देश्य इस प्रकार थे—(१) भारतीय मुसलमानों में अंग्रेजी सरकार के प्रति स्वामिभक्ति की भावना उत्पन्न करना तथा सरकार की किसी नीति पर मिथ्याज्ञान को दूर करना, (२) भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा करना और उनकी माँगों को आदर भाव से सरकार के सामने रखना और (३) उपर्युक्त दोनों उद्देश्यों की रक्षा करते हुए भारतीय मुसलमानों में अन्य जातियों के प्रति वैर भाव की बढ़ती को रोकना।[2]

लीग के प्रथम उद्देश्य-ब्रिटिश सरकार के प्रति स्वामिभक्ति-के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि गदर के पश्चात् से ही मुस्लिम नेता इस नीति का पालन

1. The Aligarh Institute Gazette . Aug. 14, 1907
2. The Aligarh Institute Gazette . Jan. 9 1907.

करते आ रहे थे। सैयद अहमदखाँ तथा उनके पश्चात्गामी नेता मेहदीअली नवाब मोहसिन-उल-मुल्क और मुश्ताक हुसैन नवाब विकार-उल मुल्क ने आजीवन मुसलमानों को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ-साथ चलने की शिक्षा दी। मुसलमान नेताओं की अंग्रेजी सरकार के प्रति आदर तथा स्तुति की भावना आगाखाँ द्वारा दक्षिण मुस्लिम लीग के अध्यक्ष को लिखे गये एक पत्र से प्रदर्शित होती है। इसका आशय यह है—'ब्रिटिश राज्य भारत के लिये अत्यन्त आवश्यक है। यही आन्तरिक अराजकता एव विदेशी आक्रमणों से मुसलमानों की रक्षा कर सकता है। इसी शासन के अन्तर्गत भारत दृढता-पूर्वक शान्ति एव सन्तोष के मार्ग पर बढते हुए नैतिक और मानसिक उन्नति कर सकेगा। हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपनी समस्त शक्तियों का उपयोग इस शासन को जनता की कल्पना एव विश्वास में दृढ करने का प्रयत्न करें।'[1]

लीग का दूसरा मुख्य उद्देश्य, मुसलमानों के अधिकारों की रक्षा करना था। यह उद्देश्य इस जाति की 'पृथकत्व' की नीति का ही एक भाग था। मुसलमानों को हिन्दू साथियों के साथ मिलकर कार्य करने में कोई लाभ नहीं दिखाई देता था। अपनी अनन्यता में गर्व करते हुए मुसलमानों का यह दृढ विश्वास रहा है कि उनकी परम्परा एव आदर्श इस्लाम की सामान्य सम्पत्ति हैं और वे अन्य किसी जाति परम्परा एव आदर्शों से संयुक्त नहीं हो सकती है। जाति के त्याग की अपेक्षा एक मुसलमानव्यक्ति किसी भी हानि को अधिक महत्त्व नहीं देता है।[2] परन्तु मुस्लिम लीग के इस उद्देश्य से हमें कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि मुसलमान जाति को भी अपने आदर्शों की रक्षा करने का उतना ही अधिकार है जितना इस देश की किसी अन्य जाति को प्राप्त है। लेकिन राष्ट्रीय समस्याओं को जातीय दृष्टिकोण से जाँचने की क्रिया उनकी देश-विरोधी भावना का स्पष्ट प्रमाण है।

लीग का तीसरा उद्देश्य दिखावटी था देश में मुसलमानों तथा अन्य जातियों के बीच वैर-भाव को रोकने की योजना ढोंग थी और सत्यता पर पर्दा डालने के लिये ही थी। परन्तु इस उद्देश्य के सम्मिलित कर लेने पर भी लीग की साम्प्रदायिकता छुप न सकी। लीग के कार्य-कलाप ने उसकी जातीय भेद-भावना की नीति को पूर्णत प्रदर्शित कर दिया। मुहम्मदन-

1. The Indian Review October, 1908
2 The Report of Calcutta University Commission (1917) Vol I,

ऐंग्लो-ऑरियण्टल कॉलेज को जातीय विश्वविद्यालय में परिणत करके लीग ने अपनी साम्प्रदायिकतावादी नीति का परिचय दे दिया।

लीग के प्रमुख महानुभाव .

लीग के सभी प्रमुख व्यक्ति सर सैयद अहमदखाँ की विचारधारा के समर्थक थे और उनमें किसी को भी उनकी नीति में कोई दोष प्रतीत नहीं होता था। सुल्तान मुहम्मद शाह (आगाखाँ) ने शैक्षिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में सैयद अहमद की नीति का पूर्णतया पालन किया। शिमला डेपूटेशन का नेतृत्व ग्रहण करने से पहिले ही उन्होंने देश में मुस्लिम वातावरण पैदा करने के लिये एक मुस्लिम विश्वविद्यालय की आवश्यकता पर जोर दिया।[1] सन् १९०४ से उन्होंने मुहम्मदन-ऐंग्लो ऑरियण्टल कॉलेज को २५०) रुपये प्रतिमास दान रूप में देना आरम्भ कर दिया और बाद में इस धन की मात्रा उन्होंने बढ़ाकर ५००) रुपये प्रतिमास करदी।[2] उनकी यह उदारता हैदराबाद के निजाम के समक्ष दूसरे नम्बर पर थी जो २०००) रुपये प्रतिमास की सहायता इस संस्था को प्रदान कर रहे थे। अरबी तथा फारसी के अगाध ज्ञान, पश्चिमी देशों के विस्तृत भ्रमण एवं अपनी विशाल आर्थिक क्षमता के कारण वे शीघ्र ही मुसलमान जनता में सर्वप्रिय हो गये। अपनी लोकप्रियता के कारण ही वे शिमला डेपूटेशन के नेता चुने गये और इस पद पर उन्होंने बड़ी योग्यता एवं दूरदर्शिता का प्रदर्शन किया। हम ऊपर लिख ही चुके हैं कि मुस्लिम लीग की स्थापना का प्रस्ताव उन्होंने किया था और इसकी स्थापना में उन्होंने स्मरणीय योग दिया। उनकी सेवाओं को मान्यता देने के लिये ही लीग के सदस्यों ने उनको इस संस्था के अध्यक्ष पद से सम्मानित किया और आजीवन इसी पद पर रहने का अधिकार दिया। परन्तु कुछ वर्षों बाद आगाखाँ ने इस पद से त्याग-पत्र दे दिया और वह कदाचित् इस भ्रम से कि लीग कांग्रेस की ओर मैत्री-भाव प्रदर्शित कर रही थी।[3] सन् १९१५ में लीग के बम्बई अधिवेशन में उनका त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया गया।

लीग के मुख्य प्रवर्त्तकों में मेहदीअली नवाब मोहसिन-उल-मुल्क तथा मुश्ताक हुसैन नवाब विकार-उल-मुल्क के नाम भी उल्लेखनीय हैं। वे दोनों राजनीतिक क्षेत्र में आने से पहिले हैदराबाद राज्य में उच्च पदाधिकारी थे

1. The Indian Review Jan. 1904
2. The Aligarh Institute Gazette May 9, 1904
3 Maulvi Tufail Ahmad · Musalmanon ka Roshan Mustaqbil.

तथा अपनी कुशाग्र बुद्धि, अगाध ज्ञान एवं प्रशासनिक योग्यता के लिये पहिले से ही प्रसिद्ध थे। परन्तु दोनों को राजनीतिक क्षेत्र में आने से पहिले त्याग-पत्र देना पड़ा। मेहदीअली ने सन् १८६३ में कुछ स्वार्थी मुसलमानों के षड्यन्त्रों के कारण त्याग-पत्र दिया और अलीगढ में आकर रहने लगे। यहाँ के निवासियों के बीच उनको बड़ा सम्मान मिला और हैदराबाद के निजाम द्वारा प्रदान की गई "मोहसिन-उल-मुल्क" की उपाधि (पद त्यागने के पश्चात् उत्तरी पश्चिमी प्रांत तथा अवध की सरकार द्वारा स्वीकृत न होने पर भी) द्वारा प्रसिद्धि उनके प्रति मुसलमान जनता की आदर-भावना की सूचक है। मुश्ताक हुसैन नवाब विकार-उल-मुल्क ने त्याग-पत्र सन् १८६१ मे निजाम का विश्वास कम हो जाने के कारण दिया।[1] अलीगढ में आने के बहुत पहिले ही ये दोनों नवाब सैयद अहमद खाँ की विचारधारा से प्रभावित हो चुके थे। सर सैयद से एक-दो बार मिलने के कारण उनके हृदयों पर उनकी अमिट छाप लग चुकी थी। वे दोनों कट्टर मुसलमान थे एव उर्दू के समर्थक होने के कारण हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्तर देने के विरोधी थे। वे दोनों ही सैयद अहमद खाँ के पश्चात् एक के बाद एक मुहम्मदन-एँग्लो ऑरियन्टल कॉलेज के सेक्रेट्री नियुक्त हुए। अपनी जाति के लिये की गई सेवाओं के कारण उनको लीग के सचिव-पद से सम्मानित किया गया। नवाब मोहसिन-उल-मुल्क के सम्बन्ध में आर्चबोल्ड ने लिखा है कि यद्यपि उनमें नवाब विकार-उल-मुल्क के समान दृढता नहीं थी तथापि वे एक अच्छे वक्ता थे और अपनी जाति के लिये उनमे अगाध प्रेम था।[2] कॉलेज के प्रबन्ध मे मतभेद होने के कारण आर्चबोल्ड ने प्रिन्सिपल के पद से त्याग-पत्र दिया था परन्तु फिर भी वे नवाब विकार-उल-मुल्क का आदर करते थे।[3] उनके चारित्रिक बल एव स्वजाति-प्रेम के प्राचुर्य की आर्चबोल्ड महोदय ने भी सराहना की है। जे० एच० टावले ने उनके सम्बन्ध में लिखा है कि वे एक अत्यन्त धार्मिक एव सच्चरित्र पुरुष थे। उन्हें जीवन की विभिन्न अवस्थाओं एव मनुष्यों का अनुभव था और अपने अनुभव के आधार पर ही वे बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को आसानी से सुलझा लेते थे। उनमें सहनशक्ति का अभाव तो था ही नहीं। वह ऐसी अवस्था में भी बहुत कार्य करते थे जब कि कोई मनुष्य

---

1 Viqar-i Hayat published by Muslim University Aligarh.
2. Manuscript Letter by Mr W A V Archbold dated 10th June 1925, preserved in the Conference Hall of Aligarh University
3 Manuscript Letter dated May 10, 1920, preserved in the Conference Hall of the Aligarh university

कार्य करने की इच्छा नहीं रखता [1]। इन दोनों नवाबों ने मुस्लिम लीग की स्थापना एवं उसको सुदृढ बनाने के लिये बड़ा परिश्रम किया। भारतीय प्रान्तों के अंग्रेज गवर्नरों से उन्होंने मित्रता के सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। अत ७ मार्च सन् १९१४ के पत्र में उत्तर-प्रदेश के लैफ्टीनेन्ट-गवर्नर ने नवाब मुशताक हुसैन को अपने स्वास्थ्य की ओर भी ध्यान देने के लिये आग्रह किया।[2] २० अक्टूबर सन् १९०७ को पंजाब के लैफ्टीनेन्ट-गवर्नर ने आर्चबोल्ड को लिखा कि नवाब मोहसिन-उल-मुल्क की मृत्यु से कॉलज को बड़ी हानि हुई है जिसके प्रबन्ध में उनका बड़ा हाथ रहा, साथ ही मुसलमान जाति को— जिसके हितों को वे प्राथमिकता देते थे—और सरकार को भी, जिसके लिये वे सदा स्वामि-भक्त रहे।[3]

लीग के प्रमुख व्यक्तियों में नवाब इमाद-उल-मुल्क सैयद हुसैन बिलग्रामी भी थे। उन्होंने लगभग ५० वर्षों तक मुसलमान जाति की बड़ी सेवा की। अरबी तथा फारसी के अच्छे ज्ञाता होने के कारण सन १९०६ में उनको लार्ड मिन्टो को दिये गये आवेदन-पत्र को लिखने का कार्य सौंपा गया। इस आवेदन-पत्र के भेंट किये जाने के पश्चात् से ही मुसलमानों के लिये एक नये युग का आरम्भ होता है। सर मुहम्मद शफी ने भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना पर बहुत जोर दिया और लोगों को इसकी आवश्यकता का अनुभव कराने के लिये उन्होंने 'ऑबजर्वर' नामक-पत्र में अनेकों लेख भी लिखे। सन् १९०७ में वह पंजाब की प्रान्तीय लीग के जनरल सेक्रेट्री नियुक्त किये गये। तदनन्तर उन्हें अखिल-भारतीय मुस्लिम लीग के सभापति के पद से भी सम्मानित किया गया। उनके सतत् प्रयत्न एव आश्चर्यजनक प्रशासनिक योग्यता के कारण पंजाब के समस्त जिलों में मुस्लिम लीग की शाखाएँ स्थापित हो गई थीं।

तात्कालिक नेताओं में जस्टिस मुहम्मद शाह दीन का महत्त्व भी कम नहीं है। उन्होंने अलीगढ आन्दोलन को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। सन् १९१४ में वे मुहम्मदन एज्यूकेशनल कान्फ्रेन्स के सभापति चुने गये। उन्होंने मुसलमानों को यह समझाने का भरपूर प्रयत्न किया कि उनकी हीनावस्था वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की उपेक्षा करने के कारण ही थी।[4] हिन्दुओं के विरुद्ध

1. Manuscript Letter written by J. H. Towle from Lahore preserved in the Conference Hall of the Muslim University
2. Letter is preserved in the Conference Hall of Aligarh University.
3. Ibid.
4. Khutba-i-Aalia edited by Maulvi Anwar Ahmed Saheb.

उन्होंने मुसलमानों में जागृति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। सन् १८८६ में उन्होंने लन्दन में अंजुमनए इस्लामिया की स्थापना की। उत्तरी भारत की एँग्लो-मुहम्मदन रक्षा-सभा के वे मुख्य कार्यकर्त्ताओं में से रहे। सन् १६०६ में लार्ड मिन्टो से मिलने वाले डेपूटेशन में भी वे प्रमुख सदस्यों में थे। सन् १६०८ में उन्होंने मुस्लिम लीग के सभापति का पद ग्रहण किया और इसी सभा में लीग का विधान सर्व-स्वीकृत हुआ। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि वे व्यक्तिगत स्वार्थों से मुक्त नहीं थे और उन्होंने लीग को अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिये प्रयोग करने का प्रयत्न भी किया। नवम्बर ३ सन् १६०६ के एक पत्र में उन्होंने नवाब मोहसिन-उल-मुल्क से चीफ कोर्ट के जज के पद के लिये सरकार से सिफारिश करने की प्रार्थना की।[1] नवाब सलीम उल्लाह की सेवाओं का वर्णन हम ऊपर कर ही चुके है। अपने सम-सामयिकों के समान वे भी अपनी जाति के कट्टर पक्षपाती थे तथा हिन्दुओं की प्रगति से ईर्ष्या करते थे। उन्होंने एक स्थान पर कहा "इसमें तो शक नहीं है कि पूर्वी बगाल के मुसलमान उच्च विचार, उच्च आकांक्षाओं तथा योग्यता में भारत की अन्य जातियों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छे है, परन्तु दुर्भाग्यवश लगभग ५० वर्षों से वे दरिद्रता, अकर्मण्यता एव आलस्य के कारण बहुत गिर गये हैं और अन्य जातियों ने उनकी अकर्मण्यता का लाभ उठाकर उनको प्रगति के मार्ग में पीछे छोड़ रक्खा है।'[2] जस्टिस अमीर अली में भी जातीय जोश कम नहीं था। उन्होंने मुसलमानों के पृथक् अस्तित्व की स्थापना के लिये बड़ा जोर दिया। अपने पद से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् वे स्थायी रूप से इङ्गलैंड में रहने लगे। वे सैयद अहमद की नीति के कट्टर समर्थक थे तथा कांग्रेस का विरोध उन्होंने भी खूब किया। मुस्लिम लीग की लन्दन शाखा की स्थापना में उन्होंने जो भाग लिया उसका वर्णन ऊपर हो ही चुका है। इस शाखा के अध्यक्ष पद पर नियुक्त हो जाने पर उन्होंने लार्ड मार्ले तथा इण्डिया काउन्सिल के सदस्यों को मुसलमानों के हित के लिये पर्याप्त रूप से प्रभावित किया। सन् १६०६ के भारतीय सरकार के अधिनियम में मुसलमानों को दी गई सुविधाएँ मुख्यत. इन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम थीं।

उपर्युक्त प्रमुख मुसलमान महानुभावों के कार्य-कलाप का निरीक्षण करने पर यह निःसकोच कहा जा सकता है कि अपनी जाति का "पृथकत्व" का प्रधान गुण उन सभी में विद्यमान था। इनके विचार परस्पर मिलते-जुलते हुए

1. The Letter is preserved in the Conference Hall of Aligarh University and written in Urdu from Lahore.
2. The Aligarh Institute Gazette Feb 27, 1907

थे और वे सभी अपनी जाति के हितों के लिये बड़ा से बड़ा त्याग करने के लिये तत्पर रहते थे। सन् १९०३ में उत्तरी भारत के प्रमुख मुसलमान पत्र ने इन नेताओं की सराहना करते हुए लिखा था—"यह हर्ष का विषय है कि मुसलमान लोगों का ध्यान अब व्यावहारिक कार्यों की ओर आकर्षित हो गया है।[1] ये सभी नेता एक निर्धारित नीति का पालन करने वाले थे और देश तथा राष्ट्र-विरोधी योजनाओं में भाग लेने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता था।

---

1. The Aligarh Institute Gazette. July 4, 1903.

उन्होंने मुसलमानों में जागृति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। सन् १८८६ में उन्होंने लन्दन में अंजुमनए इस्लामिया की स्थापना की। उत्तरी भारत की एँग्लो-मुहम्मदन रक्षा-सभा के वे मुख्य कार्यकर्त्ताओं में से रहे। सन् १६०६ में लार्ड मिन्टो से मिलने वाले डेपूटेशन में भी वे प्रमुख सदस्यों में थे। सन् १६०८ में उन्होंने मुस्लिम लीग के सभापति का पद ग्रहण किया और इसी सभा में लीग का विधान सर्व-स्वीकृत हुआ। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि वे व्यक्तिगत स्वार्थों से मुक्त नहीं थे और उन्होंने लीग को अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिये प्रयोग करने का प्रयत्न भी किया। नवम्बर ३ सन् १६०६ के एक पत्र में उन्होंने नवाब मोहसिन-उल-मुल्क से चीफ कोर्ट के जज के पद के लिये सरकार से सिफारिश करने की प्रार्थना की।[1] नवाब सलीम उल्लाह की सेवाओं का वर्णन हम ऊपर कर ही चुके हैं। अपने सम-सामयिकों के समान वे भी अपनी जाति के कट्टर पक्षपाती थे तथा हिन्दुओं की प्रगति से ईर्ष्या करते थे। उन्होंने एक स्थान पर कहा "इसमें तो शक नहीं है कि पूर्वी बंगाल के मुसलमान उच्च विचार, उच्च आकाक्षाओं तथा योग्यता में भारत की अन्य जातियों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छे हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश लगभग ५० वर्षों से वे दरिद्रता, अकर्मण्यता एव आलस्य के कारण बहुत गिर गये हैं और अन्य जातियों ने उनकी अकर्मण्यता का लाभ उठाकर उनको प्रगति के मार्ग में पीछे छोड़ रक्खा है।"[2] जस्टिस अमीर अली में भी जातीय जोश कम नहीं था। उन्होंने मुसलमानों के पृथक् अस्तित्व की स्थापना के लिये बड़ा जोर दिया। अपने पद से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् वे स्थायी रूप से इङ्गलैंड में रहने लगे। वे सैयद अहमद की नीति के कट्टर समर्थक थे तथा कांग्रेस का विरोध उन्होंने भी खूब किया। मुस्लिम लीग की लन्दन शाखा की स्थापना में उन्होंने जो भाग लिया उसका वर्णन ऊपर हो ही चुका है। इस शाखा के अध्यक्ष पद पर नियुक्त हो जाने पर उन्होंने लार्ड मार्ले तथा इण्डिया काउन्सिल के सदस्यों को मुसलमानों के हित के लिये पर्याप्त रूप से प्रभावित किया। सन् १६०६ के भारतीय सरकार के अधिनियम में मुसलमानों को दी गई सुविधाएँ मुख्यत. इन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम थीं।

उपर्युक्त प्रमुख मुसलमान महानुभावों के कार्य-कलाप का निरीक्षण करने पर यह निःसकोच कहा जा सकता है कि अपनी जाति का "पृथकत्व" का प्रधान गुण उन सभी में विद्यमान था। इनके विचार परस्पर मिलते-जुलते हुए

---

1 The Letter is preserved in the Conference Hall of Aligarh University and written in Urdu from Lahore.
2 The Aligarh Institute Gazette Feb 27, 1907

थे और वे सभी अपनी जाति के हितों के लिये बड़ा से बड़ा त्याग करने के लिये तत्पर रहते थे। सन् १६०३ में उत्तरी भारत के प्रमुख मुसलमान पत्र ने इन नेताओं की सराहना करते हुए लिखा था—"यह हर्ष का विषय है कि मुसलमान लोगों का ध्यान अब व्यावहारिक कार्यों की ओर आकर्षित हो गया है।[1] ये सभी नेता एक निर्धारित नीति का पालन करने वाले थे और देश तथा राष्ट्र-विरोधी योजनाओं में भाग लेने में उन्हें तनिक भी सकोच नहीं होता था।

---

1. The Aligarh Institute Gazette : July 4, 1903.

उन्होंने मुसलमानों में जागृति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। सन् १८८६ में उन्होंने लन्दन में अंजुमनए इस्लामिया की स्थापना की। उत्तरी भारत की ऐंग्लो-मुहम्मदन रक्षा-सभा के वे मुख्य कार्यकर्ताओं में से रहे। सन् १९०६ में लार्ड मिन्टो से मिलने वाले डेपूटेशन में भी वे प्रमुख सदस्यों में थे। सन् १९०८ में उन्होंने मुस्लिम लीग के सभापति का पद ग्रहण किया और इसी सभा में लीग का विधान सर्व-स्वीकृत हुआ। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि वे व्यक्तिगत स्वार्थों से मुक्त नहीं थे और उन्होंने लीग को अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिये प्रयोग करने का प्रयत्न भी किया। नवम्बर ३ सन् १९०६ के एक पत्र में उन्होंने नवाब मोहसिन-उल-मुल्क से चीफ कोर्ट के जज के पद के लिये सरकार से सिफारिश करने की प्रार्थना की।[1] नवाब सलीम उल्लाह की सेवाओं का वर्णन हम ऊपर कर ही चुके हैं। अपने सम-सामयिकों के समान वे भी अपनी जाति के कट्टर पक्षपाती थे तथा हिन्दुओं की प्रगति से ईर्ष्या करते थे। उन्होंने एक स्थान पर कहा "इसमें तो शक नहीं है कि पूर्वी बगाल के मुसलमान उच्च विचार, उच्च आकांक्षाओं तथा योग्यता मे भारत की अन्य जातियों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छे हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश लगभग ५० वर्षों से वे दरिद्रता, अकर्मण्यता एव आलस्य के कारण बहुत गिर गये हैं और अन्य जातियों ने उनकी अकर्मण्यता का लाभ उठाकर उनको प्रगति के मार्ग में पीछे छोड़ रक्खा है।'[2] जस्टिस अमीर अली में भी जातीय जोश कम नहीं था। उन्होंने मुसलमानों के पृथक् अस्तित्व की स्थापना के लिये बड़ा जोर दिया। अपने पद से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् वे स्थायी रूप से इङ्गलैंड में रहने लगे। वे सैयद अहमद की नीति के कट्टर समर्थक थे तथा कांग्रेस का विरोध उन्होंने भी खूब किया। मुस्लिम लीग की लन्दन शाखा की स्थापना में उन्होंने जो भाग लिया उसका वर्णन ऊपर हो ही चुका है। इस शाखा के अध्यक्ष पद पर नियुक्त हो जाने पर उन्होंने लार्ड मार्ले तथा इण्डिया काउन्सिल के सदस्यों को मुसलमानों के हित के लिये पर्याप्त रूप से प्रभावित किया। सन् १९०९ के भारतीय सरकार के अधिनियम में मुसलमानों को दी गई सुविधाएँ मुख्यत. इन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम थीं।

उपर्युक्त प्रमुख मुसलमान महानुभावों के कार्य-कलाप का निरीक्षण करने पर यह निःसकोच कहा जा सकता है कि अपनी जाति का "पृथकत्व" का प्रधान गुण उन सभी में विद्यमान था। इनके विचार परस्पर मिलते-जुलते हुए

1. The Letter is preserved in the Conference Hall of Aligarh University and written in Urdu from Lahore.
2. The Aligarh Institute Gazette, Feb 27 1907

यह थी कि योरुप की सगठित एव शक्तिशाली सेनाओं को पराजित कर स्वतन्त्रता प्राप्त करना असभव है और एशिया तथा अफ्रीका आदि पिछड़े हुए देश योरुप से मुकाविला नहीं कर सकते हैं। परन्तु अफ्रीका की इटली पर एवं जापान की रूस पर विजय ने उनकी हेयता एव नैराश्य की भावना का अन्त कर दिया। वे अब यह अनुभव करने लगे कि यदि उपर्युक्त छोटे-छोटे राष्ट्र शक्तिशाली राष्ट्रों से लड़कर स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं तो भारतवासी भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के संघर्ष में सफल हो सकते हैं। यद्यपि मिश्र, टर्की, आदि देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन अधिक सफल नहीं हो रहे थे तथापि भारतवासियों को आलस्य से जगाने में उन्होंने पर्याप्त योग दिया। वे भी अब अन्य देश के वीरों एवं स्वतन्त्रता के नायकों के जीवन-चरित्र का अध्ययन कर उनकी लग्न तथा उनके प्रयत्नों से शिक्षा लेने लगे। इसके अतिरिक्त इटली के सयुक्तीकरण के नेता मैजिनी, गैरीवाल्डी तथा कैवूर के लेखों एवं जीवन-वृत्तान्तों का विस्तृत रूप से अध्ययन किया जाने लगा। फलस्वरूप, भारतवासियों में भी एक नये जीवन एव साहस का सचार हुआ।

(आ) इस सम्बन्ध मे दक्षिणी अफ्रीका में प्रवसित भारतियों के प्रति अंग्रेजों का दुर्व्यवहार भी उल्लेखनीय है। ट्रासवाल और नैटाल राज्यों में अंग्रेजी जाति के अत्याचारों ने भारतवासियों में रोष की भावना जाग्रत करने के लिये आहुति का काम किया।[1] व्यापार की सुविधाओं के लिये तथा प्रतिज्ञा-पत्र-व्यवस्था (Indenture System) द्वारा धन कमाने के लिये कुछ भारतीय अफ्रीका में जा वसे थे और उन्होंने अपनी बुद्धिवल एवं मितव्ययिता से काफी धन इकट्ठा कर लिया था। परन्तु नैटाल राज्य की सरकार उनके जीवन-स्तर के ठीक होने में अनेकों बाधाएँ उपस्थित करती थी। सन् १८६४ में वहाँ के निवासियों को मताधिकार से वंचित कर दिया गया। सन् १८६७ में उन पर एक निर्वाचन कर (Poll Tax) लगा दिया गया। ट्रासवाल की सरकार ने भारतियों को नगर के बाहर रहने का आदेश दिया। कुछ मोहल्लों में वे फुटपाथ पर भी नहीं चल सकते थे और रेल के प्रथम तथा द्वितीय दर्जे के डिब्बों में यात्रा करने की उन्हें आज्ञा नहीं थी। जैसे यह सब अधिक नहीं था, सन् १६०७ में ट्रासवाल की सरकार ने "एशियाटिक रजिस्ट्रेशन ऐक्ट" पास किया। इसके अनुसार भारतियों को हस्त-चिह्न रजिस्टर कराना आवश्यक था। इस प्रकार के अत्याचार भारतीय

1. Valentine Chirol Indian Unrest

अध्याय ४

धार्मिक राष्ट्रीयता, उग्रवादी विचार धारा और सूरत का विच्छेद

भारत के इतिहास में सन् १८९२ से लेकर सन् १९०९ तक का युग दो बड़ी घटनाओं—धार्मिक राष्ट्रीयता का विकास और मार्ले-मिण्टो सुधार—के लिये महत्वपूर्ण है। धार्मिक राष्ट्रीयता का आशय एक ऐसे आन्दोलन से है जिसके द्वारा भारत में धार्मिक एव राजनैतिक उन्नति करने का प्रयत्न किया गया। इस आन्दोलन के प्रवर्त्तकों[1] के लिये धर्म और राजनीति में कोई भेद नहीं था प्रत्युत उनका विश्वास था कि धार्मिक नवजागरण से ही देश की राजनीतिक दशा में सुधार हो सकता है। देशभक्ति एव धार्मिक धारणाओं का सम्मिश्रण कर उन्होंने इस युग की राजनीति को एक नया रूप दिया। राजनीतिक क्षेत्र मे नई विचारधारा को जन्म देने वाला यह आन्दोलन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके विकास में योग देने वाली परिस्थितियों का निम्न प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ.

(अ) धार्मिक राष्ट्रीयता की भावना के विकास में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में घटित कुछ अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने बड़ा योग दिया। उनके द्वारा भारतीय जनता की निराशा की भावना दूर हुई और उनके विचारों को विस्तार मिला। सन् १८९६ में अबीसीनिया के हब्शियों ने इटली जैसे शक्तिशाली एव साधन-सम्पन्न राष्ट्र की सेना को हराया। सन् १९०५ में जापान की छोटे कद वाले मनुष्यों की सेना ने रूस जैसी शक्ति को पराजित कर दिया। मिस्र, टर्की, फारस, रूस आदि देशों में शासित जनता निरकुश शासकों के विरुद्ध सघर्ष कर रही थी। यह सब देखकर भारतीयों में भी स्वातन्त्र्य-सघर्षों के लिये उत्साह उत्पन्न हो गया। १९वीं शताब्दी के अन्त तक उनकी धारणा

---

[1] Bal Gangadhar Tilak, Bipin Chandra Paul, Arvindo Ghosh, Lala Lajpat Rai etc

यह थी कि योरुप की सगठित एव शक्तिशाली सेनाओं को पराजित कर स्वतन्त्रता प्राप्त करना असभव है और एशिया तथा अफ्रीका आदि पिछड़े हुए देश योरुप से मुकाबिला नहीं कर सकते हैं। परन्तु अफ्रीका की इटली पर एव जापान की रूस पर विजय ने उनकी हेयता एव नैराश्य की भावना का अन्त कर दिया। वे अब यह अनुभव करने लगे कि यदि उपर्युक्त छोटे-छोटे राष्ट्र शक्तिशाली राष्ट्रों से लड़कर स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं तो भारतवासी भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के सघर्ष में सफल हो सकते हैं। यद्यपि मिश्र, टर्की, आदि देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन अधिक सफल नहीं हो रहे थे तथापि भारतवासियों को आलस्य से जगाने में उन्होंने पर्याप्त योग दिया। वे भी अब अन्य देश के वीरों एवं स्वतन्त्रता के नायकों के जीवन-चरित्र का अध्ययन कर उनकी लग्न तथा उनके प्रयत्नों से शिक्षा लेने लगे। इसके अतिरिक्त इटली के सयुक्तीकरण के नेता मैजिनी, गैरीबाल्डी तथा कैवूर के लेखों एव जीवन-वृत्तान्तों का विस्तृत रूप से अध्ययन किया जाने लगा। फलस्वरूप, भारतवासियों में भी एक नये जीवन एव साहस का सचार हुआ।

(आ) इस सम्बन्ध मे दक्षिणी अफ्रीका में प्रवसित भारतियों के प्रति अग्रेजों का दुर्व्यवहार भी उल्लेखनीय है। ट्रासवाल और नेटाल राज्यों में अग्रेजी जाति के अत्याचारों ने भारतवासियों में रोष की भावना जाग्रत करने के लिये आहुति का काम किया।[1] व्यापार की सुविधाओं के लिये तथा प्रतिज्ञा-पत्र-व्यवस्था (Indenture System) द्वारा धन कमाने के लिये कुछ भारतीय अफ्रीका में जा बसे थे और उन्होंने अपनी बुद्धिबल एव मितव्ययिता से काफी धन इकट्ठा कर लिया था। परन्तु नैटाल राज्य की सरकार उनके जीवन-स्तर के ठीक होने में अनेकों बाधाएँ उपस्थित करती थी। सन् १८६४ में वहाँ के निवासियों को मताधिकार से वचित कर दिया गया। सन् १८६७ में उन पर एक निर्वाचन कर (Poll Tax) लगा दिया गया। ट्रासवाल की सरकार ने भारतियों को नगर के बाहर रहने का आदेश दिया। कुछ मोहल्लों में वे फुटपाथ पर भी नहीं चल सकते थे और रेल के प्रथम तथा द्वितीय दर्जे के डिब्बों में यात्रा करने की उन्हें आज्ञा नहीं थी। जैसे यह सब अधिक नहीं था, सन् १६०७ में ट्रासवाल की सरकार ने "एशियाटिक रजिस्ट्रेशन ऐक्ट" पास किया। इसके अनुसार भारतियों को हस्त-चिह्न रजिस्टर कराना आवश्यक था। इस प्रकार के अत्याचार भारतीय

1 Valentine Chirol Indian Unrest

लोग सहन न कर सके और उन्होंने महात्मा गाँधी के नेतृत्व में सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ किया। इस आन्दोलन की घटनाएँ भारतीय समाचार पत्रों में प्रकाशित की जाती थीं जिससे जनता में और भी असन्तोष उत्पन्न होता था। भारतवासी इस भुलावे में तो आ ही नहीं सकते थे कि अंग्रेज जो उन पर बुरी तरह छाये हुये थे दक्षिणी अफ्रीका में अत्याचारों को रोकने में असमर्थ थे। इन दुर्व्यवहारों का सारा दोष अंग्रेजी सरकार के सिर मढ़ा गया। इस देश के निवासियों को यह विश्वास हो गया कि जब तक उनका अपने ही देश में सम्मान नहीं होगा, विदेशों में उनकी यही दशा रहेगी।

अंग्रेजों की जाति-विभेद की नीति :

जैसाकि हम ऊपर कह चुके हैं, सन् १८५७ के पश्चात् अंग्रेजों का बर्ताव भारतियों से पहिले की अपेक्षा बहुत खराब हो गया था। जातीयता के आधार पर वे इस देश पर नाना प्रकार के जुल्म करने लगे थे और देश के समस्त ऐंग्लो-इण्डियन पत्र उनके दुर्व्यवहारों को ढाँकने या उसका समर्थन करने का प्रयत्न करते थे। अंग्रेजी सैनिकों को उनके जघन्य अपराधों के लिये उचित दण्ड नहीं दिया जाता था। अनेकों बार वे भारतीय स्त्रियों का अपमान करने पर भी अदण्डित छोड़ दिये गये थे। एक बार जब रंगून में ब्रिटिश बटालियन के बहुत से सिपाहियों ने एक भारतीय महिला को बलात्कार से मार डाला तो अपराधियों को तो दण्ड देना दूर रहा, स्थानीय सैनिक अधिकारियों ने उस मामले को दबाने का प्रयत्न किया और जब अन्त में बलात्कारियों पर मुक़दमा चलाया गया तो वह कानूनी व्यवहार की त्रुटि (Technical Defect) के आधार पर खारिज कर दिया गया।[1] यह सत्य है कि लार्ड कर्जन ने अपराधियों को वैभागिक-दण्ड दिलवा दिया परन्तु इस प्रकार के घोर अपराध के लिये वह उपयुक्त नहीं था। जब कि अंग्रेजी समाचार-पत्र खुले आम भारतियों को गालियाँ लिखते थे भारतीय पत्रकारों की कलम में जरा सी तेजी आ जाने पर उनको कारावास की शरण प्रदान की जाती थी। लार्ड कर्जन स्वयं भी भारतियों के प्रति बड़े दूषित विचार रखते थे। उनका कहना था कि शिक्षा, अनुभव एवं पैतृक गुणों के कारण अंग्रेज लोग शासन करने के लिये अधिक योग्य थे। सन् १९०५ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के कन्वोकेशन में भाषण देते हुए उन्होंने कहा कि सचाई का उपयोग पाश्चात्य देशों में पूर्व की अपेक्षा पहिले हुआ। पूर्व में सदा मक्कारी और चालाकी की प्रधानता रही। इस प्रकार के

1 Lord Ronaldshay. The Life of Lord Curzon Vol. II.

वर्ताव से देश में रोष की भावना उत्पन्न हुई और भारतवासी अपने आत्म-सम्मान के प्रति जागरूक हो गये।' देश के अनेकों समाचार-पत्रों में लार्ड कर्जन के तुच्छ विचारों की निन्दाएँ की गईं।[1]

आर्थिक असन्तोष

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में देश की अधिकाश जनता दरिद्रता ग्रस्त थी और अधिकतर उद्योग नष्ट हो गये थे। बेकारी, निर्धनता और दरिद्रता से जनता व्याकुल हो उठी थी। सरकार की भारतियों को बड़े पदों पर नियुक्त न करने की नीति ने भी जनता में बड़ा असन्तोष पैदा कर दिया था। करेन्सी एव विनिमय की नीति में लौम्बार्ड स्ट्रीट एव मैनचेस्टर के लिये भारत के हित की उपेक्षा की जाती थी। सन १८९८ में फाउलर कमेटी ने भारत को जब स्वर्ण मुद्रामान देश घोषित करने की शिफारिश की तो सरकार ने उसे भी ठुकरा दिया। इसके अतिरिक्त अग्रेजों की भू-राजस्व (Land Revenue) तथा मालगुजारी की नीति भी देश के लिए अत्यन्त अहितकर थी। किसानों के लिये कर का बोझ असहनीय था और जनता को विश्वास था कि किसानों की ऋणग्रस्तता अग्रेजों की दूषित भू-राजस्व नीति के कारण थी। वास्तव में अग्रेजों की आर्थिक नीति भारत के लिये बड़ी हानिप्रद थी। आर्थिक शोषण के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई देश की दरिद्रता एव असतोष धार्मिक राष्ट्रीयता को जाग्रत करने और बढाने में बहुत सहायक सिद्ध हुए।

प्राकृतिक दुर्घटनाएँ :

इसी समय में प्रकृति के कोप ने भारतीय जनता के असन्तोष को बढाने के लिये आग में आहुति का काम किया। सन् १८९६-९७ मे देश मे एक भयकर अकाल पड़ा। जिसके फलस्वरूप लगभग दो करोड़ व्यक्तियों की जानें चली गईं। पीड़ितों की सहायतार्थ सरकार के प्रयत्न अपर्याप्त थे। बाल गगाधर तिलक ने कुछ स्वय सेवकों को सगठित कर दुर्भिक्ष से पीडित लोगों की सहायता का कार्य किया। उन्होंने बम्बई प्रेसीडेन्सी के किसानों को 'अकाल सहायता नियमावली' की धाराओं का ज्ञान कराया एव इस प्रकार उनकी आर्थिक-शोषण के विरुद्ध सहायता की। यद्यपि सरकार ने इस संकटावस्था मे लगान माफ कर दिया था, स्थानीय अधिकारी अपनी योग्यता का प्रदर्शन करने के लिये किसानों से कर वसूल कर ही लेते थे। तिलक ने लोगों को बतलाया कि

1. Modern Review, Indian Review etc

मालगुजारी देने के लिये कर्ज लेने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सरकार की तात्कालिक इच्छा इस प्रकार की नहीं थी।

दुर्भिक्ष के साथ-साथ गिल्टियों वाला प्लेग भी देश में बड़े जोरों से फैला और इसने बम्बई प्रेसीडन्सी की जनता को जर्जर बना दिया। इस महामारी को रोकने के लिये प्रयोग किये गये उपायों ने जनता में असन्तोष को और भी बढ़ा दिया। सरकार रोगियों को उनके घर से निकालकर अस्पतालों में पहुँचा देती थी। परन्तु इससे जनता में सन्तोष के स्थान पर क्षोभ उत्पन्न होता था क्योंकि लोग यह नहीं चाहते थे कि मृत्यु के समय पिता पुत्र से, पुत्र पिता से तथा अन्य सम्बन्धियों से अलग हो। पूना के प्लेग-कमिश्नर रैण्ड (Rand) इस महामारी के निवारण के लिये उपर्युक्त प्रयत्न कर रहे थे और लोगों को उनसे इतनी घृणा हो गई कि बम्बई प्रेसीडेन्सी में बलवे शुरू हो गये और एक जोशीले नवयुवक ने उनको तथा ब्रिटिश रैजीमैण्ट के लेफ्टीनैण्ट आर्यस्ट (Ayerst) को गोली से उड़ा दिया। इस प्रकार की घटनाओं एवं दुःख के कारण जनता में अँग्रेजी सरकार के प्रति विरोध की भावना बढ़ना स्वाभाविक था विशेषकर जबकि वह राष्ट्र के आपत्तिकाल में भी राष्ट्र-विरोधी अर्थ-नीति का पालन कर रही थी।

लार्ड कर्जन की नीति :

धार्मिक राष्ट्रीयता के विकास में सबसे अधिक योग लार्ड कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीति ने दिया। उनको शासन में परिवर्तन एवं सुधार करने की विशेष रुचि थी और उनके समय से शायद ही कोई ऐसा राज-विभाग होगा जो लार्ड कर्जन की सुधार की योजना से बच गया हो।[1] उदाहरणार्थ, सन् १८६१ में 'एज आफ कन्सैण्ट एक्ट', सन् १८६८ में 'कलकत्ता कारपोरेशन एक्ट', सन् १६०४ में 'इण्डियन यूनीवर्सिटीज एक्ट' और 'इण्डियन औफिसियल सीक्रेट्स एक्ट' तथा सन् १६०५ का बंगाल-विभाजन आदि सब उनकी सुधार की नीति के परिणाम थे। इन सब नियमों ने जनता को अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध भड़काने का ही कार्य किया। यद्यपि इनमें से सन् १८६१ का 'एज आफ कन्सैन्ट एक्ट' भारतियों के लिए हितकर था क्योंकि इसके द्वारा विवाह के लिये कम से कम आयु १० वर्ष से बढ़ाकर १२ वर्ष करदी गई थी परन्तु उस समय इस नियम का उतना ही विरोध हुआ जितना कि कुछ वर्षों बाद 'शारदा एक्ट' का। सन् १८६८ एवं

1. Earl of Ronaldshay Life of Lord Curzon, Vol II

सन् १९०४ के उपर्युक्त एक्टों द्वारा लार्ड कर्जन ने कलकत्ता के कारपोरेशन एवं भारतीय विश्वविद्यालयों की स्वतन्त्रता को कम कर दिया। 'इण्डियन औफीसियल सीकरेट्स एक्ट' के अनुसार अब जनता में फौजी भेदों के अतिरिक्त गैर-फौजी भेदों को व्यक्त करना भी निषेध कर दिया गया। बंगाल के विभाजन ने तो समस्त देश में आन्दोलन की एक लहर फैला दी। वास्तव में गदर के बाद किसी भी घटना ने राष्ट्रीय जागृति में इतना योग नहीं दिया जितना कि विभाजन ने दिया। लार्ड कर्जन की जाति-विभेद की नीति का वर्णन हम ऊपर कर ही चुके हैं। उनके कार्य-कलाप ने भारतीय लोकमत को भड़काया एवं धार्मिक राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन दिया।

धार्मिक आन्दोलन :

वास्तव में धार्मिक राष्ट्रीयता का उदय धार्मिक पुनर्जन्म की भावना के कारण हुआ। स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और एनीबीसेन्ट आदि ने धार्मिक जागरण करके भारतीयों को जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण दिया। इनके अतिरिक्त बालगंगाधर तिलक, भंडारकर, रवीन्द्रनाथ आदि ने भी राष्ट्र को जाग्रत करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। तिलक ने महाराष्ट्र में, अरविन्द घोष एवं विपिनचन्द्र पाल ने बंगाल में धार्मिक मनोवृत्ति उत्पन्न की और धार्मिक संगठन द्वारा राष्ट्रीयता को जन्म देने का प्रयत्न किया। अरविन्द घोष का पालन-पोषण बचपन से ही इंगलैंड में हुआ था और भारत में आने पर वे बरोदा कॉलिज के वाइस प्रिन्सीपल के पद पर नियुक्त होगए थे परन्तु उन्होंने अपना जीवन राष्ट्रीय उत्थान के लिये समर्पित कर दिया। वे राष्ट्रीयता और धर्म में कोई अन्तर नहीं मानते थे, बल्कि धार्मिक उत्थान के लिये राष्ट्रीय उत्थान को परमावश्यक समझते थे। उपर्युक्त महानुभावों के विचारों का देश की राजनीतिक विचारधारा पर बड़ा प्रभाव पड़ा और धार्मिक राष्ट्रीयता का उदय इन लोगों की धार्मिक कार्यवाहियों का परिणाम था।

कांग्रेस की कार्य-पद्धति :

धार्मिक राष्ट्रीयता की प्रगति पर कांग्रेस की कार्य-पद्धति का भी विशेष प्रभाव पड़ा। जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, प्रारम्भ में कांग्रेस का कार्य करने का ढंग वैधानिक था। शांतिमय अधिवेशनों में प्रस्ताव पास करना और माँगों की पूर्ति के लिए प्रार्थी होना—यही उसकी कार्यपद्धति थी। किन्तु इस ढंग से न तो माँगें ही विशेष रूप से पूरी होती थीं और न यह सर्वमान्य ही था। कांग्रेस की यह नीति अँग्रेजों में अटल विश्वास पर

आधारित थी किन्तु अब कांग्रेस में ऐसे व्यक्तियों का समावेश हो गया था जिनके विचार बहुत प्रगतिशील थे और वे इस संस्था के वैधानिक ढंग को बदल देना चाहते थे। वे अँग्रेजी माल के बहिष्कार एवं स्वदेशी के प्रचार के पक्ष में थे और राजनीतिक भिक्षा के स्थान पर आत्म-निर्भरता को अधिक प्रभावोत्पादक ढंग समझते थे। इस प्रकार की नवीन विचारधारा रखने वाले युवक धार्मिक पुनर्जागरण की इच्छा भी रखते थे और कांग्रेस की असफल कार्य-पद्धति के प्रति असंतोष के कारण उन्होंने धार्मिक राष्ट्रीयता का अधिक उत्साह से प्रतिपादन किया।

उग्रवादी विचारधारा और सूरत का विच्छेद

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में भारत में दो नवीन विचार-धाराओं—उग्रवादी एवं आतंकवादी—का प्रादुर्भाव हुआ। इन दोनों के उद्देश्य समान थे परन्तु कार्य-प्रणाली में अन्तर था। दोनों विचारधाराओं के समर्थक अत्यधिक देश-प्रेम एवं विदेशी सरकार के प्रति घृणा से युक्त थे। उग्रवादी वैधानिक आंदोलन, अहिंसात्मक विरोध, विदेशी माल के बहिष्कार एवं स्वदेशी के प्रचार से देश के लिये स्वराज्य-प्राप्ति संभव समझते थे जबकि आतंकवादी बम फेंकने, हत्या करने, गोली मारने आदि क्रान्तिकारी नीति को ही इसके एकमात्र साधन होने में विश्वास करते थे। अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रभाव, अंग्रेजों की जातीय-विभेद की नीति, आर्थिक-शोषण, प्रकृति का कोप एवं सरकार की उपेक्षा के अतिरिक्त उपर्युक्त वादों को जन्म देने वाले कारण निम्नलिखित भी हैं—

(१) सन् १८६२ से लेकर सन् १६०७ तक अँग्रेजी सरकार की भारतियों के प्रति नीति बड़ी दूषित थी। इस बीच में इङ्गलैंड के टोरी शासन-वर्ग ने भारत में ऐसे कानून लागू किये जिनमें भारतीय जनमत का स्पष्ट रूप से अपमान किया गया। अँग्रेजों द्वारा मुसलमानों को भड़काने की नीति से भी हिन्दुओं के शिक्षित वर्ग को बड़ा क्षोभ हुआ। मुसलमानों के नेता सर सैयद अहमद खाँ दिल खोलकर साम्प्रदायिक संस्थाओं की स्थापना कर रहे थे। इससे हिन्दुओं में सरकार के विरुद्ध विरोध की भावना उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त सन् १८६२ के "इण्डियन कौंसिल एक्ट" की सभी धाराएँ असन्तोषजनक थीं। इसके अन्तर्गत स्थापित की गई निर्वाचन-प्रणाली — जटिल थी। धारा-सभा में प्रश्न करने एवं बजट पर बहस करने का [illegible] यों को दे दिया गया परन्तु पूरक प्रश्न पूछने तथा बजट [illegible] नहीं दी [illegible] अनुसार यद्यपि पंजाब को

भी अन्य प्रान्तों में प्रमुख स्थान दे दिया गया परन्तु कौंसिलों मे उसके प्रतिनिधित्व की व्यवस्था नहीं की गई। इसकी अपूर्णता एवं अकिंचन सफलता के कारण गोपालकृष्ण गोखले, फीरोजशाह मेहता आदि नेतागण भी इससे संतुष्ट नहीं थे परन्तु वे अँग्रेजी सरकार की अहितकर नीति के विरुद्ध ठोस कदम उठाने का प्रयत्न नहीं करते थे।

(२) जन्म के पश्चात् से कांग्रेस वैधानिक कार्य-प्रणाली का प्रयोग करती आरही थी। अधिवेशनों में प्रस्ताव पास कर मॉगों की पूर्ति के लिये अँग्रेजी शासन-वर्ग से प्रार्थना करना, यही उसका ढंग था। इन प्रस्तावों की भाषा भी बहुत साधारण एवं शिष्ट होती थी ताकि वह अँग्रेजी अधिकारियों को अरुचिकर प्रतीत न हो, और मॉगे भी मामूली होती थीं, यथा—धारा-सभाओं का विस्तार एवं सुधार, न्यायपालिका का कार्यकारिणी से सम्बन्ध-विच्छेद, जूरी द्वारा न्याय, उच्च सरकारी पदों में भारतीयों की प्रमुखता, शस्त्रास्त्र नियम (Arms Act) में संशोधन, गवर्नर-जनरल की कौंसिल एवं 'इण्डिया कौंसिल' में भारतीयों का प्रवेश, देश में औद्योगिक शिक्षा का प्रसार, शासन के खर्च में कमी तथा इण्डियन सिविल सर्विस के लिये भारत एवं इङ्गलैंड में साथ-साथ परीक्षा। परन्तु इन प्रस्तावों का अँग्रेजी सरकार पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पडा और मॉगें भी अधिकांश रूप में अस्वीकृत हुई। फलस्वरूप कांग्रेस के युवक सदस्य अधीर हो उठे और उन्होंने अनुभव किया कि कांग्रेस के राजनीतिक भिक्षा के ढंग से तो देश अनेकों वर्षों में भी उन्नति नहीं कर पायेगा। उग्रवादी उपायों से स्वातन्त्र्य प्राप्ति की लक्ष्य-सिद्धि उन्हें निकट प्रतीत हुई। इसी समय मे अफ्रीका में भारतियों पर होने वाले अत्याचारों की सूचनाओं ने उनको और भी उत्तेजित किया। उनका अँग्रेजों की न्यायप्रियता एवं सहृदयता पर से विश्वास बिल्कुल उठ गया और अब उन्होंने सरकार का खुल्लमखुल्ला विरोध करने की ठान ली।

(३) इङ्गलैंड में भी कांग्रेस के प्रयत्नों की असफलता ने देश के नवयुवकों को शांतिपूर्ण उपायों की प्रभावोत्पादकता के प्रति निराश बना दिया। कांग्रेस के प्रारम्भिक नेतागण अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अँग्रेजों की न्यायप्रियता एवं सचाई में विश्वास करते थे और उनका विचार था कि जब ब्रिटिश पार्लियामेण्ट को यह विश्वास हो जायगा कि भारतीयों की मांगें न्यायपूर्ण और उचित है, वह उनको अवश्य पूरा करेगी। इसलिये उन्होंने इङ्गलैंड में भी भारत की राष्ट्रीयता का प्रचार आवश्यक समझकर सन् १८८९ में वहाँ पर कांग्रेस की ब्रिटिश कमेटी की नियुक्ति की और लगभग ४५०००/- रुपया

इसके खर्चे के लिये दिया। सन् १८९३ में सर विलियम वैडरवर्न और अन्य व्यक्तियों की सहायता से एक 'भारतीय-पार्लियामेण्ट्री कमेटी' की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के सदस्यों में भारतीय समस्याओं के प्रति दिलचस्पी पैदा करना था। इङ्गलैंड की जनता को भारतीय समस्याओं की ओर आकर्षित करने एव उसे अपना पक्षपाती करने के उद्देश्य से कांग्रेस ने वहाँ 'इण्डिया' नामक समाचारपत्र प्रकाशित किया। भारतियों की माँगों के अनुकूल इङ्गलैंड में लोकमत का निर्माण करने के लिये कांग्रेस समय-समय पर डेपूटेशन भी भेजती रही। परन्तु इन कार्यवाहियों का इङ्गलैंड की जनता पर विशेष प्रभाव न हुआ। सन् १९०५ में गोपालकृष्ण गोखले और लाला लाजपतराय को इङ्गलैंड भेजा गया। उन्होंने वहाँ अनकों भाषण दिये और पत्रकारों से भेंट की। परन्तु वहाँ से लौटने पर लाला लाजपतराय ने देशवासियों को बतलाया कि अँग्रेज लोग अपने ही कार्यो में इतने सलग्न हैं कि उन्हें भारत की ओर ध्यान देने के लिये अवकाश नहीं है और न अँग्रेजी पत्र ही भारतियों की आकाक्षाओं को प्रकट करने की इच्छा रखते हैं।[1] उन्होंने यह भी कहा कि वहाँ पर एँग्लो-इण्डियन लोगों का प्रभाव इतना अधिक है कि कांग्रेस द्वारा सगठित किया हुआ आन्दोलन इसकी समता नहीं कर सकता। इस सूचना से भारतवासियों में बड़ा रोष उत्पन्न हुआ और कांग्रेस के युवकवर्ग न आत्म-निर्भरता को ही अपना साधन बनाने का इरादा कर लिया।

(४) लार्ड कर्जन की प्रतिक्रियात्मक नीति का इस देश के नवयुवकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपने सात वर्षों के शासन-काल में भारतियों की आकाक्षाओं को कुचल डाला। उनके द्वारा लोकमत के घोर अपमान होने के कारण जनता का विश्वास हो गया कि केवल सभाओं में प्रस्ताव पास करने से ही उसकी मागें पूरी न होंगी। लार्ड कर्जन के "ओफिसियल्स सीक्रेट एक्ट" "कलकत्ता कारपोरेशन एक्ट", "इण्डियन यूनीवर्सिटीज एक्ट" "एज आफ कन्सेन्ट एक्ट" आदि ने देश में उनके तथा अग्रेजी सरकार के प्रति अत्यधिक घृणा का सचार कर दिया। अन्त में मूर्खतापूर्ण बगाल-विभाजन की योजना ने तो सारे देश में एक बिजली-सी दौड़ा दी। सन् १९०४ में कांग्रेस ने सर हेनरी काटन की अध्यक्षता में लार्ड कर्जन के पास एक डेपूटेशन भेजने का आयोजन किया परन्तु उन्होंने इससे भेंट करना अस्वीकार कर दिया। कांग्रेस के इस अपमान से उसके युवक वर्ग का रोष और भी बढ

1 Lajpat Rai Young India

गया और उसने अब कांग्रेस की नीति को ही बदल देने का निश्चय कर लिया।

बंग-विभाजन के पश्चात् कांग्रेस के बहिष्कार एवं स्वदेशी आन्दोलन से देश में बड़ी जागृति उत्पन्न हो गई थी। सरकारी दमन ने इन आन्दोलनों को और भी शक्तिशाली बना दिया था। इसलिये सन् १९०५ में कांग्रेस के बनारस के अधिवेशन में ही यह संभावना उत्पन्न हो गई थी कि कहीं कांग्रेस के नवयुवक अलग न हो जाएँ। कांग्रेस की "सब्जैक्टस् कमेटी" (Subjects Committee) में इस विषय पर बड़ा वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ कि इग्लैंड के राजकुमार का जो पत्नी सहित नये वर्ष (सन् १९०६) में भारत आने वाले थे आदर किया जाये या नहीं। लार्ड मिण्टो द्वारा प्रेरित कांग्रेस के उदारवादी नेताओं ने बड़ी कठिनाई से नवयुवकों के उग्र दल को सँभाला और यह तय हुआ कि जब राजकुमार के स्वागत का प्रस्ताव पास हो तो बंगाल के नवयुवक प्रतिनिधि कांग्रेस की बैठक में उपस्थित न हों। स्वराज्य, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, स्वदेशी का प्रचार और राष्ट्रीय शिक्षा—ये अब राष्ट्रीय आन्दोलन के मुख्य अंग हो गये और उग्रवादी स्वराज्य के अतिरिक्त अन्य तीन विषयों पर उदारवादियों से भिन्न थे। उन्होंने कांग्रेस के पंडाल में भविष्य के प्रोग्राम को निर्धारित किये जाने के उद्देश्य से एक भाषण भी दिया और इसी अधिवेशन में उग्रवादी दल के नेता बाल गंगाधर तिलक ने निष्क्रिय विरोध (Passive Resistance) का समर्थन किया।

सन् १९०६ में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। इस बार सभापतित्व करने को इग्लैंड से दादाभाई नौरोजी को बुलाया गया। यह तिलक को कांग्रेस के सभापति बनने से रोकने के लिये किया गया था। इस अधिवेशन में तिलक ने कांग्रेस की नीति में विशाल परिवर्तन करने का प्रस्ताव किया और इसी समय से ऐंग्लो-इण्डियन तथा अंग्रेजों ने उदारवादियों का साथ देने का निश्चय कर लिया। दादाभाई नौरोजी ने इस अवसर पर उग्रवादियों के मुख्य प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया जिनमें स्वराज्य का प्रस्ताव भी सम्मिलित था। उन्होंने स्वराज्य का आशय एक ऐसी स्वतन्त्रता से लिया जैसा कि इङ्गलैंड अथवा उसके कुछ उपनिवेशों में व्याप्त थी परन्तु अंग्रेजों ने दादाभाई की नीति की आलोचना की और उनपर आग में घी देने का आरोप लगाया। वास्तव में दादाभाई नौरोजी ने तात्कालिक परिस्थितियों के समक्ष बुद्धिमत्ता से काम लिया अन्यथा कांग्रेस का विच्छेद उसी अधिवेशन में निश्चित था। उन्होंने उग्रवादी दल का

इसके खर्चे के लिये दिया। सन् १८६३ में सर विलियम वैडरवर्न और अन्य व्यक्तियों की सहायता से एक 'भारतीय-पार्लियामेण्ट्री कमेटी' की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के सदस्यों में भारतीय समस्याओं के प्रति दिलचस्पी पैदा करना था। इङ्गलैंड की जनता को भारतीय समस्याओं की ओर आकर्षित करने एव उसे अपना पक्षपाती करने के उद्देश्य से काग्रेस ने वहाँ 'इण्डिया' नामक समाचारपत्र प्रकाशित किया। भारतियों की माँगों के अनुकूल इङ्गलैंड में लोकमत का निर्माण करने के लिये काग्रेस समय-समय पर डेपूटेशन भी भेजती रही। परन्तु इन कार्यवाहियों का इङ्गलैंड की जनता पर विशेष प्रभाव न हुआ। सन् १६०५ में गोपालकृष्ण गोखले और लाला लाजपतराय को इङ्गलैंड भेजा गया। उन्होंने वहाँ अनकों भाषण दिये और पत्रकारों से भेंट की। परन्तु वहाँ से लौटने पर लाला लाजपतराय ने देशवासियों को बतलाया कि अँग्रेज लोग अपने ही कार्यों में इतने सलग्न हैं कि उन्हें भारत की ओर ध्यान देने के लिये अवकाश नहीं है और न अँग्रेजी पत्र ही भारतियों की आकाक्षाओं को प्रकट करने की इच्छा रखते हैं।[1] उन्होंने यह भी कहा कि वहाँ पर एँग्लो-इण्डियन लोगों का प्रभाव इतना अधिक है कि काग्रेस द्वारा सगठित किया हुआ आन्दोलन इसकी समता नहीं कर सकता। इस सूचना से भारतवासियों में बड़ा रोष उत्पन्न हुआ और काग्रेस के युवकवर्ग ने आत्म-निर्भरता को ही अपना साधन बनाने का इरादा कर लिया।

(४) लार्ड कर्जन की प्रतिक्रियात्मक नीति का इस देश के नवयुवकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपने सात वर्षों के शासन-काल में भारतियों की आकाक्षाओं को कुचल डाला। उनके द्वारा लोकमत के घोर अपमान होने के कारण जनता का विश्वास हो गया कि केवल सभाओं में प्रस्ताव पास करने से ही उसकी मागें पूरी न होंगी। लार्ड कर्जन के "ओफिसियल्स सीकरेट एक्ट" "कलकत्ता कारपोरेशन एक्ट", "इण्डियन यूनीवर्सिटीज एक्ट" "एज आफ कन्सेन्ट एक्ट" आदि ने देश में उनके तथा अग्रेजी सरकार के प्रति अत्यधिक घृणा का सचार कर दिया। अन्त मे मूर्खतापूर्ण बगाल-विभाजन की योजना ने तो सारे देश में एक विजली-सी दौड़ा दो। सन् १६०४ मे काग्रेस ने सर हेनरी काटन की अध्यक्षता में लार्ड कर्जन के पास एक डेपूटेशन भेजने का आयोजन किया परन्तु उन्होंने इससे भेंट करना अस्वीकार कर दिया। काग्रेस के इस अपमान से उसके युवक वर्ग का रोष और भी बढ

1 Lajpat Rai Young India

गया और उसने अब कांग्रेस की नीति को ही बदल देने का निश्चय कर लिया।

बंग-विभाजन के पश्चात् कांग्रेस के बहिष्कार एवं स्वदेशी आन्दोलन से देश में बड़ी जागृति उत्पन्न हो गई थी। सरकारी दमन ने इन आन्दोलनों को और भी शक्तिशाली बना दिया था। इसलिये सन् १६०५ में कांग्रेस के बनारस के अधिवेशन में ही यह संभावना उत्पन्न हो गई थी कि कहीं कांग्रेस के नवयुवक अलग न हो जाएँ। कांग्रेस की "सब्जैक्टस् कमेटी" (Subjects Committee) में इस विषय पर बड़ा वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ कि इंग्लैंड के राजकुमार का जो पत्नी सहित नये वर्ष (सन् १६०६) में भारत आने वाले थे आदर किया जाये या नहीं। लार्ड मिण्टो द्वारा प्रेरित कांग्रेस के उदारवादी नेताओं ने बड़ी कठिनाई से नवयुवकों के उग्र दल को सँभाला और यह तय हुआ कि जब राजकुमार के स्वागत का प्रस्ताव पास हो तो बंगाल के नवयुवक प्रतिनिधि कांग्रेस की बैठक में उपस्थित न हों। स्वराज्य, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, स्वदेशी का प्रचार और राष्ट्रीय शिक्षा—ये अब राष्ट्रीय आन्दोलन के मुख्य अंग हो गये और उग्रवादी स्वराज्य के अतिरिक्त अन्य तीन विषयों पर उदारवादियों से भिन्न थे। उन्होंने कांग्रेस के पंडाल में भविष्य के प्रोग्राम को निर्धारित किये जाने के उद्देश्य से एक भाषण भी दिया और इसी अधिवेशन में उग्रवादी दल के नेता बाल गंगाधर तिलक ने निष्क्रिय विरोध (Passive Resistance) का समर्थन किया।

सन् १६०६ में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। इस बार सभापतित्व करने को इंग्लैंड से दादाभाई नौरोजी को बुलाया गया। यह तिलक को कांग्रेस के सभापति बनने से रोकने के लिये किया गया था। इस अधिवेशन में तिलक ने कांग्रेस की नीति में विशाल परिवर्तन करने का प्रस्ताव किया और इसी समय से ऐंग्लो-इण्डियन तथा अंग्रेजों ने उदारवादियों का साथ देने का निश्चय कर लिया। दादाभाई नौरोजी ने इस अवसर पर उग्रवादियों के मुख्य प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया जिनमें स्वराज्य का प्रस्ताव भी सम्मिलित था। उन्होंने स्वराज्य का आशय एक ऐसी स्वतन्त्रता से लिया जैसा कि इङ्गलैंड अथवा उसके कुछ उपनिवेशों में व्याप्त थी परन्तु अंग्रेजों ने दादाभाई की नीति की आलोचना की और उनपर आग में घी देने का आरोप लगाया। वास्तव में दादाभाई नौरोजी ने तात्कालिक परिस्थितियों के समक्ष बुद्धिमत्ता से काम लिया अन्यथा कांग्रेस का विच्छेद उसी अधिवेशन में निश्चित था। उन्होंने उग्रवादी दल का

पूर्णतया विरोध करना उचित न समझा और उनको अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। विपिनचन्द्र पाल एव बाल गगाधर तिलक ने काग्रेस की "सब्जेक्टस् कमेटी" की गुप्त बैठक में स्वदेशी, बहिष्कार, एवं राष्ट्रीय-शिक्षा को काग्रेस के प्रोग्राम में सयुक्त करने का निर्णय कर लिया था। इससे प्रतीत होता है कि अब दोनों दलों के विचार इतने भिन्न हो गये थे कि उनका एक साथ मिले रहना सम्भव नहीं था। ऐसी परिस्थिति में सन् १६०७ के अधिवेशन में काग्रेस के विच्छेद की अप्रिय घटना का होना स्वाभाविक था।

सन् १६०७ के सूरत के अधिवेशन में उदारवादी नेताओं ने पिछले अधिवेशन को घोषणा को अस्वीकृत कराने का निश्चय किया। उग्रवादी नेता यह पहले ही जानते थे। प्रथम दिन २६ दिसम्बर (सन् १६०७) को "सत्कार समिति" (Reception Committee) के सभापति ने अस्तव्यस्तता एव शोरगुल के कारण सभा को स्थगित कर दिया। २७ दिसम्बर को उदारवादी नेताओं ने काग्रेस विधान के अनुसार रासविहारी घोष को इस अधिवेशन का सभापति नियुक्त करने के प्रस्ताव का अनुमोदन किया। इसपर तिलक ने भाषण देने की आज्ञा मॉगी परन्तु 'सत्कार समिति' के सभापति ने उन्हें भाषण देने का अवसर देने से पहिले ही रासविहारी को निर्वाचित सभापति घोषित कर दिया। और उन्होंने अपना सभापतित्व-व्याख्यान आरम्भ कर दिया। इसपर तिलक स्वत मच पर चढ गये और खुले निर्वाचन की मॉग करते हुए सभा को स्थगित करने का प्रस्ताव किया। परन्तु 'सत्कार समिति' के सभापति तथा रासविहारी घोष दोनों ने इस बात से इन्कार कर दिया। तिलक ने फिर भी अपना भाषण बन्द न किया और फलस्वरूप उदारवादी दल के नवयुवक उनको बलपूर्वक नीचे उतारने के लिये उनके चारों ओर घिर आये। गोखले ने तिलक की रक्षा करने के उद्देश्य से उनको अपनी बाँहों में भर लिया। इसी बीच सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा फीरोजशाह मेहता पर एक जूता फेंका गया। बस फिर क्या था—उदारवादी एव उग्रवादी दलों के नवयुवक एक दूसरे पर टूट पड़े और लाठियाँ चलने लगीं। औरतें भाग खड़ी हुई और उपस्थित नेतागण मचान के पीछे होकर बाहर निकल गए। तिलक को भी उनके साथी बाहर ले गए और पडाल मे एक रक्तपूर्ण विप्लव उठ खड़ा हुआ। कुर्सियाँ एक दूसरे पर फेंकी गई और लोगों के सर से रक्त की धाराएँ बह निकलीं। अन्त में पुलिस आई और उसने बलपूर्वक पडाल को खाली कराया।

इसके पश्चात् उदारवादी नेताओं ने रासविहारी घोष, फीरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि के

हस्ताक्षरों से युक्त एक सूचना निकाली जिसके अनुसार अब सम्मेलन में ऐसे ही व्यक्तियों को आमंत्रित किया गया जो उसकी वैधानिक कार्य-प्रणाली में आस्था रखते थे। २८ दिसम्बर को ऐसे व्यक्तियों की एक सभा हुई और रासबिहारी घोष उसके सभापति बनाए गये। राष्ट्रीय कांग्रेस का नया विधान तैयार करने के उद्देश्य से उदारवादी नेताओं ने अब एक उपसमिति बनाई। इसका ध्येय कांग्रेस की कार्यप्रणाली को अधिक सुचारु रूप देना एवं उसको समयानुकूल बनाना था। नये विधान में इस उपसमिति ने इस प्रकार की स्वतन्त्रता के उद्देश्य का समावेश किया जैसी कि अंग्रेजी साम्राज्य के अन्य उपनिवेशों में प्रचलित थी और जिसके द्वारा भारतवासी भी साम्राज्य के अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों के भागी बन सकते थे। परन्तु उस उद्देश्य की पूर्ति के साधन वैधानिक ही रक्खे गये। इस प्रकार उदारवादी नेताओं ने कांग्रेस पर अधिकार कर उग्रवादियों को उससे निकाल दिया और वे विपिन-चन्द्र पाल, लाला लाजपतराय आदि के नेतृत्व में प्रगतिशील उपायों से अपना कार्य अलग करते रहे।

सूरत का विच्छेद कांग्रेस के इतिहास की बड़ी अप्रिय घटना है। इसने कांग्रेस की सगठित शक्ति को दो भागों में विभाजित कर भारतीय राष्ट्रीयता को बड़ा आघात पहुँचाया। देशभक्तों के बीच इस घटना का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। यद्यपि नए विधान द्वारा उदारवादी नेताओं ने उग्रवादियों को बिल्कुल अलग कर दिया तथापि जनमत उनके ही पक्ष में रहा और उदारवादी दल एक प्रकार से पृष्ठभूमि में आ गया क्योंकि उग्रवादी अब बहुत प्रगतिशील उपायों का प्रयोग कर रहे थे। तिलक ने सन् १८९३ से ही महाराष्ट्र में राष्ट्रीय जागृति का कार्य आरम्भ कर दिया था। अपने पत्रों 'केसरी' एवं 'मरहठा' द्वारा वे जनता में एक नवीन चेतना का सचार कर रहे थे। सूरत के विच्छेद के पश्चात् वे और भी अधिक उत्साह से अपना कार्य करते रहे। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के आरम्भ तक कांग्रेस पर तो उदारवादियों का ही प्रभाव रहा परन्तु उग्रवादी अंग्रेजी अधिकारियों के दमनचक्र में पिसते रहे। इस घटना के परिणामस्वरूप आतंकवादियों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। उनकी धारणा पहिले से यह थी कि कांग्रेस के वैधानिक ढंग से राष्ट्रोत्थान असम्भव है और अब विच्छेद के पश्चात् उनकी यह धारणा दृढ़ हो गई और उन्हें अपना मार्ग अधिक सत्य और देश-प्रिय प्रतीत होने लगा।

———

पूर्णतया विरोध करना उचित न समझा और उनको अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। विपिनचन्द्र पाल एवं बाल गंगाधर तिलक ने कांग्रेस की "सब्जैक्टस् कमेटी" की गुप्त बैठक में स्वदेशी, बहिष्कार, एवं राष्ट्रीय-शिक्षा को कांग्रेस के प्रोग्राम में संयुक्त करने का निर्णय कर लिया था। इससे प्रतीत होता है कि अब दोनों दलों के विचार इतने भिन्न हो गये थे कि उनका एक साथ मिले रहना सम्भव नहीं था। ऐसी परिस्थिति में सन् १९०७ के अधिवेशन में कांग्रेस के विच्छेद की अप्रिय घटना का होना स्वाभाविक था।

सन् १९०७ के सूरत के अधिवेशन में उदारवादी नेताओं ने पिछले अधिवेशन की घोषणा को अस्वीकृत कराने का निश्चय किया। उग्रवादी नेता यह पहले ही जानते थे। प्रथम दिन २६ दिसम्बर (सन् १९०७) को "सत्कार समिति" (Reception Committee) के सभापति ने अस्तव्यस्तता एवं शोरगुल के कारण सभा को स्थगित कर दिया। २७ दिसम्बर को उदारवादी नेताओं ने कांग्रेस विधान के अनुसार रासबिहारी घोष को इस अधिवेशन का सभापति नियुक्त करने के प्रस्ताव का अनुमोदन किया। इसपर तिलक ने भाषण देने की आज्ञा माँगी परन्तु 'सत्कार समिति' के सभापति ने उन्हें भाषण देने का अवसर देने से पहिले ही रासबिहारी को निर्वाचित सभापति घोषित कर दिया। और उन्होंने अपना सभापतित्व-व्याख्यान आरम्भ कर दिया। इसपर तिलक स्वत: मंच पर चढ गये और खुले निर्वाचन की माँग करते हुए सभा को स्थगित करने का प्रस्ताव किया। परन्तु 'सत्कार समिति' के सभापति तथा रासबिहारी घोष दोनों ने इस बात से इन्कार कर दिया। तिलक ने फिर भी अपना भाषण बन्द न किया और फलस्वरुप उदारवादी दल के नवयुवक उनको बलपूर्वक नीचे उतारने के लिये उनके चारों ओर घिर आये। गोखले ने तिलक की रक्षा करने के उद्देश्य से उनको अपनी बाँहों में भर लिया। इसी बीच सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा फीरोजशाह मेहता पर एक जूता फेंका गया। बस फिर क्या था—उदारवादी एवं उग्रवादी दलों के नवयुवक एक दूसरे पर टूट पड़े और लाठियाँ चलने लगीं। औरतें भाग खड़ी हुईं और उपस्थित नेतागण मचान के पीछे होकर बाहर निकल गए। तिलक को भी उनके साथी बाहर ले गए और पंडाल में एक रक्तपूर्ण विप्लव उठ खड़ा हुआ। कुर्सियाँ एक दूसरे पर फेंकी गईं और लोगों के सर से रक्त की धाराएँ बह निकलीं। अन्त में पुलिस आई और उसने बलपूर्वक पंडाल को खाली कराया।

इसके पश्चात् उदारवादी नेताओं ने रासबिहारी घोष, फीरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि के

को चुराया भी करते थे। उनके लिये धन-प्राप्ति का प्रमुख साधन चन्दा तथा लूट-मार थे। इनका कहना यह था कि भारत में अंग्रेजों का राज्य पाशविक बल-प्रयोग पर आधारित है और बल के प्रयोग से ही देश उनकी अधीनता से मुक्त हो सकता है।[1] उनकी सम्मति में थोड़े व्यक्तियों के हित को, अधिक व्यक्तियों की भलाई के लिये भुलाया जा सकता था।

आतंकवादी घटनाएँ बंगाल ही की देन नहीं थीं। देश के विभिन्न भागों में इस विचारधारा से प्रेरित नवयुवक अंग्रेजी-शासन को उखाड़ने का प्रयत्न कर रहे थे। महाराष्ट्र में इस प्रकार की घटनाएँ बहुत पहिले ही आरम्भ हो गई थीं। दामोदर तथा चापेकर द्वारा पूना में स्थापित संस्था ने इस दिशा में बड़े कार्य किये। सन् १८९६-९७ में प्लेग के फैलने के समय वहाँ के आतंकवादियों ने प्लेग कमिश्नर रैन्ड और लैफ्टीनैन्ट एयर्स्ट को गोली से मार दिया। फलस्वरूप सरकार ने दमन नीति का पालन आरम्भ कर दिया और तिलक पर अपने पत्रों में इस वध के लिये उत्तरदायी हत्यारों को उत्तेजित करने का अभियोग लगाया गया। उन्हें डेढ़ साल की कैद की सजा दी गई। इसके अतिरिक्त दामोदर चापेकर पर भी इस अपराध के कारण मुकदमा चलाया गया। उनके द्वारा स्थापित संस्था के चार सदस्यों को फाँसी की सजा हुई और एक व्यक्ति को दस वर्ष की सख्त कैद का दण्ड मिला। इन पर एक सिपाही को मारने का प्रयत्न करने, एवं उन दो व्यक्तियों का बध करने का भी अभियोग लगाया गया जिन्होंने दामोदर चापेकर के विरुद्ध सरकार को गुप्त रूप से सूचना दी थी।

रैन्ड और अयर्स्ट के बध के पश्चात् महाराष्ट्र में आतंकवादी घटनाएँ कुछ दिनों तक स्पष्ट तौर पर नहीं हुईं परन्तु गुप्त रूप से ये कार्यवाहियाँ चलती रहीं। यहाँ के आतंकवादी भीतर ही भीतर तैयारियाँ करते रहे और उन्होंने विदेशों में भी अपनी संस्थाएँ कायम कर कार्य करना आरम्भ कर दिया। श्याम जी कृष्ण वर्मा, गनेश सावरकर और विनायक सावरकर महाराष्ट्र में आतंकवादी आन्दोलन के प्रमुख कार्यकर्त्ता थे। श्यामजी रैन्ड के बध के पश्चात् इंग्लैंड चले गए और सन् १९०५ तक वहाँ छुपे रहे। इसके पश्चात् उन्होंने 'इण्डिया होम रूल सोसाइटी' (India Home Rule Society) की स्थापना की और इस समिति की ओर से 'इण्डियन सोशलोजिस्ट' (Indian Sociologist) नामक पत्र भी निकाला जिसका सम्पादन कार्य उन्होंने ही

1, Valentine Chirol . Indian Unrest.

अध्याय ५

आतंकवादी आन्दोलन

आतंकवादी विचारधारा के प्रादुर्भाव का वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। उग्रवादी विचारधारा को जन्म देने वाली परिस्थितियों से ही आतंकवाद की उत्पत्ति हुई थी। अब हमें इसकी प्रगति पर विचार करना है। बंगाल के विभाजन की योजना से बंगाल के नवयुवकों में आतंकवादी नीति का पालन करने की प्रेरणा मिली और सूरत के विच्छेद से उनको अपनी कार्यवाहियों में प्रोत्साहन मिला। परन्तु इससे बहुत पहिले ही देश में आतंकवादी घटनाएँ आरम्भ हो गई थीं। सन् १८६५ में दामोदर और बालकृष्ण चापेकर ने पूना में एक ऐसी संस्था की स्थापना की थी जिसका उद्देश्य हिन्दू धर्म के उत्थान की बाधाओं को रोकना था, चाहे उसके लिये किसी भी प्रकार के उपायों से काम लेना पड़े। इस संस्था का प्रारम्भिक उद्देश्य लोगों को शारीरिक विज्ञान एवं सैनिक कर्त्तव्यों का शिक्षण प्रदान करना था, किन्तु कालान्तर में यह आतंकवादी मार्ग पर चलने लगी।

आतंकवादियों के अनेक सिद्धान्त थे और उनकी योजना में प्रथम कार्य दासत्व के प्रति घृणा की भावना उत्पन्न करना था। वे बेकारी और भुखमरी के भय को भी दूर करना चाहते थे। वे देश-प्रेम एवं स्वातन्त्र्य प्रेम का प्रचार करते थे। उनका कार्यक्रम यह था कि आन्दोलन और प्रदर्शन के द्वारा अंग्रेजों का ध्यान बँटाए रक्खें, 'वन्देमातरम्' का गान करते हुए जुलूस निकालें, स्वदेशी का प्रचार एवं अंग्रेजी माल का बहिष्कार करें। इसके अतिरिक्त वे नवयुवकों को छोटी-छोटी टुकड़ियों में बाँटकर उनको शस्त्रों का उपयोग सिखाते थे। ये नवयुवक शक्ति के उपासक होते थे और आतंकवादी साहित्य पढ़ते थे। इनका अनुशासन बड़ा दृढ़ होता था और इनकी कार्यवाहियाँ पूर्णतः गुप्त रहती थीं। ये लोग अपने लिये हथियार विदेशों से गुप्त रूप से मँगाया करते थे। बम्ब ये स्वयं तैयार करते थे परन्तु हथियारों

प्रयत्न किया। ग्वालियर में इसने 'न्यू भारत सोसायटी' की स्थापना की। सन् १६०६ में इस संस्था के बाईस सदस्यों पर सरकार के विरुद्ध कार्यवाही करने के कारण मुकदमा चलाया गया और बहुधा जेल भेज दिये गये। सतारा में भी इस संस्था की एक शाखा सन् १६०७ से अपना कार्य करती आ रही थी और इसके सदस्यों को भी सरकार के दमन-चक्र मे पिसना पड़ा। गुजरात भी आतंकवादी कार्यवाहियों से न बच सका। सन् १६०८ में लार्ड मिण्टो और उनकी पत्नी को जब वे गाड़ी में अहमदाबाद जा रहे थे, बम्ब से उड़ा देने का प्रयत्न किया गया परन्तु वह असफल रहा।[1]

आतंकवादी घटनाओं का मुख्य केन्द्र बंगाल था। वास्तव में विभाजन की योजना एवं विभाजन-विरोधी आन्दोलन को दबाने के लिये प्रयोग की गई सरकार की दमन-नीति ने इस विचारधारा को प्रेरणा दी थी। अरविन्द घोष के छोटे भाई बारिन्द्र घोष एवं स्वामी विवेकानन्द के छोटे भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त बंगाल में इन कार्यवाहियों के प्रमुख सञ्चालक थे। इन्होंने "युगान्तर" और "संध्या" नामक पत्रों द्वारा स्पष्ट रूप से क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार किया। बारिन्द्रकुमार ने राष्ट्रीय-जागृति का कार्य सन् १६०२ से ही आरम्भ कर दिया था। सन् १६०५ में उन्होंने अपनी नीति में परिवर्तन किया क्योंकि उन्होंने अनुभव किया कि राजनीतिक-जागृति के साथ-साथ लोगों की आध्यात्मिक उन्नति आवश्यक है। वे अपने साथियों से कहा करते थे 'हम अब एक आगामी क्रान्ति की कल्पना करते हुए उसके लिए तत्पर रहना चाहते हैं।'[2] उन्होंने गीता के सिद्धान्त पर विश्वास करते हुए लोगों को बतलाया कि जब-जब पृथ्वी पर अधिक पाप होंगे और नैतिकता का पतन होगा भगवान स्वयं अवतार लेकर दुष्टों का संहार करेंगे। उनकी धारणा थी कि जब एक मुट्ठी भर विदेशी लुटेरे भारत के करोड़ों व्यक्तियों को लूट रहे हैं तब ईश्वर भी इस अन्याय को देखकर शान्त न रहेगा और गीता में प्रतिपादित वचन को अवश्य पूरा करेगा। उन्होंने लोगों को विश्वास दिलाया कि जब हृदय में ईश्वरीय प्रकाश जागृत होता है, मनुष्य असंभव कार्यों को भी सम्पूर्ण कर लेता है। इस प्रकार के आध्यात्मिक विचारों एवं देश-भक्ति से ओत-प्रोत 'युगान्तर' पत्र द्वारा उन्होंने स्पष्ट रूप से क्रान्ति के विचारों का प्रचार किया।

---

1. G. N Singh · Landmarks in Indian National & Constitutional Development.
2. Sedition Committee Report, 1918.

किया। सन् १९०७ में उनके सम्बन्ध में पार्लियामेन्ट द्वारा जॉच (Parliamentary enquiry) किये जाने पर वे पेरिस चले गये। वहाँ पर उन्होंने एस० आर० राना का जो रत्नों के व्यापार के सम्बन्ध में वहीं बसे हुए थे, सहयोग प्राप्त किया। श्याम जी कृष्ण वर्मा ने भारतियों को विदेशों में, आतकवादी घटनाओं में भाग लेने की निपुणता प्राप्त करने के लिये, छात्रवृत्तियाँ घोषित कीं। इस सहायता के आधार पर गनेश सावरकर के छोटे भाई विनायक सावरकर, जो बम्बई विश्वविद्यालय के स्नातक थे, लन्दन गये और शीघ्र ही 'इण्डिया होम रूल सोसाइटी' के प्रमुख सदस्य बन गये। उन्होंने लन्दन में अनेकों महत्वपूर्ण कार्य किये और श्यामजी कृष्ण वर्मा के पेरिस चले जाने के बाद भी उन्होंन इंग्लैंड में इस समिति के कार्यों को जारी रक्खा। उन्होंने इटली की स्वाधीनता-सग्राम की आत्मा मैजिनी की आत्मकथा का मराठी भाषा मे अनुवाद किया और उनके भाई गनेश सावरकर ने जो इस समय पूना में थे, इस पुस्तक को छपवाया। उन्होंने एक और भी पुस्तक लिखी जिसका शीर्षक था "१८५७ का भारत स्वतन्त्रता सग्राम"। यह उस समय की अत्यत प्रसिद्ध पुस्तकों में थी। वे इग्लैंड से आतकवादी साहित्य और अस्त्र-शस्त्रादि गुप्त रूप से भेजते थे। सन् १९०९ मे उन्होंने बीस पिस्तौलों एव अन्य युद्ध-सामग्री की एक पार्सल एक झूँठी फर्म के नाम से भारत के लिए रवाना की। परन्तु यह पकड़ी गई क्योंकि इसको बम्बई में छुड़ाने से पहिले ही उनके भाई गनेश सावरकर को बन्दीगृह में डाल दिया गया था। इसके पश्चात् वे भी बन्दी बनाकर बम्बई भेज दिये गये और उनको काले पानी की सजा देकर अडमान भेज दिया गया। उनके इंग्लैंड से आ जाने के पश्चात् 'इण्डिया होम रूल सोसाइटी' के सदस्यों को कड़ी सज़ाएँ दी गई और इस सस्था का अन्त ही कर दिया गया।

इङ्गलैंड जाने से पूर्व सन् १८९८ में विनायक सावरकर ने अपने छोटे भाइ के साथ मिलकर 'मित्र-मेला' नामक एक सस्था की स्थापना की थी जो बाद मे 'अभिनव-भारत' के नाम से प्रसिद्ध हुई। गनेश सावरकर इस सस्था के प्रमुख सचालक थे। सन् १९०९ में गनेश सावरकर को काले पानी की सजा हो जाने के बाद उनके मुकदमे का निर्णय करने वाले नासिक के जिलाधीश जैम्सन को गोली से मार डाला गया। इसके फलस्वरूप इस सस्था के अनेकों सदस्य गिरफ्तार हुये और उन पर 'नासिक षडयन्त्र-केस' में भाग लेने का अभियोग लगाया गया। उन को कड़े-कड़े दण्ड दिये गये। 'अभिनय-भारत' नामक सस्था

प्रयत्न किया। ग्वालियर में इसने 'न्यू भारत सोसायटी' की स्थापना की। सन् १६०६ में इस संस्था के बाईस सदस्यों पर सरकार के विरुद्ध कार्यवाही करने के कारण मुकदमा चलाया गया और बहुधा जेल भेज दिये गये। सतारा में भी इस संस्था की एक शाखा सन् १६०७ से अपना कार्य करती आ रही थी और इसके सदस्यों को भी सरकार के दमन-चक्र में पिसना पड़ा। गुजरात भी आतंकवादी कार्यवाहियों से न बच सका। सन् १६०८ में लार्ड मिण्टो और उनकी पत्नी को जब वे गाड़ी में अहमदाबाद जा रहे थे, बम्ब से उड़ा देने का प्रयत्न किया गया परन्तु वह असफल रहा।[1]

आतंकवादी घटनाओं का मुख्य केन्द्र बंगाल था। वास्तव में विभाजन की योजना एवं विभाजन-विरोधी आन्दोलन को दबाने के लिये प्रयोग की गई सरकार की दमन-नीति ने इस विचारधारा को प्रेरणा दी थी। अरविन्द घोष के छोटे भाई वारिन्द्र घोष एवं स्वामी विवेकानन्द के छोटे भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त बंगाल में इन कार्यवाहियों के प्रमुख संचालक थे। इन्होंने "युगान्तर" और "संध्या" नामक पत्रों द्वारा स्पष्ट रूप से क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार किया। वारिन्द्रकुमार ने राष्ट्रीय-जागृति का कार्य सन् १६०२ से ही आरम्भ कर दिया था। सन् १६०५ में उन्होंने अपनी नीति में परिवर्तन किया क्योंकि उन्होंने अनुभव किया कि राजनीतिक-जागृति के साथ-साथ लोगों की आध्यात्मिक उन्नति आवश्यक है। वे अपने साथियों से कहा करते थे 'हम अब एक आगामी क्रान्ति की कल्पना करते हुए उसके लिए तत्पर रहना चाहते हैं।'[2] उन्होंने गीता के सिद्धान्त पर विश्वास करते हुए लोगों को बतलाया कि जब-जब पृथ्वी पर अधिक पाप होंगे और नैतिकता का पतन होगा भगवान स्वयं अवतार लेकर दुष्टों का संहार करेंगे। उनकी धारणा थी कि जब एक मुट्ठी भर विदेशी लुटेरे भारत के करोड़ों व्यक्तियों को लूट रहे हैं तब ईश्वर भी इस अन्याय को देखकर शान्त न रहेगा और गीता में प्रतिपादित वचन को अवश्य पूरा करेगा। उन्होंने लोगों को विश्वास दिलाया कि जब हृदय में ईश्वरीय प्रकाश जाग्रत होता है, मनुष्य असंभव कार्यों को भी सम्पूर्ण कर लेता है। इस प्रकार के आध्यात्मिक विचारों एवं देश-भक्ति से ओत-प्रोत 'युगान्तर' पत्र द्वारा उन्होंने स्पष्ट रूप से क्रान्ति के विचारों का प्रचार किया।

---

1. G. N Singh Landmarks in Indian National & Constitutional Development.
2. Sedition Committee Report, 1918

किया। सन् १९०७ में उनके सम्बन्ध में पार्लियामेन्ट द्वारा जॉन्च (Parliamentary enquiry) किये जाने पर वे पेरिस चले गये। वहाँ पर उन्होंने एस० आर० राना का जो रत्नों के व्यापार के सम्बन्ध में वहीं बसे हुए थे, सहयोग प्राप्त किया। श्याम जी कृष्ण वर्मा ने भारतियों को विदेशों मे, आतकवादी घटनाओं में भाग लेने की निपुणता प्राप्त करने के लिये, छात्रवृत्तियाँ घोषित कीं। इस सहायता के आधार पर गनेश सावरकर के छोटे भाई विनायक सावरकर, जो बम्बई विश्वविद्यालय के स्नातक थे, लन्दन गये और शीघ्र ही 'इण्डिया होम रूल सोसाइटी' के प्रमुख सदस्य बन गये। उन्होंने लन्दन में अनेकों महत्वपूर्ण कार्य किये और श्यामजी कृष्ण वर्मा के पेरिस चले जाने के बाद भी उन्होंने इंग्लैंड में इस समिति के कार्यों को जारी रक्खा। उन्होंने इटली की स्वाधीनता-सग्राम की आत्मा मैजिनी की आत्मकथा का मराठी भाषा मे अनुवाद किया और उनके भाई गनेश सावरकर ने जो इस समय पूना में थे, इस पुस्तक को छपवाया। उन्होंने एक और भी पुस्तक लिखी जिसका शीर्षक था "१८५७ का भारत स्वतन्त्रता सग्राम"। यह उस समय की अत्यत प्रसिद्ध पुस्तकों में थी। वे इग्लैंड से आतक्वादी साहित्य और अस्त्र-शस्त्रादि गुप्त रूप से भेजते थे। सन् १९०९ मे उन्होंने बीस पिस्तौलों एव अन्य युद्ध-सामग्री की एक पार्सल एक झूँठी फर्म के नाम से भारत के लिए रवाना की। परन्तु यह पकड़ी गई क्योंकि इसको बम्बई में छुड़ाने से पहिले ही उनके भाई गनेश सावरकर को बन्दीगृह में डाल दिया गया था। इसके पश्चात् वे भी बन्दी बनाकर बम्बई भेज दिये गये और उनको काले पानी की सजा देकर अडमान भेज दिया गया। उनके इंग्लैंड से आ जाने के पश्चात् 'इण्डिया होम रूल सोसाइटी' के सदस्यों को कड़ी सज़ाएँ दी गई और इस सस्था का अन्त ही कर दिया गया।

इङ्गलैंड जाने से पूर्व सन् १८९८ में विनायक सावरकर ने अपने छोटे भाई के साथ मिलकर 'मित्र-मेला' नामक एक सस्था की स्थापना की थी जो बाद मे 'अभिनव-भारत' के नाम से प्रसिद्ध हुई। गनेश सावरकर इस सस्था के प्रमुख सचालक थे। सन् १९०९ में गनेश सावरकर को काले पानी की सजा हो जाने के बाद उनके मुकदमे का निर्णय करने वाले नासिक के जिलाधीश जैक्सन को गोली से मार डाला गया। इसके फलस्वरूप इस सस्था के अनेकों सदस्य गिरफ्तार हुये और उन पर 'नासिक षड्यन्त्र-केस' मे भाग लेने का अभियोग लगाया गया। उन को कड़े-कड़े दण्ड दिये गये। 'अभिनव-भारत' नामक सस्था ने अपने समीपवर्ती देशी राज्यों में भी आतकवादी नीति का प्रचार करने का

प्रयत्न किया। ग्वालियर में इसने 'न्यू भारत सोसायटी' की स्थापना की। सन् १६०६ में इस सस्था के बाईस सदस्यों पर सरकार के विरुद्ध कार्यवाही करने के कारण मुकदमा चलाया गया और बहुधा जेल भेज दिये गये। सतारा में भी इस संस्था की एक शाखा सन् १६०७ से अपना कार्य करती आ रही थी और इसके सदस्यों को भी सरकार के दमन-चक्र में पिसना पड़ा। गुजरात भी आतंकवादी कार्यवाहियों से न बच सका। सन् १६०८ में लार्ड मिण्टो और उनकी पत्नी को जब वे गाड़ी में अहमदाबाद जा रहे थे, बम्ब से उड़ा देने का प्रयत्न किया गया परन्तु वह असफल रहा।[1]

आतंकवादी घटनाओं का मुख्य केन्द्र बंगाल था। वास्तव में विभाजन की योजना एवं विभाजन-विरोधी आन्दोलन को दबाने के लिये प्रयोग की गई सरकार की दमन-नीति ने इस विचारधारा को प्रेरणा दी थी। अरविन्द घोष के छोटे भाई बारिन्द्र घोष एवं स्वामी विवेकानन्द के छोटे भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त बंगाल में इन कार्यवाहियों के प्रमुख सञ्चालक थे। इन्होंने "युगान्तर" और "सन्ध्या" नामक पत्रों द्वारा स्पष्ट रूप से क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार किया। बारिन्द्रकुमार ने राष्ट्रीय-जागृति का कार्य सन् १६०२ से ही आरम्भ कर दिया था। सन् १६०५ में उन्होंने अपनी नीति में परिवर्तन किया क्योंकि उन्होंने अनुभव किया कि राजनीतिक-जागृति के साथ-साथ लोगों की आध्यात्मिक उन्नति आवश्यक है। वे अपने साथियों से कहा करते थे 'हम अब एक आगामी क्रान्ति की कल्पना करते हुए उसके लिए तत्पर रहना चाहते हैं।'[2] उन्होंने गीता के सिद्धान्त पर विश्वास करते हुए लोगों को बतलाया कि जब-जब पृथ्वी पर अधिक पाप होंगे और नैतिकता का पतन होगा भगवान स्वयं अवतार लेकर दुष्टों का संहार करेंगे। उनकी धारणा थी कि जब एक मुट्ठी भर विदेशी लुटेरे भारत के करोड़ों व्यक्तियों को लूट रहे हैं तब ईश्वर भी इस अन्याय को देखकर शान्त न रहेगा और गीता में प्रतिपादित वचन को अवश्य पूरा करेगा। उन्होंने लोगों को विश्वास दिलाया कि जब हृदय में ईश्वरीय प्रकाश जागृत होता है, मनुष्य असंभव कार्यों को भी सम्पूर्ण कर लेता है। इस प्रकार के आध्यात्मिक विचारों एवं देश-भक्ति से ओत-प्रोत 'युगान्तर' पत्र द्वारा उन्होंने स्पष्ट रूप से क्रान्ति के विचारों का प्रचार किया।

---

1. G. N Singh · Landmarks in Indian National & Constitutional Development.
2. Sedition Committee Report, 1918

इटली एव रूस की गुप्त आतंकवादी संस्थाओं के समान वारिन्द्रकुमार घोष एव भूपेन्द्रनाथ दत्त ने 'अनुशीलन समिति' नामक आतंकवादी संस्था की स्थापना की। इस समिति की अनेक शाखाएँ नगरों और गाँवों में थीं। इन शाखाओं की सख्या ५०० तक हो गई थी। कलकत्ता और ढाका इस समिति की कार्यवाहियों के मुख्य केन्द्र थे। इन सबका उद्देश्य देश में आतंक उत्पन्न करना था। फलस्वरूप सन् १९०७ के आरम्भ से देश में अनेकों आतंकवादी घटनाएँ हुईं। ६ दिसम्बर सन् १९०७ को लैफ्टीनैण्ट गवर्नर की गाड़ी मिदनापुर के निकट बम से उड़ाने का प्रयत्न किया गया। यद्यपि गाड़ी पटरी से उतर गई परन्तु गवर्नर को चोट नहीं आई। इसके कुछ ही दिनों बाद (२३ दिसम्बर १९०७) को ढाका के जिलाधीश एलिन (Allen) को फरीदपुर के स्टेशन पर गोली मारी गई परन्तु उनके प्राण बच गये। ३० अप्रैल सन् १९०८ को मुजफ्फरपुर के जज किंग्सफोर्ड (Kingsford) को मारने का प्रयत्न किया गया क्योंकि कलकत्ते में चीफ प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट के पद पर कार्य करते हुए उन्होंने स्वदेशी प्रचार के कार्यकर्त्ताओं को बड़े-बड़े दण्ड दिये थे। खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चकी को यह कार्य सौंपा गया परन्तु किंग्सफोर्ड के धोखे में दो स्त्रियाँ श्रीमती और कुमारी कैनडी (Mrs and Miss Kenneddy) मारी गईं। जज महोदय की कोठी से इनकी गाड़ी निकल रही थी, खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चकी ने यह समझा कि स्वयं किंग्सफोर्ड ही उसमें हैं और उनको गोली का निशाना बना दिया। परन्तु वे दोनों पकड़े गये। प्रफुल्ल चकी ने आत्महत्या करली और खुदीराम बोस को इस हत्या के अपराध में फाँसी का दण्ड मिला। एँग्लो-इण्डियन तथा मुसलमानों ने इन स्त्रियों के वध की बड़ी आलोचना की और विशेषकर 'अलीगढ इन्स्टीट्यूट गजट' ने तो बड़ी ही निन्दा की।[1]

पुलिस सरगर्मी से आतंकवादियों का पीछा कर रही थी। फलस्वरूप अनेकों षड्यन्त्रकारी पकड़े गये और उनके प्रयत्न असफल हुए। कलकत्ते में मानिकतल्ला मोहल्ले में हथियारों का एक कारखाना पकड़ा गया जिसमें अनेको बम्ब, कारतूस, डाइनैमाइट तथा इस सम्बन्ध के कागजात बरामद हुए। इसके परिणामस्वरूप २९ व्यक्ति गिरफ्तार किये गये जिनमें अरविन्द घोष तथा उनके छोटे भाई वारिन्द्रकुमार भी थे। इन पर सम्राट् के विरुद्ध षड्यन्त्र करने का अभियोग लगाया गया और इनको कड़े दण्ड दिये गये। यह केस

1, Author's own book–The Muslim League-its History, Activities & Achievement.

'अलीपुर-षडयन्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्बन्ध में आतंकवादियों की ओर से अनेकों वध किये गये। खुदीराम बोस को बन्दी बनाने वाले सब-इन्सपैक्टर नन्दलाल को मार डाला गया। तत्पश्चात् सन् १६०६ में इस मुकदमे में अभियोग निरीक्षक (Public Prosecutor) का कार्य करने वाले आशुतोष विश्वास को भी गोली का निशाना बना दिया गया। २४ जनवरी १६१० को इस मुकदमे की कार्यवाही के समय न्यायालय से बाहर निकलते हुए पुलिस के डिप्टी-सुपरिण्टेण्डेण्ट शमशुल आलम को गोली मारदी गई। सन् १६११-१६ के समय में बंगाल में आतंकवादी घटनाओं का बड़ा जोर रहा। सन् १६११ में १८, सन् १६१३ में १६ और सन् १६१४ में २६ हत्याओं के प्रयत्न किये गये। पूर्वी बंगाल के नवयुवकों ने इन घटनाओं में सबसे अधिक भाग लिया। आतंकवादियों की ये कार्यवाहियाँ सन् १६१६ के अधिनियम के पास हो जाने के पश्चात् भी चलती रहीं।[1]

मद्रास में भी आतंकवादी कार्यवाहियों का जोर रहा। सन् १६०७ में बंगाल के उग्रवादी नेता विपिनचन्द्र पाल ने मद्रास का परिभ्रमण किया और लोगों में स्वराज्य प्राप्त करने की लालसा को प्रोत्साहन दिया। तत्पश्चात् उनको अरविन्द घोष के विरुद्ध मुकदमे में गवाही न देने के कारण गिरफ्तार कर लिया गया परन्तु कुछ समय के बाद ही वे छोड़ दिये गये। उनकी इस मुक्ति पर हर्ष प्रकट करने के लिये सुब्रामनियम सीवा तथा चिदाम्बरम पिलाई ने सन् १६०६ में एक बड़ी सार्वजनिक सभा का आयोजन किया और उसमें अंग्रेजी माल के बहिष्कार का समर्थन किया। पाडचेरी के नवयुवकों ने आतंकवादी घटनाओं में बड़े उत्साह से भाग लिया। एम. पी तिरुमल आचार्य तथा व्ही. एस. अय्यर ने पेरिस तथा लन्दन में स्थापित आतंकवादी संस्थाओं से सम्बन्ध रखते हुए इस दिशा में बड़ा योग दिया। सन् १६१२ में टिनिवेली (Tinnevelly) के जिलाधीश का वध किया गया। इसके परिणाम-स्वरूप 'टिनिवेली षडयन्त्र' केस चलाया गया और उसमें ६ व्यक्तियों को दण्ड दिये गये। इसके अतिरिक्त पत्रकारों को भी नाना प्रकार की सजाएँ दी गई।[2]

पंजाब में सन् १६०७ के प्रारम्भ से ही सरकार-विरोधी प्रचार जोर पकड़ रहा था। 'कोलोनाइजेशन बिल' (Colonisation Bill) के कारण

1. G N. Singh. Landmarks in Indian National and Constitutional Development.

2 Ibid

किसानों में बड़ा असन्तोष छाया हुआ था। इस नियम के अनुसार किसानों के बँटवारे के अधिकारों पर आघात पहुँचता था। फलस्वरूप लाहौर और रावलपिंडी में अनेकों उपद्रव हुए। यद्यपि यहाँ पर बंगाल, मद्रास तथा महाराष्ट्र की भाँति कोई आतंकवादी संस्था स्थापित नहीं हुई तथापि नवयुवक आतंकवादी विचारधारा से मुक्त नहीं थे। पत्रों में सब ओर सरकार की आलोचना की जाती थी। 'पंजाबी' और 'इण्डिया' जनता का विरोध प्रकाशित करने में विशेष भाग ले रहे थे। परिणामस्वरूप इनके मालिकों तथा अन्य पत्रकारों को भी जेल-यात्रा करनी पड़ी। वास्तव में पंजाबी लोगों का असन्तोष सरकार की भू-सम्बन्धी नीति के कारण अधिक था। भू-राजस्व में वृद्धि कर दी गई थी और बारी-दोआब नहर द्वारा सिंचाई पर भी पहिले की अपेक्षा कर बढ़ा दिया गया था। इनसे किसानों में और भी असन्तोष उत्पन्न हुआ। सिक्ख लोग उत्तेजित हो गये और सेना तथा पुलिस के कर्मचारियों से आतंकवादियों का साथ देने का अनुरोध किया गया। अनेक स्थानों पर विरोध प्रदर्शन के लिये सभाएँ हुईं। लाला लाजपतराय, अजीतसिंह और सैयद हैदररजा ने प्रजा के हित के लिये विशेष प्रयत्न किया। सन् १९०७ में लायलपुर की एक सभा में भाषण देते हुए लाला लाजपतराय ने अँग्रेजी सरकार की तीव्र आलोचना की। लाहौर और रावलपिंडी में किसानों के दंगे उठ खड़े हुए और परिणामस्वरूप लाजपतराय और अजीतसिंह को गिरफ्तार कर लिया गया और उनको देश-निर्वासन का दण्ड मिला। रावलपिंडी में विरोध-प्रदर्शन के कारण लाला अमोलकराम, लाला हंसराज तथा लाला गुरुदासराम को भी बन्दी बना लिया गया और उनसे भारतीय दण्ड विधान की धारा १२४ 'अ' तथा ५०५ के अन्तर्गत सफाई देने के लिये कहा गया। अनेक व्यक्ति उनके मुकदमे की कार्यवाही देखने के लिये अदालत में गए परन्तु जिलाधीश ने १२½ बजे जब कि बहुत भीड़ जमा हो चुकी थी, अदालत में प्रवेश किया और मुकदमे को स्थगित कर दिया। इस पर क्रुद्ध जनता ने पास के एक गिर्जाघर को फोड़ने का प्रयत्न किया और विदेशियों के घरों में घुसकर उनको नुकसान पहुँचाया। इस उपद्रव के फलस्वरूप ६ वकीलों तथा ६ अन्य व्यक्तियों को बन्दी बना लिया गया। वकीलों को तो बाद में छोड़ दिया परन्तु अन्य व्यक्तियों को बन्दीगृह में भेज दिया गया।

विदेशों में भारतियों द्वारा संगठित आतंकवादी संस्थाओं का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में पंजाब के एक नवयुवक

हरदयाल के प्रयत्न भी उल्लेखनीय हैं। उन्होंने सन् १६११ में अमरीका में केलीफोर्निया के स्थान पर 'गदर पार्टी' को संगठित किया तथा इस पार्टी की ओर से गुरमुखी तथा उर्दू भाषा में दो पत्र भी सम्पादित किये। इन पत्रों में उन्होंने भारत में अंग्रेजी शासन की तीव्र आलोचनाएँ प्रकाशित कीं जिनका कनाडा, अमरीका में प्रवसित भारतियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। पेरिस तथा लन्दन में स्थापित संस्थाओं की भाँति उन्होंने भी भारतियों की नाना प्रकार से सहायता करने के प्रयत्न किये। सन् १६१४-१८ में प्रथम महायुद्ध में 'गदर पार्टी' के अनेकों सदस्य जर्मनी गए और उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध भारतियों की सहायता करने का प्रयत्न किया। विदेशों में कार्यशील आतकवादियों ने भी भारतीय राजनीति को प्रभावित करने में बड़ा योग दिया।

भारतीय राष्ट्रीयता के विकास पर लिखने वाले कुछ ग्रन्थकारों का मत है कि 'आतकवादी आन्दोलन का भारत की वैधानिक प्रगति एव राष्ट्रीयता के विकास पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।'[1] परन्तु हम इस प्रकार के विचार से सहमत नहीं हैं। वास्तव में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट बहुत दिनों से भारतियों की माँगों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दे रही थी और आतकवादी कार्यवाहियों ने उसके कान खड़े कर दिये। अँग्रेज और अँग्रेजी राज्य के कर्मचारियों का जीवन भारत में असुरक्षित हो जाने के कारण इङ्गलैंड की जनता एव ऐङ्गलो-इण्डियन पत्रकारों में बड़ी हलचल मच गई। अब अँग्रेजी सरकार ने सुधार की ओर विशेष ध्यान देना आरम्भ किया। आतंकवादियों को निर्बल बनाने के उद्देश्य से उसने मुसलमानों, जागीरदारों, देशी राजाओं और काँग्रेस के नरम दल को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। भारत-मन्त्री के पास भेजे गए सुधार के प्रस्ताव नरम दल वालों को सतुष्ट करने के उद्देश्य से भेजे गए थे। सन् १६०६ और सन् १६१६ के अधिनियमों के पास होने में आतकवादी आन्दोलन का बहुत प्रभाव पड़ा।

जहाँ तक राष्ट्रीयता के विकास का सम्बन्ध है यह कहना असत्य है कि आतंकवादी आन्दोलन से देश में जागृति उत्पन्न नहीं हुई। जब कि भारत के अनेक स्थानों, बंगाल, महाराष्ट्र, पजाब, मद्रास आदि में आतक-वादी कार्यवाहियाँ जोरों से चलती रहीं, यह कैसे सभव था कि जनता पर

---

1. J. P Sud "Bharat ka Rastriya Andolan Tatha Vaidhanik Vikas".

किसानों में बड़ा असन्तोष छाया हुआ था। इस नियम के अनुसार किसानों के बँटवारे के अधिकारों पर आघात पहुँचता था। फलस्वरूप लाहौर और रावलपिंडी में अनेकों उपद्रव हुए। यद्यपि यहाँ पर बंगाल, मद्रास, तथा महाराष्ट्र की भाँति कोई आतंकवादी संस्था स्थापित नहीं हुई तथापि नवयुवक आतंकवादी विचारधारा से मुक्त नहीं थे। पत्रों में सब ओर सरकार की आलोचना की जाती थी। 'पंजाबी' और 'इण्डिया' जनता का विरोध प्रकाशित करने में विशेष भाग ले रहे थे। परिणामस्वरूप इनके मालिकों तथा अन्य पत्रकारों को भी जेल-यात्रा करनी पड़ी। वास्तव में पंजाबी लोगों का असन्तोष सरकार की भू-सम्बन्धी नीति के कारण अधिक था। भू-राजस्व में वृद्धि कर दी गई थी और बारी-दोआब नहर द्वारा सिंचाई पर भी पहिले की अपेक्षा कर बढ़ा दिया गया था। इनसे किसानों में और भी असन्तोष उत्पन्न हुआ। सिक्ख लोग उत्तेजित हो गये और सेना तथा पुलिस के कर्मचारियों से आतंकवादियों का साथ देने का अनुरोध किया गया। अनेक स्थानों पर विरोध प्रदर्शन के लिये सभाएँ हुईं। लाला लाजपतराय, अजीतसिंह और सैयद हैदररजा ने प्रजा के हित के लिये विशेष प्रयत्न किया। सन् १९०७ में लायलपुर की एक सभा में भाषण देते हुए लाला लाजपतराय ने अँग्रेजी सरकार की तीव्र आलोचना की। लाहौर और रावलपिंडी में किसानों के दंगे उठ खड़े हुए और परिणामस्वरूप लाजपतराय और अजीतसिंह को गिरफ्तार कर लिया गया और उनको देश-निर्वासन का दण्ड मिला। रावलपिंडी में विरोध-प्रदर्शन के कारण लाला अमोलकराम, लाला हंसराज तथा लाला गुरुदासराम को भी बन्दी बना लिया गया और उनसे भारतीय दण्ड विधान की धारा १२४ 'अ' तथा ५०५ के अन्तर्गत सफाई देने के लिये कहा गया। अनेक व्यक्ति उनके मुकदमे की कार्यवाही देखने के लिये अदालत में गए परन्तु जिलाधीश ने १२½ बजे जब कि बहुत भीड़ जमा हो चुकी थी, अदालत में प्रवेश किया और मुकदमे को स्थगित कर दिया। इस पर क्रुद्ध जनता ने पास के एक गिर्जाघर को फोड़ने का प्रयत्न किया और विदेशियों के घरों में घुसकर उनको नुकसान पहुँचाया। इस उपद्रव के फलस्वरूप ६ वकीलों तथा ६ अन्य व्यक्तियों को बन्दी बना लिया गया। वकीलों को तो बाद में छोड़ दिया परन्तु अन्य व्यक्तियों को बन्दीगृह में भेज दिया गया।

विदेशों में भारतियों द्वारा संगठित आतंकवादी संस्थाओं का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में पंजाब के एक नवयुवक

हरदयाल के प्रयत्न भी उल्लेखनीय हैं। उन्होंने सन् १६११ में अमरीका में कैलीफोर्निया के स्थान पर 'गदर पार्टी' को सगठित किया तथा इस पार्टी की ओर से गुरमुखी तथा उर्दू भाषा में दो पत्र भी सम्पादित किये। इन पत्रों में उन्होंने भारत में अँग्रेजी शासन की तीव्र आलोचनाएँ प्रकाशित कीं जिनका कनाडा, अमरीका में प्रवसित भारतियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। पेरिस तथा लन्दन में स्थापित सस्थाओं की भाँति उन्होंने भी भारतियों की नाना प्रकार से सहायता करने के प्रयत्न किये। सन् १६१४-१८ में प्रथम महायुद्ध में 'गदर पार्टी' के अनेकों सदस्य जर्मनी गए और उन्होंने अँग्रेजों के विरुद्ध भारतियों की सहायता करने का प्रयत्न किया। विदेशों में कार्यशील आतकवादियों ने भी भारतीय राजनीति को प्रभावित करने में बड़ा योग दिया।

भारतीय राष्ट्रीयता के विकास पर लिखने वाले कुछ ग्रन्थकारों का मत है कि 'आतकवादी आन्दोलन का भारत की वैधानिक प्रगति एव राष्ट्रीयता के विकास पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।[1] परन्तु हम इस प्रकार के विचार से सहमत नहीं हैं। वास्तव में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट बहुत दिनों से भारतियों की माँगों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दे रही थी और आतकवादी कार्यवाहियों ने उसके कान खड़े कर दिये। अँग्रेज और अँग्रेजी राज्य के कर्मचारियों का जीवन भारत में असुरक्षित हो जाने के कारण इङ्गलैंड की जनता एव ऐङ्गलो-इण्डियन पत्रकारों में बड़ी हलचल मच गई। अब अँग्रेजी सरकार ने सुधार की ओर विशेष ध्यान देना आरम्भ किया। आतंकवादियों को निर्बल बनाने के उद्देश्य से उसने मुसलमानों, जागीरदारों, देशी राजाओं और काँग्रेस के नरम दल को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। भारत-मन्त्री के पास भेजे गए सुधार के प्रस्ताव नरम दल वालों को सतुष्ट करने के उद्देश्य से भेजे गए थे। सन् १६०६ और सन् १६१६ के अधिनियमों के पास होने में आतकवादी आन्दोलन का बहुत प्रभाव पड़ा।

जहाँ तक राष्ट्रीयता के विकास का सम्बन्ध है यह कहना असत्य है कि आतंकवादी आन्दोलन से देश में जागृति उत्पन्न नहीं हुई। जब कि भारत के अनेक स्थानों, बगाल, महाराष्ट्र, पंजाब, मद्रास आदि में आतंकवादी कार्यवाहियाँ जोरों से चलती रहीं, यह कैसे सभव था कि जनता पर

1. J P Sud. "Bharat ka Rastriya Andolan Tatha Vaidhanik Vikas".

उनका प्रभाव न पड़ता। उनके द्वारा प्रयोग किये गए साधनों के फलस्वरूप देश में जागृति, साहस और अँग्रेजी राज्य के विरुद्ध विरोध उत्पन्न होना स्वाभाविक था।

आतकवादी आन्दोलन ने सरकार की दमन-नीति को भी प्रोत्साहन दिया। अपने शासन की सुरक्षा के लिये अँग्रेजों ने आतकवादियों तथा उग्रवादियों को कुचलने का भरसक प्रयत्न किया। इसी उद्देश्य से इस समय अनेक दमनकारी नियम बनाये गए जिनमें 'विस्फोट पदार्थ नियम' (Explosive Substances Act), 'विद्रोही-सभा नियम' (Seditions Meetings Act), 'फौजदारी सशोधन नियम' (Criminal Law Amendment Act), 'समाचार-पत्र नियम' (News papers Act) आदि मुख्य थे। अनेक व्यक्तियों को जेल तथा अंडमान द्वीपों की यात्रा करनी पड़ी, अनेकों को फासी का दण्ड मिला। राजनीतिक बन्दियों के लिये 'सरसरी जाँच' (Summary Trial) सम्बन्धी एक नया नियम बनाया गया। इन्हीं नियमों से सरकार का दमन-चक्र पूरा नहीं हुआ। पुलिस सरगर्मी से आतकवादियों का पीछा कर रही थी। उनको पकड़कर कड़े-कड़े दण्ड दिये जाते थे। परन्तु आतंकवादी आन्दोलन सरकार के दमन चक्र की उपेक्षा करता हुआ, समस्त देश में चलता रहा और ये कार्यवाहियाँ सन् १६१६ के अधिनियम के पास हो जाने के बाद भी जारी रहीं।

अध्याय ६

होमरूल-आन्दोलन

सूरत के विच्छेद के पश्चात् कुछ समय के लिये देश में उग्रवादियों और आतंकवादियों का बोलबाला रहा। सरकार के दमन-चक्र के कारण अनेकों को फांसी का दण्ड मिला, अनेकों ने जेल-यात्रा की और अनेकों को कालेपानी भेज दिया गया। उदारवादी दल के नेता अपनी वैधानिक एवं शान्तिपूर्ण प्रणाली से कार्य करते रहे और 'होमरूल' के समय तक देश में कोई अन्य राष्ट्रीय आन्दोलन सभव न हो सका।

परिभाषा

'होम-रूल' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग दादाभाई नौरोजी ने सन् १९०६ में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में किया था।[1] इस प्रकार तो 'होम-रूल' का इतिहास बहुत पुराना प्रतीत होता है। वास्तव मे इस नाम का आन्दोलन सन् १९१६ में तिलक और एनीबीसेन्ट की कार्यवाहियों का परिणाम था। परन्तु इस शब्द का अर्थ उस समय प्रत्येक व्यक्ति के लिये समान नहीं था। अम्बिकाचरन मजूमदार इसका अर्थ पार्लियामेण्ट-युक्त शासन-प्रणाली से लेते थे। उनके अनुसार 'होम-रूल', 'स्व-शासन' और 'स्वराज्य' में कोई अन्तर नहीं था क्योंकि इन सबका आधार 'प्रतिनिधि-शासन' है।[2] इस प्रकार की व्याख्या बड़ी विस्तृत है परन्तु इस आन्दोलन के नेता इससे पूर्ण सहमत थे। स्वयं तिलक का विचार था कि 'स्वराज्य के ध्येय' की व्याख्या करते समय दादा भाई नौरोजी का आशय होम-रूल से था। बाद में स्वराज्य का शब्द 'स्व-शासन' में परिवर्तित हो गया और अन्त में 'स्व-शासन' को राष्ट्रीयवादियों ने 'होम-रूल' कहना आरम्भ कर दिया। वास्तव में ये तीनों शब्द एक ही विचार को प्रकट करते हैं।' तिलक ने स्वयं इस शब्द की परिभाषा की है

1. Hindustan Review ' July 1917.
2. The Indian Review ' Jan 1917.

और उनके कथनानुसार वह परिभाषा इतनी सरल है कि एक साधारण व्यक्ति भी उसे समझ सकता है। इस शब्द से उनका आशय इस प्रकार की स्वतन्त्रता था जैसी कि इङ्गलैंड तथा उसके उपनिवेशों में विद्यमान थी।[1] वास्तव में होमरूल आन्दोलन का लक्ष्य देश में एक प्रजातन्त्र राज्य की स्थापना था जिसमें देश के प्रतिनिधियों द्वारा शासन किया जाये। विदेशी राज्य के भार से मुक्ति इसका मुख्य उद्देश्य था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं था कि अँग्रेजों से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जाये। एस०पी० सिन्हा ने इस विचार को और भी स्पष्ट कर दिया था। उनके कथनानुसार 'स्व-शासन' की चर्चा करने वाला कोई भी भारतीय उस समय इङ्गलैंड एव भारत के सम्बन्धों के विच्छेद की कल्पना नहीं करता था।[2] होम-रूल आन्दोलन के काल में भारतीय स्वतन्त्रता का आदर्श ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वाधीनता प्राप्त करना था।[3] 'होम-रूल' आन्दोलन की दूसरी विशेषता यह थी कि यह पूर्णतः अहिंसात्मक था। तिलक खुलेआम कहा करते थे कि कांग्रेस ने 'होम-रूल' का प्रस्ताव पास कर दिया है, और अब हम सब को वैधानिक उपायों से इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना है।[4] आतंकवादी अथवा अराजकतावादी कार्यवाहियों का इस आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं था। तीसरे, यह आन्दोलन शांति के लिये बाधक नहीं था। परन्तु अहिंसात्मक होते हुए भी अँग्रेजी सरकार के लिये तो यह उतना ही घातक था जितना कि एक हिंसक आन्दोलन, क्योंकि दोनों का लक्ष्य भारत में उसका अन्त करना था। इसलिये यह आन्दोलन भी सरकार के दमन-चक्र का भागी हुआ।

कारण

उदारवादियों की दुर्बलता—

यद्यपि सूरत के विच्छेद के पश्चात् उग्रवादी नेताओं को कांग्रेस से अलग कर दिया गया परन्तु जनमत उनके पक्ष में था। उग्रवादी विचारधारा की छाप लोगों के हृदयों से मिटाई नहीं जा सकती थी और सन् १६१६ के कांग्रेस के अधिवेशन में उग्रवादियों का बहुमत हो जाने के कारण उनकी शक्ति और भी अधिक बढ़ गई। इधर, उदारवादी नेताओं में गोखले तथा फीरोजशाह मेहता के स्वर्गवास हो जाने के कारण ये दल बहुत निर्बल हो गया था और इसके पास उग्रवादियों का विरोध करने के लिये कोई

---

1 Indian Review Jan 1917.
2 Indian Review May 1917
3 Indian Review August 1917
4 Indian Review May, 1917

रचनात्मक योजना नहीं रह गई थी। महायुद्ध को छिड़े हुए दो वर्ष व्यतीत हो चुके थे, भारत आरम्भ से ही मित्र-राष्ट्रों का साथ दे रहा था, परन्तु युद्ध की समाप्ति के पश्चात् संसार के स्वतन्त्र राज्यों में भारत का क्या स्थान होगा, इसका निर्णय करने के लिये अँग्रेजी सरकार ने अभीतक कोई योजना नहीं बनाई थी। इसलिये उग्रवादी नेताओं ने देश के लिये एक ऐसी स्वतन्त्रता की माँग आरम्भ करदी जैसी कि अँग्रेजी राज्य के स्व-शासित उपनिवेशों को प्राप्त थी।

हिन्दू-मुस्लिम एकता—

'होम-रूल' आन्दोलन की प्रगति का एक कारण यह भी था कि अब हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे की ओर बढ रहे थे। हिन्दू लोग तो उनकी मैत्री प्राप्त करने के अवसर की प्रतीक्षा कर ही रहे थे मुसलमानों को भी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण उनका सहयोग प्राप्त करने की चिंता हुई।[1] सन् १६१५ में कांग्रेस और लीग दोनों का वार्षिक अधिवेशन बम्बई में हुआ और दोनों संस्थाओं में बराबर सौहार्द की भावना के प्रदर्शन से ऐसा प्रतीत होता था कि अँग्रेजों की 'विभाजन एवं शासन' की नीति असफल हो गई है। 'होम-रूल' आन्दोलन में भाग लेने वाले लोगों ने सन् १६१६ की कांग्रेस-लीग-योजना को स्वीकार कर लिया और मुसलमानों ने इस आन्दोलन में सहयोग दिया।

महायुद्ध—

महायुद्ध के छिड़ जाने के पश्चात् मित्र-राष्ट्र बार-बार यह घोषणा कर रहे थे कि इसका उद्देश्य दुर्बल राष्ट्रों के अधिकारों को सुरक्षित रखना है। प्रजातन्त्रवाद और आत्मीय-सत्ता (Self determination) का वे ढिंढोरा पीट रहे थे। इससे भारतियों को भी यह आशा हो गई कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात उनके अधिकार भी उनको मिल जायेंगे। इसलिये, उन्होंने पहले से ही अपना होम-रूल का लक्ष्य निर्धारित कर उसकी माँग शुरू करदी।

चम्पारन की घटना—

चम्पारन के किसानों के सम्बन्ध में महात्मा गाँधी के विरुद्ध जो कार्यवाही की गई उससे देशवासियों में और भी उत्तेजना उत्पन्न हुई। बहुत समय से विहार के चम्पारन प्रदेश में नील के पौधों की खेती हो रही थी।

1. See Chapter VII on 'Lucknow Pact'.

परन्तु अब नील बनाने की रासायनिक विधि ज्ञात हो जाने के कारण अँग्रेजों ने इनके ठेके बन्द कर दिये। फलस्वरूप अनेकों किसान बेकार हो गए। उन्होंने अन्य उपजों के लिये भूमि का उपयोग करने की माँग की परन्तु इसके लिये उनसे कई गुना अधिक रकम मागी गई। महात्मा गाँधी ने उन किसानों के भार को कम करने के लिये आग्रह किया। भूमि की कीमतें कम होगईं परन्तु सरकार ने महात्मा गाँधी के विरुद्ध कार्यवाही शुरू कर दी। इस पर बिहार की जनता ने विरोध किया और कार्यवाही स्थगित कर दी गई।[1] इस घटना से भारतियों में बड़ी जागृति उत्पन्न हुई और उन्होंने समझ लिया कि स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर ही उनके अधिकार एवं हितों की रक्षा हो सकती थी। उन्होंने 'होम-रूल' आन्दोलन में भरसक योग दिया।

पब्लिक सर्विस कमीशन रिपोर्ट—

पब्लिक सर्विस कमीशन की रिपोर्ट भी इसी समय प्रकाशित हुई। यह बड़ी असन्तोषजनक थी। इसके अनुसार भारत में सिविल सर्विस की परीक्षाओं की माँग को ठुकरा दिया गया। इसके अतिरिक्त इसका अन्य विवरण भी भारतियों के लिये हितकर नहीं था। पण्डित हृदयनाथ कुंजरू ने इस सम्बन्ध में कहा था कि भारत निवासियों के लिये इस रिपोर्ट को सहन करना कठिन होगा। साठ वर्षों से वे अंग्रेजों की भारतियों को उच्च पदों से वंचित रखने की नीति के विरुद्ध आवाज उठा रहे हैं परन्तु कमीशन की इस रिपोर्ट ने उनकी माँग को पूर्णतः अस्वीकार किया था।[2]

विदेशों में अपमान—

विदेशों में भारतियों का अपमान, भारत में अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध होने वाले प्रत्येक आन्दोलन का एक कारण था। इकरारनामों (indentured system) के आधार पर अनेक भारतवासी विदेशों में ले जाये जाते थे और फिर वहाँ पर उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता था। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में कनाडा में ५१७० भारतीय बसे हुए थे। वहाँ की सरकार को यह भय होने लगा कि कहीं इनकी संख्या बढ़ने न पाये, फलस्वरूप एशियाई लोगों के प्रवेश के विरुद्ध एक नियम पास किया गया। इससे लोगों में विशेषकर सिक्खों में बड़ा असन्तोष उत्पन्न हुआ। विदेशों में होने वाले अत्याचारों पर प्रकाश डालते हुए श्री के० एम० पाणीकर

1 'India' in the year 1917-18
2 Indian Review, Jan 1917

ने लिखा था कि जहाजों में भारतीय यात्रियों के लिये पहिले दर्जे के टिकट नहीं दिये जाते थे। यदि कोई भारतीय बैरिस्टर भी किसी सवारी में घुसता था तो वहाँ बैठा हुआ साधारण योरुपियन भी उठकर चला जाता था। मैगडेलिन कालिज में भारतियों को प्रवेश नहीं किया जाता था। दक्षिणी अफ्रीका में अत्याचार हो रहे थे। पौलक (Polak) ने अपनी पत्रिका[1] में इन अमानुषिक अत्याचारों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। नैताल में भारतियों के साथ गुलामों का सा वर्ताव किया जाता था। केप कालोनी में भारतीय बच्चों को सार्वजनिक स्कूलों में प्रवेश नहीं दिया जाता था। भारतीय यात्रियों को होटलों में रहने की सुविधा नहीं थी। भारतियों के लिये रजिस्ट्रेशन अनिवार्य था। यदि वे अपने को रजिस्टर नहीं करवाते थे तो उन पर मुकद्दमे चलाये जाते थे। फेरी वालों के लिये आज्ञापत्र लेना आवश्यक था। चुंगी के अधिकारी उनके लिये अनेक रुकावटें पैदा करते थे।[2] क्योंकि चुंगी के सदस्य भारतीय व्यापार के विरोधी थे।[3] विदेशों में ले जाये जाने वाले लोगों को तरह-तरह के विश्वास दिलाये जाते थे। उदाहरणार्थ, एक बार अपने को ब्राह्मण बतलाने वाले एक व्यक्ति ने इलाहाबाद के एक कायस्थ को बहकाया और उसे पुरी में अध्यापक का पद दिलाने का विश्वास दिलाया। परन्तु उसे कलकत्ता ले जाया गया और उसके पश्चात उसे वहाँ से फीजी द्वीपों के एक डिपो में काम करने के लिये भेज दिया गया।[4] इस प्रकार की सूचनायें रोष की भावना उत्पन्न कर आन्दोलन की ही प्रेरणा दे सकती थी।

मैसोपोटामिया कमीशन रिपोर्ट—

'होमरूल' आन्दोलन की प्रगति में 'मैसोपोटामिया कमीशन रिपोर्ट' (Mesopotamia Commission Report) का भी बड़ा हाथ था। इस रिपोर्ट के प्रकाशित होने पर अंग्रेजी सरकार की अयोग्यता लोगों को स्पष्ट रूप से मालूम हो गई। भारतियों ने अब सरकार की योग्यता की तीव्र आलोचना आरम्भ कर दी और इस प्रकार उसकी कठिनाई को और भी बढ़ा दिया।

सुरक्षा का अभाव—

संक्षेप में, भारतियों की प्रतिष्ठा पर आघात करने वाले अँग्रेजी सरकार के कार्यकलाप 'होम-रूल' आन्दोलन के कारण बने। सरकार की नीति से

---

1 "The Indians of South Africa—Helots within the Empire and how they are treated".

2. Satyagrah in South Africa by M K Gandhi. Translated from Gujrati by Valji Govind Desai.

3. Modern Review, April 1916.

4. India in the year 1917-18

यह स्पष्ट था कि भारतियों को उनके अधिकार नहीं मिलेंगे। उदाहरणार्थ, शस्त्र-नियम (Arms Act) द्वारा भारतियों को बिल्कुल निःशस्त्र बना दिया गया था और इस पर भी उनको जीवन की सुरक्षा की कोई गारटी नहीं दी गई थी। देश में हिन्दू-मुस्लिम दगे होते रहते थे और उनमें अनेक भारतियों की जानें जाती थीं।

घटनाएँ

उपर्युक्त परिस्थितियों में 'होम-रूल' आन्दोलन की प्रगति स्वाभाविक थी। उग्रवादी दल के नेता कांग्रेस की विलम्बी नीति से बड़े असन्तुष्ट थे और उनकी सम्मति में इस आन्दोलन का छेड़ना अति आवश्यक था। कांग्रेस की ब्रिटिश कमेटी इङ्गलैंड में बड़ा अच्छा कार्य कर रही थी। सन् १६१५ में तो कांग्रेस ने यह अनुभव किया कि होम रूल लीग की स्थापना की कोई आवश्यकता नहीं थी क्योंकि लीग और कांग्रेस स्वराज्य प्राप्ति के प्रयत्न करने के लिये पर्याप्त थीं।[1] परन्तु वास्तव में हिन्दू तथा मुसलमानों को समान स्तर पर लाने के लिये इसकी स्थापना आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त कांग्रेस और लीग दोनों ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के कार्यों में यथेष्ट शक्ति का उपयोग नहीं कर रही थीं। तिलक ने कांग्रेस को यह समझाने का भरसक प्रयत्न किया कि इङ्गलैंड में भारतियों की माँगों की आवाज बुलन्द करने के लिये एक डेपूटेशन भेजा जाये। परन्तु कांग्रेस ने ऐसा नहीं किया। फलस्वरूप २३ अप्रैल सन् १६१६ को पूना के स्थान पर अपनी तिलक ने होम रूल लीग की स्थापना की। इस प्रकार एनी बीसेन्ट की लीग से यह छः महीने पूर्व स्थापित हो गई थी।[2] एनीबीसेन्ट भी भारत के लिये जोरदार कार्यवाहियों के पक्ष में थीं। उन्होंने मद्रास के गोखले हॉल में १ सितम्बर सन् १६१६ को एक अलग 'होम-रूल लीग' की स्थापना की और तिलक की लीग से विभिन्नता प्रदर्शित करने के उद्देश्य से उन्होंने अपनी लीग का नाम 'अखिल-भारतीय होम-रूल-लीग' (All India Home Rule League) रख लिया।

'होम-रूल' आन्दोलन शीघ्र उन्नति कर गया और शीघ्र ही समस्त भारत इसके पक्ष में हो गया। सब लोगों ने मिलकर उच्च स्वर से स्वतन्त्रता की माँग की और होम-रूल लीग की शाखायें देश भर में फैल गई। 'होम-रूल का प्रचार बड़े जोरों से किया गया। यद्यपि स्वतन्त्रता प्राप्त करने की

---

1 Indian Review Jan 1917

2 Pattabhi Sitaramayya The History of the Indian National Congress

भावना समस्त देश के निवासियों में थी, इस आन्दोलन का जोर बम्बई और मद्रास प्रेसीडेन्सी में अति अधिक रहा। इसी प्रदेश में होम-रूल लीग की सबसे अधिक शाखाएँ थीं और इस दिशा में सबसे अधिक पैमाने पर कार्य दक्षिण और मद्रास प्रेसीडेन्सी में हुआ।[1]

एनीबीसेन्ट ने अपने दैनिक पत्र 'न्यू इण्डिया' तथा साप्ताहिक "कामनवील" द्वारा तथा तिलक ने 'केसरी' एव 'मरहठा' द्वारा 'होम-रूल' का प्रचार किया। फल यह हुआ कि दक्षिण का साधारण व्यक्ति भी अब यह अनुभव करने लगा कि देश की स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक है। बीसेन्ट ने लोगों को समझाया कि स्वतन्त्रता उनका जन्म-सिद्ध अधिकार है। सरकार ऐनी बीसेन्ट को शाति के लिये इतना खतरनाक समझती थी कि कुछ प्रान्तों में घुसने की उन्हें आज्ञा नहीं थी। बम्बई सरकार को विश्वास था कि उनकी कार्यवाहियों से शाति का भंग होना आवश्यक है। अतः बम्बई में उनके प्रवेश का निषेध कर दिया गया।[2] मद्रास सरकार ने उनको बन्दी बना लिया और उनके किसी अन्य स्थान पर चले जाने की शर्त मानने पर ही छोड़ने को कहा। एनीबीसेन्ट के इङ्गलैंड वापिस लौटने को सरकार बहुत अच्छा समझती थी। परन्तु बीसेन्ट कायर नहीं थीं। वह बन्दीगृह से बचने के लिये भारतवर्ष को छोड़ना अच्छा नहीं समझती थीं।[3] सरकार ने उनसे दो हजार रुपये की जमानत मांगी क्योंकि उन्होंने सरकार की नीति एव उसकी कार्य पद्धति की तीव्र आलोचना की थी। मद्रास सरकार के आग्रह के कारण लार्ड चेम्सफोर्ड ने उनको तथा उनके दो साथियों अरण्डेल (Arundale) तथा वाडिया (Wadia) को नजरबन्द कर लिया और राजनीतिक सभाओं में उनके भाषण देने के विरुद्ध आज्ञाएँ प्रकाशित की गई।[4] इन लोगों से कहा गया कि वह सरकार द्वारा बताये गये स्थानों में से अपने रहन के लिये कोई एक स्थान छाँट लें। उन्होंने उटकमड में रहना पसन्द किया।

मद्रास सरकार की इस दमन-नीति के फलस्वरूप 'होम-रूल' आन्दोलन और भी प्रगतिशील हो गया और बड़े विख्यात व्यक्तियों ने इसकी सदस्यता स्वीकार कर ली। बुद्धि-जीवियों की सम्मति में इस आन्दोलन का उद्देश्य ठीक था। यह आन्दोलन पूर्णत वैधानिक था और हिंसा का इसमें

1. Modern Review . Dec 1916
2. Modern Review, Aug 1916.
3. Hindustan Review July 1917.
4. India in the year 1917-18.

लश-मात्र अंश भी न था। इसलिये इसके दबाने के लिये सरकार द्वारा 'भारतीय रक्षा का नियम' (Defence of India Act) का प्रयोग लोगों को बहुत बुरा प्रतीत हुआ।[1] सरकार के इस कार्य से राष्ट्रवादियों को और भी प्रोत्साहन मिला। एनीबीसेन्ट को कारावास से मुक्त कराने के लिये सारे देश में आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। सरकार ने समझ लिया कि उनको मुक्त करने पर ही स्थिति ठीक हो सकती है और उनको छोड़ दिया गया। उनकी सेवाओं को मान्यता प्रदान करने के लिये कांग्रेस ने सन् १६१७ के आगामी अधिवेशन में उन्हे अपना अध्यक्ष चुना क्योंकि उस समय भारतीय राष्ट्रवादियों के हाथों में यही सबसे उच्च पद था।[2]

तिलक 'होम-रूल' आन्दोलन के मुख्य प्रवर्त्तकों में थे। उनको भी सरकार के दमन-चक्र का सामना करना पड़ा। पूना के जिलाधीश ने उनको अपनी कार्यवाहियों को ठीक रखने के लिये चेतावनी दी और इसके लिये उनसे चालीस हजार रुपये की जमानत मॉंगी। परन्तु बम्बई के हाईकोर्ट के न्यायाधीश ने इस निर्णय को रद्द कर दिया। यह खबर सारे देश में बिजली की तरह दौड़ गई और देश प्रेमियों को इससे अत्यत प्रसन्नता हुई।[3]

आन्दोलन की असफलता

इसी समय इङ्गलैंड के उदारवादी दल के नेता ई० एस० मान्टेग्यू भारत मन्त्री हुए। २० अगस्त सन् १६१७ को उन्होंने ब्रिटिश लोकसभा में एक महत्त्वपूर्ण घोषणा की जिसके अनुसार अंग्रेजी सरकार की भावी नीति में भारतियों के अधिकाधिक योग का वचन दिया गया। उन्होंने यह भी घोषित किया कि वे शीघ्र ही राजनीतिक प्रश्नों पर भारतीय नेताओं एवं सरकार से सलाह करने के लिये भारत आने वाले हैं। इस घोषणा से भारतियों को कुछ समय के लिये सान्त्वना मिल गई।

एनीबीसेन्ट की कारावास से मुक्ति, तिलक के मुकदमे में हाईकोर्ट के निर्णय तथा मान्टग्यू की भारत-यात्रा ने देश की राजनीति को बड़ा प्रभावित किया। इनसे 'होम-रूल' आन्दोलन का विकास रुक गया और राष्ट्र का ध्यान सुधारों की ओर आकर्षित हो गया। होम-रूल लीग तथा मुस्लिम लीग ने भारतमंत्री मान्टेग्यू को एक सयुक्त सम्मान-पत्र भेंट किया जिसमें इस बात पर

---

1 Hindustan Review, July, 1917
2 Hindustan Review, Sept 1917,
3. Modern Review, Dec 1917

जोर दिया गया कि उनके 'होम-रूल' की माँग सिद्धान्त पर आधारित थी और राजनीतिक दासता अब उनके लिये असहनीय थी।[1] परन्तु वास्तव में 'होमरूल' आन्दोलन की शक्ति अधिकाश रूप में उसके विधान की कठोरता के कारण चूर्ण हुई। कालान्तर में होम-रूल लीग काग्रेस में मिल गई और इस आन्दोलन में भाग लेने वाले लोगों ने काग्रेस के ध्वज को भी अपना लिया। सन् १६१७ में काग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में एनीबीसेण्ट ने अपनी अध्यक्षता में 'होमरूल लीग' तथा काग्रेस को मिला दिया और इस प्रकार यह आन्दोलन समाप्त हो गया।[2]

परिणाम

'होम-रूल' आन्दोलन के फलस्वरूप देश में राजनीतिक चेतना एवं जागृति को बड़ा प्रोत्साहन मिला। विशेषकर दक्षिणी भारत में इसका प्रभाव अधिक पड़ा। वैसे तो जब कभी कोई आन्दोलन देश में उत्पन्न होता था उसका स्वाभाविक परिणाम, देशवासियों में आत्म-सम्मान, उत्साह तथा अँग्रेजी सरकार के प्रति रोष एव विरोध की भावना में वृद्धि होती थी। इस आन्दोलन ने भी इसी दिशा में भारतियों को उत्तेजित किया। यद्यपि यह आन्दोलन शीघ्र ही समाप्त हो गया तथापि इसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली चारित्रिक दृढता एव राष्ट्रीय-एकता भावी आन्दोलनों के लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई। इसके अतिरिक्त भारत की वैधानिक प्रगति पर भी इस आन्दोलन ने अपना प्रभाव डाला। इसने अँग्रेजों के दिमाग में यह धारणा दृढ करदी कि जबतक वे भारतियों को संतुष्ट करने के लिये ठोस कदम न उठायेंगे उनका भी भारत में चैन से रहना मुश्किल होगा। सन् १६१६ का अधिनियम 'होम-रूल' आदोलन की आशिक सफलता का सूचक है।

---

1 Hindustan Review, Dec. 1917.
2 Pattabhi Sitaramayya The History of the Indian National Congress.

अध्याय ७

लखनऊ का समझौता

कारण .

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ—

पिछले अध्याय में हम यह बतला चुके हैं कि 'होम-रूल' आन्दोलन की प्रगति का एक कारण यह था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों एक दूसरे की ओर बढ़ रहे थे। अन्तर्देशीय तथा राष्ट्रीय परिस्थितियाँ मुसलमान नेताओं को कांग्रेस की ओर समीट रही थीं और अब वे यह अनुभव करने लगे थे कि कांग्रेस के साथ मित्रता करने पर उनके अधिकार अधिक सुरक्षित रहेंगे।[1] बल्कान युद्धों (१६११-१३) के छिड़ने के काल से ही भारतीय मुसलमानों में जातीय भावनाएँ जागृत हो गई थीं और इन युद्धों की प्रगति के साथ-साथ इन भावनाओं ने और भी उग्ररूप धारण कर लिया था। उन्हें तुर्की के सुल्तान की रक्षा की चिंता हो गई थी क्योंकि वह संसार के सब मुसलमानों का खलीफा था। रूस के फारस पर अत्याचार तथा इटली के ट्रिपोली पर आक्रमण के कारण तुर्की राज्य सुरक्षित न रहा। भारतीय मुसलमानों का अब इस सम्बन्ध में बड़ी फिक्र होने लगी थी। सैयद अमीर अली ने तुर्की के मुसलमानों की सहायता करने के लिये चन्दा इकट्ठा करना आरंभ किया। आगाखाँ ने भी २००० पौण्ड का चन्दा "ब्रिटिश रैड क्रैसेन्ट फन्ड" (British Red Crescent Fund) को दिया। उन्होंने मुसलमानों को यह भी आदेश दिया कि वे अपनी समस्त कार्यवाहियों को स्थगित कर तुर्की के मुसलमानों की सहायता पर पूरा-पूरा ध्यान दें। मौलाना शौकतअली ने भी सहायता कार्य के लिये कुछ स्वयंसेवकों को संगठित किया। उन्होंने लोगों में भाषण दिये और कहा कि ऐसे संकटकाल में किसी भी मुसलमान को मौन दर्शक नहीं बने रहना चाहिये। उन्होंने तुर्की के मुसलमानों की सहायता के लिये भारतीय मुसलमानों से अपील की।[2]

---

1 Author's own book, The Muslim League—its History, Activities and Achievements

2 Mazhar Ansari Tarikh-i-Muslim League

मुहम्मदन ऐंग्लो ऑरियन्टल कॉलिज के विद्यार्थियों ने अपने जेबखर्च में से बचत करके बल्कान युद्धों में तुर्की के लिये सहायता पहुँचाई। उनका यह जोश इतना बढ़ गया कि स्वयं उत्तर प्रदेश के लैफ्टीनैन्ट-गवर्नर कॉलिज गए और उन्होंने विद्यार्थियों को समझाया कि वे अपने स्वास्थ्य को अपने खाने में कमी करके न बिगाड़ें, बल्कि अपनी शक्ति एवं समय का अधिक से अधिक उपयोग विद्याध्ययन में करें।

लीग के उद्देश्यों में परिवर्तन—

इन परिस्थितियों का परिणाम यह हुआ कि लीग के आगामी अधिवेशन (३१ दिसम्बर १९१२) में आगाखाँ की अध्यक्षता में उसके उद्देश्य में परिवर्तन हो गया। इस अधिवेशन में अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से मोहम्मदअली, महमूदाबाद के राजा, जहाँगीराबाद के राजा, मजहर-उल-हक तथा सैयद नबी-उल्लाह उपस्थित थे। इन लोगों में भारी वाद-विवाद इस विषय पर हुआ कि भारत के लिये स्वतन्त्रता का लक्ष्य निर्धारित कर दिया जाये। बहुत से उपस्थित मुसलमान सदस्य एवं पत्रकार इस विचार से सहमत थे।[1] अन्त में 'यथोचित स्वशासन' (Suitable Self-government) को मुस्लिम-लीग का लक्ष्य स्वीकार कर लिया गया। इस सम्बन्ध में 'यथोचित' शब्द का समावेश महत्त्वपूर्ण है। मुसलमान अभी ऐसे शासन की कल्पना कर रहे थे जो उनके दृष्टिकोण से उनके राजनीतिक हितों की रक्षा करे। देश की स्वतन्त्रता की ओर मुस्लिम लीग का यह पहिला कदम था। परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति भी लीग के जन्म के समय निर्धारित किए गए तीनों उद्देश्यों की पूर्ति के आधार पर रखी गई।[2] फिर भी 'यथोचित स्वशासन' की घोषणा कम महत्वपूर्ण नहीं थी क्योंकि इसके द्वारा लीग तथा भारत की अन्य जातियों के बीच समझौते का द्वार खुल गया।

जिन्ना के प्रयत्न—

सन् १९१३ में लीग के लखनऊ अधिवेशन के अवसर पर भी मुसलमानों का जनमत हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्ष में था। सन १९१४ में महायुद्ध छिड़ जाने के कारण लीग का कोई अधिवेशन संभव न हो सका। सन् १९१५ में मुस्लिम लीग का अधिवेशन कांग्रेस के साथ-साथ बम्बई में हुआ। इस

1. Indian Review, Oct. 1912
2. Sayyid Tufail Ahmad : Musalmanon ka Roshan Mustaqbil and Aligarh Institute Gazette, Dec. 4, 1912

अधिवेशन में मोहम्मदअली जिन्ना ने कांग्रेस और लीग दोनों में मेल कराने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस कार्य में उन्हें कुछ कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ा। वास्तव में इस समय लीग में दो दल बन गए थे। प्रथम तो मुसलमानों को कांग्रेस से पृथक् रखने के पक्ष में था और द्वितीय उसके साथ मेल का समर्थक था। मजहर-उल-हक इस अधिवेशन में लीग के अध्यक्ष थे। जब जिन्ना को अपना प्रस्ताव प्रस्तुत करने का आदेश दिया गया तो मौलाना हसरत मोहानी ने अपने प्रस्ताव को पहिले प्रस्तुत करने का आग्रह किया। परन्तु उनको नियम-विरुद्ध होने के कारण रोक दिया गया। इस पर जिया-उल-इस्लाम के सेक्रेटरी अब्दुल रऊफखाँ (Abdul Rauf Khan) ने बड़ा शोर किया और यह जिद् की कि मौलाना हसरत मोहानी को बोलने का अवसर दिया जाये। मौलाना ने अपना भाषण दिया और अन्य वक्ताओं से अंग्रेजी का उपयोग न करने के लिये आग्रह किया। उन्होंने अन्य दलों की कांग्रेस के प्रति मैत्री-भाव की नीति पर कटाक्ष करते हुए इसकी तीव्र आलोचना भी की। इस समय लीग के सदस्यों में झगड़ा हो जाने की पूरी सम्भावना थी। परन्तु उस दिन कार्यवाही स्थगित कर दी गई। दूसरे दिन ताजमहल होटल में मोहम्मदअली जिन्ना के अनुयायियों की एक बैठक हुई और वे एक ऐसी कमेटी की नियुक्ति का प्रस्ताव पास करा सके जो हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच समझौता कराने की योजना बनाए। यह सारी घटना हमें सूरत के विच्छेद का स्मरण कराती है क्योंकि कुछ अंशों में यह उससे मिलती-जुलती है। वास्तव में कांग्रेस तथा लीग के इन्हीं अधिवेशनों में दोनों को मिलाने की दिशा में प्रथम पद उठाया गया।

सरकार की दमन नीति—

प्रथम महायुद्ध (१६१४-१८) के आरम्भ हो जाने पर मुसलमानों की जातीय भावनाओं की उग्रता बढ़ गई। इस बार तुर्की का सुल्तान जर्मनी का मित्र था और इस प्रकार मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध था। अँग्रेजी सरकार ने सुल्तान के विरुद्ध अरब के विद्रोहियों को सहायता देना प्रारम्भ किया। भारतीय मुसलमानों को शान्त रखने के लिये यह घोषणा कर दी गई कि मित्र-राष्ट्र की सेनाएँ अरब के पवित्र स्थानों पर आक्रमण नहीं करेंगी। परन्तु इससे मुसलमानों को सन्तोष नहीं हुआ और उनमें अँग्रेजों के विरुद्ध आन्दोलन की एक लहर फैल गई। सरकार ने इस परिस्थिति का

---

1 Sayyid Tufail Ahmad   Musalmanon ka Roshan Mustaqbil

सामना करने के लिये 'भारतीय-रक्षा नियम' (Defence of India Act) से काम लिया। कुछ प्रतिष्ठित मुसलमान व्यक्ति बन्दीगृहों में भेज दिये गए। इन गिरफ्तारियों के कारण मुसलमानों में बड़ी सनसनी फैल गई और वे हिन्दुओं की ओर झुकने लगे। इस वातावरण में लीग के बम्बई अधिवेशन में मोहम्मदअली जिन्ना द्वारा नियुक्त की गई कमेटी ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। एनीबीसेन्ट ने भी हिन्दू और मुसलमानों के बीच समझौता कराने में बड़ी सहायता की। यही कारण है कि सन् १६१६ में जिन्ना की अध्यक्षता में होने वाले लीग के अधिवेशन में कांग्रेस-लीग-योजना सरलता पूर्वक पास हो सकी।

विश्व-विद्यालय की निराशा

मुसलमानों में अंग्रेजों के प्रति असन्तोष उत्पन्न करने वाली एक परिस्थिति और थी। मुहम्मदन-ऐंग्लो आरियन्टल कालेज को विश्व-विद्यालय का रूप देने के प्रयत्न बहुत दिनों से जारी थे। मुसलमान उसको एक सम्बद्ध विश्व-विद्यालय (Affiliating University) बनाना चाहते थे और साथ ही इसका नाम 'मुस्लिम यूनीवर्सिटी' रखना चाहते थे। परन्तु उनको अभी तक विश्व-विद्यालय स्थापित करने की आज्ञा प्राप्त नहीं हुई थी। और अन्त में इसका जो रूप हुआ वह उनकी कल्पना नहीं थी। यह निराशा भी उनके हिन्दुओं की ओर झुकने का कारण बनी।

कांग्रेस की उत्सुकता

कांग्रेस-लीग-योजना के बनने का अन्य कारण कांग्रेस की यह इच्छा और प्रयत्न थे कि मुसलमान राष्ट्रीय आन्दोलन में उसके साथ सम्मिलित होकर कार्य करें। सन् १६१० के इलाहाबाद अधिवेशन में कांग्रेस के अध्यक्ष सर विलियम वैडरबर्न (Sir William Wedderburn) ने कांग्रेस और लीग के बीच समझौता कराने का प्रयत्न किया था। उन्होंने अपने भाषण में फीरोजशाह मेहता, आगाखाँ तथा अमीरअली द्वारा कांग्रेस तथा लीग के नेताओं की सम्मिलित बैठक बुलाने के प्रस्ताव को स्वीकार करने की ओर संकेत करते हुए उस पर हर्ष प्रकट किया।[1] गोपालकृष्ण गोखले ने भी कांग्रेस तथा लीग को मिलाने का विशेष प्रयत्न किया। सन् १६०७ में लखनऊ तथा

1. Indian Review, Jan 1911.

अलीगढ़ के भाषणों में उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बड़ा जोर दिया और कांग्रेस तथा लीग के संयुक्त सम्मेलन में उन्होंने कहा कि प्रतिनिधि-शासन की माँग करते हुए हिन्दुओं को मुसलमानों के निर्वाचन के लिए एक न्यायपूर्ण प्रणाली की व्यवस्था करना आवश्यक है।[1] गाँधीजी ने अनेकों भाषण हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना लोगों में जागृत करने के लिये दिये। उन्होंने एक बार कहा कि सत्य का उपासक होने के नाते मेरा यह सच्चा आग्रह है कि हिन्दुओं को मुसलमानों की माँगों को सहर्ष स्वीकार करना चाहिए और एकता की आशा करने से पहिले उन्हें अपनी उदारता का परिचय देना आवश्यक है।[2] इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस आरम्भ में ही मुसलमानों को अपनी ओर मिलाने के लिये प्रयत्नशील थी और कांग्रेस-लीग-योजना को निर्धारित करने के लिये वह पहिले से तैयार थी।

समझौता

कांग्रेस-लीग सुधार योजना का आलेख (draft) अखिल भारतीय कांग्रेस समिति तथा मुस्लिम लीग की सुधार उप-समिति ने तैयार किया था। इन दोनों की सम्मिलित बैठक में सुधारों पर विचार हुआ था और अनेक विषयों पर उनमें कोई मतभेद नहीं था। उदाहरणवत् कांग्रेस तथा लीग दोनों ही भारतीय सचिव की कौंसिल को समाप्त करने के पक्ष में थे। दोनों ही केन्द्रीय धारा-सभा के सदस्यों की संख्या १५० तक तथा प्रान्तीय-धारा सभाओं की संख्या १२५ तक रखने की इच्छुक थीं।[3] मताधिकार को विस्तार देना दोनों का लक्ष्य था। इस प्रकार अनेक विषयों पर ये संस्थाएँ सहमत थीं।

परन्तु वास्तविक समस्या विभिन्न प्रान्तों में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व के अनुपात को निश्चित करने की थी। इस सम्बन्ध में उपर्युक्त समितियों की बैठक में कोई समझौता न हो सका। इसलिये कांग्रेस समिति तथा मुस्लिम-लीग को दिसम्बर १६१६ के लखनऊ अधिवेशन में इस समस्या को हल करना पड़ा। एक समान योजना निर्धारित की गई और इसके अनुसार प्रान्तीय धारा सभाओं में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व के निम्नांकित प्रतिशत स्वीकृत हुए —

1 Muhammad Amin Zubairi Marahrvi Musalmanan-i-Hind ki Siyasat-i-Watani
2 Indian Review, Oct 1909
3 Modern Review, Dec 1916

(१) पंजाब में ५०%
(२) बंगाल में ४०%
(३) बम्बई में ३३⅓%
(४) संयुक्त प्रदेश में ३०%
(५) मध्य प्रान्त में १५%
(६) मद्रास में १५%

इसके अतिरिक्त यह भी निर्णय किया गया कि यदि किसी प्रान्त में एक जाति के दो-तिहाई सदस्य किसी बिल के विरुद्ध होंगे तो वह दोनों जातियों द्वारा रद्द कर दिया जायेगा।

कांग्रेस-लीग की इस योजना में प्रथम बार मुसलमानों की पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र की माँग स्वीकृत हुई। हिन्दू नेताओं का यह विश्वास था कि निर्वाचन का पृथकत्व थोड़े दिनों बाद मिट जायगा।[1] परन्तु यह वास्तव में उनका भ्रम था। पृथक् निर्वाचन की स्थापना कर, दस वर्ष पश्चात् उसके एकीकरण की कल्पना करने से बढ़कर भूल क्या हो सकती थी। यह रोग तो आरम्भ में ही समाप्त किया जा सकता था। इसको बढ़ने का अवसर देकर मुसलमानों के देश-विभाजन की माँग को स्वाभाविक बना दिया गया।

पृथक् निर्वाचन के अतिरिक्त इस योजना द्वारा मुसलमानों की विभिन्न प्रान्तों में सीटें भी निर्धारित करदी गईं और कुछ प्रान्तों में उनका अनुपात भी जनसंख्या के प्रतिशत से बढ़ा दिया गया। इससे यह सिद्ध होता है कि अपनी आवश्यकता के समय में भी मुसलमान कितनी कूटनीति से काम ले रहे थे। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ उनको राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने के लिये प्रेरित कर रहीं थीं परन्तु फिर भी उन्होंने पृथक् निर्वाचन, सीटों के सञ्चय एवं प्रतिनिधित्व के अनुपात की माँगे कांग्रेस से समझौते के आधार पर स्वीकार करालीं।

आलोचना

इस योजना का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसके अनुसार अल्पसंख्यक समूह का प्रतिनिषेध (Veto) अधिकार स्वीकार कर लिया गया। समझौते के भलीभाँति अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू और मुसलमानों में से किसी भी जाति के दो-तिहाई सदस्य किसी बिल को रद्द

1. Sir Chiman Lal H Setalvad, Recollections and Ref-

करवा सकते थे। मुसलमानों के लिये दो-तिहाई मत का निर्माण करना कोई बड़ी बात नहीं थी क्योंकि उनकी दृढ धार्मिक मनोवृत्ति उनके सगठन का आधार थी। विशेषकर धार्मिक एव सामाजिक मामलों में हिन्दुओं का सफलतापूर्वक विरोध करते रहना उनके लिये आसान था। यह बात राजनीतिक मामलों में भी सभव थी। इधर हिन्दुओं के लिये दो-तिहाई मत का सगठन करना बड़ा कठिन था क्योंकि एक तो सभी प्रान्तों में उनकी सख्या अधिक थी और दूसरे उनके लिये धर्म की ओर से ऐसे प्रतिबन्ध नहीं हैं जो उनमे सगठन की निश्चितता को सभव बना सकें।[1] यदि यह भी मान लिया जाय कि बिलों को रद्द करने का अधिकार इस योजना मे हिन्दू तथा मुसलमानों को समान रूप से दिया गया था तो भी शासन-कार्य की सुगमता सभव नहीं थी क्योंकि किसी भी ऐसे समय में जबकि दोनों जातियों में तनातनी होती, एक-दूसरे के बिलों को रद्द करवाने की भावना से अधिक शक्ति एव समय का व्यर्थ उपयोग होता।

एक ओर तो यह योजना हिन्दुओं के लिये अहितकर थी, दूसरी ओर कट्टर मुसलमानों में इसके प्रति तनिक भी श्रद्धा नहीं थी। वह समझते थे कि लीग ने कांग्रेस के साथ समझौता करके अपने अनेक हितों को त्याग दिया है। खान बहादुर शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में अलीगढ के मुसलमानों ने इस योजना का बड़ा विरोध किया और पटना, उरई तथा जौनपुर में गौ-वध के मामले पर हुए झगड़ों की बड़ी आलोचना की। इन झगड़ों के सम्बन्ध में हिन्दू नेताओं की खामोशी पर बड़ा शोक प्रकट किया गया।[2] मुसलमान अपनी जाति के स्वार्थ को बहुत महत्व देते थे और समझौते में अपनी विजय पर भी वे सन्तुष्ट नहीं थे। ऐसी दशा में इस योजना में अधिक समय तक कार्यशील रहने की कोई सभावना नहीं थी।

इसके अतिरिक्त इस योजना पर स्वय लीग भी एकमत नहीं थी। नवविद्रोही मुसलमान पत्रकारों ने इस बात पर बड़ा असन्तोष प्रकट किया कि समझौते की समिति की कार्यवाहियों में उरई के हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों पर विचार नहीं किया गया। हिन्दू-मुस्लिम समझौते पर जोर देने वाले वक्ताओं की भी आलोचना की गई। जिन मुसलमान नेताओं को सरकार ने बन्दीगृह में भेज दिया था उनके प्रति कट्टर मुसलमान बड़े श्रद्धालु थे और उनको यह

1 Author's own book, The Muslim League—Its History, Activities and Achievements
2 Sajasat-i-Millah by Mohd Amin Zubairi

शिकायत थी कि हिन्दुओं ने उनकी गिरफ्तारी का तीव्र विरोध नहीं किया था।[1] मुहम्मदन-ऐंग्लो ओरियण्टल कालेज में दीनयात (Theology) के अध्यापक मौलाना सैयद सुलेमान अशरफ के लिये यही बहुत दुःख का विषय था कि हिन्दुओं से मेल रखने के लिये मुसलमानों ने अपने गौ-वध के मूल अधिकार को त्याग दिया था।[2]

वास्तव में परिस्थिति यह थी कि खिलाफत आन्दोलन की सफलता के लिये मुसलमानों ने अपने स्वार्थ के कारण लखनऊ के समझौते को स्थान दिया। अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन में भी मुसलमानों का सहयोग स्वार्थवश था। महायुद्ध के समाप्त होने पर तुर्की के भाग्य का फैसला होते ही उन्होंने अपने पृथकत्व के गुण को प्रदर्शित करना आरम्भ किया। वे यह कहने लगे कि हिन्दू जाति स्वयं दुर्बल और दोषपूर्ण है। उसे दूसरों पर लाछन लगाने का कोई अधिकार नहीं है। अछूतों के प्रति दुर्व्यवहार की आलोचना की गई और यह तर्क दिया गया कि यदि हिन्दू, मुसलमानों के लिये चाण्डाल शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनके लिये भी हिन्दुओं को काफिर कहना उचित है।[3] गाँधीजी के चरखे का मुसलमान जाति ने तिरस्कार किया क्योंकि उनकी जाति में इसका प्रयोग मनुष्यों के लिये अनुपयुक्त था।[4] इसी समय हाईकोर्ट के एक वकील हसरत हुसैन ने इस बात पर जोर दिया कि महायुद्ध के समाप्त हो जाने के कारण अब ऐसी मुसलमान संस्था की आवश्यकता है जो इस जाति का नेतृत्व करने के साथ-साथ उसे प्रगति के मार्ग पर ले जाये।[5] शौकतअली और मोहम्मदअली को भी गाँधीजी तथा हिन्दुओं के पक्ष में भाषण देने के लिये बुरा-भला कहा गया।

परिणाम

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि लखनऊ के समझौते की तह में मुसलमानों में बड़ा असन्तोष उत्पन्न हो गया था और उनमें अनेक प्रभावशाली व्यक्ति हिन्दू-मुस्लिम एकता को अनिश्चित समझते थे। फिर भी कुछ समय तक हिन्दू और मुसलमानों में मेल अवश्य रहा और होम-रूल आन्दोलन के सम्बन्ध में एनी बीसेन्ट के साथ-साथ शौकतअली और मोहम्मदअली भी राष्ट्रीय कार्यों के लिये प्रसिद्ध हो गए। क्योंकि वे भी सम्राट के प्रति कार्यवाही

1 India in the year 1917-18
2 Aligarh Institute Gazette, 26th May 1920
3. The Muslim University Gazette, 11th June 1924.
4 Aligarh Institute Gazette, 24 Sept 1923.
5. The Aligarh Institute Gazette Jan. 8, 1923.

करने के अभियोग में नजरबन्द कर दिये गये थे। खिलाफत और असहयोग आन्दोलन के समय में भी हिन्दू मुसलमानों में एकता रही परन्तु इस आवरण के पीछे यह भय सर्वदा उपस्थित था कि किसी भी अवसर पर खिलाफत आन्दोलन का प्रोत्साहन नष्ट होकर सौहार्द की भावनाओं का अन्त कर देगा।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि यद्यपि सन् १९०९ के अधिनियम द्वारा मुसलमानों की पृथक् निर्वाचन क्षेत्र एवं सीटों के सञ्चय की माँगें स्वीकार कर ली गई थीं तथापि कांग्रेस उनका सन् १९१६ तक विरोध करती आ रही थी। प्रथम बार इसे समझौते द्वारा दो जातियों के नेताओं ने इस विषय पर परस्पर विरोध का अन्त करने का यत्न किया और इसी कारण सन् १९१९ तथा सन् १९३५ के अधिनियमों में मुसलमानों की इन माँगों का समावेश किया गया। कम स कम अंग्रेजों को यह कहने का मौका मिल गया कि लीग और कांग्रेस के समस्त जीवन में जो एक समझौता हुआ है उसको ठुकराया [illegible] और इस प्रतिवाद द्वारा वे मुसलमानों के साथ पक्षपात [illegible]।

[illegible] लखनऊ का समझौता आरम्भ से ही दोषपूर्ण था। उसके [illegible] नहीं थी [illegible] यह लाभ अवश्य हुआ कि हिन्दुओं को होमरूल आन्दोलन [illegible] न्दोलन में [illegible] नों का सहयोग मिल गया और मुसलम[illegible] में हिन्दुओं की मदद मिल गई।

लखनऊ के सम[illegible] प्रोत्साहन मिला। हम देख चुके हैं [illegible], सीटों के सञ्चय आदि की [illegible] इन सबके पश्चात् पृथक् घर को [illegible] की अप्रिय घटना इसका परिणाम

अध्याय ८

प्रथम महायुद्ध (१६१४–१८ ई०)

रौलट अधिनियम और असहयोग आन्दोलन का आरम्भ

सन् १६१४ में ससार का प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ। भारतवर्ष हर प्रकार से अँग्रेजों की सहायता करने के लिये तैयार हो गया। शीघ्र ही इङ्गलैंड की ओर से लड़ने के लिये सेना तैयार की गई और उसके लिये युद्ध-सामग्री का प्रबन्ध किया गया। तन, मन, धन से भारत ने अँग्रेजों की सहायता की और भारत के निवासी युद्ध-क्षेत्रों में अँग्रेजों के साथ बराबरी से लड़े। सरकार ने देहली में एक युद्ध सम्मेलन का आयोजन किया। उसमें महात्मा गाधी ने भाग लिया और उन्होंने अँग्रेजी सरकार की धन तथा जन से सहयाता करने का वचन दिया। भारत ने ६ लाख ८५ हजार आदमी युद्ध के लिये दिये, जिनमें से ५ लाख ५२ हजार विदेशी युद्ध-क्षेत्रों में भेज दिये गए।[1] वाइसराय तथा इङ्गलैंड के प्रधानमत्री ने भारत की युद्ध-कालीन सहायता की भूरि-भूरि प्रशसा की। मित्रराष्ट्र का यह कहना था कि जनतन्त्र एवं आत्म-निर्णय (self-determination) के सिद्धान्तों की रक्षा के लिये वे युद्ध कर रहे थे ; युद्धकालीन सम्मेलनों में भारतीय प्रतिनिधियों को अन्य स्वतन्त्र उपनिवेशों के प्रतिनिधियों के साथ समान स्थान दिया जा रहा था, अतएव भारतीयों को यह आशा थी कि महायुद्ध के समाप्त होते ही उनके दासता के बन्धन तोड़ दिये जायेंगे और वे अपना एक अलग स्वतन्त्र राष्ट्र स्थापित कर सकेंगे। कम से कम वे यह आशा अवश्य करते थे कि उनको राजनीतिक सुविधाएँ प्राप्त हो सकेंगी।

परन्तु भारतीय मुसलमानों के सामने इस महायुद्ध ने एक असमजस की परिस्थिति उत्पन्न कर दी। एक ओर तो उनके सामने ग्रेट ब्रिटेन के प्रति

---

1 Dr Rajendra Prasad · A Brief Sketch of the Non-Cooperation Movement.

करने के अभियोग में नजरबन्द कर दिये गये थे। खिलाफत और असहयोग आन्दोलन के समय में भी हिन्दू मुसलमानों में एकता रही परन्तु इस आवरण के पीछे यह भय सर्वदा उपस्थित था कि किसी भी अवसर पर खिलाफत आन्दोलन का प्रोत्साहन नष्ट होकर सौहार्द की भावनाओं का अन्त कर देगा।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि यद्यपि सन् १९०९ के अधिनियम द्वारा मुसलमानों की पृथक् निर्वाचन क्षेत्र एव सीटों के सचय की माँगें स्वीकार कर ली गई थीं तथापि कांग्रेस उनका सन् १९१६ तक विरोध करती आ रही थी। प्रथम बार इसे समझौते द्वारा दो जातियों के नेताओं ने इस विषय पर परस्पर विरोध का अन्त करने का यत्न किया और इसी कारण सन् १९१९ तथा सन् १९३५ के अधिनियमों में मुसलमानों की इन माँगों का समावेश किया गया। कम स कम अंग्रेजों को यह कहने का मौका मिल गया कि लीग और कॉंग्रेस के समस्त जीवन में जो एक समझौता हुआ है उसको ठुकराया नहीं जा सकता और इस प्रतिवाद द्वारा वे मुसलमानों के साथ पक्षपात करते रहे।

इस प्रकार लखनऊ का समझौता आरम्भ से ही दोषपूर्ण था। उसके सफलता की समावना नहीं थी। इसका यह लाभ अवश्य हुआ कि हिन्दुओं को होम-रूल आन्दोलन तथा असहयोग आन्दोलन में मुसलमानों का सहयोग मिल गया और मुसलमानों को अपने खिलाफत आन्दोलन में हिन्दुओं की मदद मिल गई।

लखनऊ के समझौते से मुसलमानों को अपनी माँगों में भी प्रोत्साहन मिला। हम देख चुके हैं कि किस कूटनीति से वे अपनी पृथक् निर्वाचन, सीटों के सचय आदि की माँगों को स्वीकृत कराने मे सफल रहे थे। इन सबके पश्चात् पृथक् घर की माँग स्वाभाविक थी और देश विभाजन की अप्रिय घटना इनका परिणाम थी।

अध्याय ८

प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८ ई०)

रौलट अधिनियम और असहयोग आन्दोलन का आरम्भ

सन् १९१४ में ससार का प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ। भारतवर्ष हर प्रकार से अँग्रेजों की सहायता करने के लिये तैयार हो गया। शीघ्र ही इङ्गलैंड की ओर से लड़ने के लिये सेना तैयार की गई और उसके लिये युद्ध-सामग्री का प्रवन्ध किया गया। तन, मन, धन से भारत ने अँग्रेजों की सहायता की और भारत के निवासी युद्ध-क्षेत्रों में अँग्रेजों के साथ वरावरी से लड़े। सरकार ने देहली में एक युद्ध सम्मेलन का आयोजन किया। उसमें महात्मा गाधी ने भाग लिया और उन्होंने अँग्रेजी सरकार की धन तथा जन से सहयाता करने का वचन दिया। भारत ने ९ लाख ८५ हजार आदमी युद्ध के लिये दिये, जिनमें से ५ लाख ५२ हजार विदेशी युद्ध-क्षेत्रों में भेज दिये गए।[1] वाइसराय तथा इङ्गलैंड के प्रधानमंत्री ने भारत की युद्ध-कालीन सहायता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। मित्रराष्ट्र का यह कहना था कि जनतन्त्र एवं आत्म-निर्णय (self-determination) के सिद्धान्तों की रक्षा के लिये वे युद्ध कर रहे थे; युद्धकालीन सम्मेलनों में भारतीय प्रतिनिधियों को अन्य स्वतन्त्र उपनिवेशों के प्रतिनिधियों के साथ समान स्थान दिया जा रहा था, अतएव भारतीयों को यह आशा थी कि महायुद्ध के समाप्त होते ही उनके दासता के वन्धन तोड़ दिये जायेंगे और वे अपना एक अलग स्वतन्त्र राष्ट्र स्थापित कर सकेंगे। कम से कम वे यह आशा अवश्य करते थे कि उनको राजनीतिक सुविधाएँ प्राप्त हो सकेंगी।

परन्तु भारतीय मुसलमानों के सामने इस महायुद्ध ने एक असमजस की परिस्थिति उत्पन्न कर दी। एक ओर तो उनके सामने ग्रेट ब्रिटेन के प्रति

---

1 Dr Rajendra Prasad · A Brief Sketch of the Non-Cooperation Movement

करने के अभियोग में नजरबन्द कर दिये गये थे। खिलाफत और असहयोग आन्दोलन के समय में भी हिन्दू मुसलमानों में एकता रही परन्तु इस आवरण के पीछे यह भय सर्वदा उपस्थित था कि किसी भी अवसर पर खिलाफत आन्दोलन का प्रोत्साहन नष्ट होकर सौहार्द की भावनाओं का अन्त कर देगा।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि यद्यपि सन् १६०६ के अधिनियम द्वारा मुसलमानों की पृथक् निर्वाचन क्षेत्र एव सीटों के सञ्चय की माँगें स्वीकार कर ली गई थीं तथापि कांग्रेस उनका सन् १६१६ तक विरोध करती आ रही थी। प्रथम बार इसे समझौते द्वारा दो जातियों के नेताओं ने इस विषय पर परस्पर विरोध का अन्त करने का यत्न किया और इसी कारण सन् १६१६ तथा सन् १६३५ के अधिनियमों में मुसलमानों की इन माँगों का समावेश किया गया। कम स कम अंग्रेजों को यह कहने का मौका मिल गया कि लीग और कांग्रेस के समस्त जीवन मे जो एक समझौता हुआ है उसको ठुकराया नहीं जा सकता और इस प्रतिवाद द्वारा वे मुसलमानों के साथ पक्षपात करते रहे।

इस प्रकार लखनऊ का समझौता आरम्भ से ही दोषपूर्ण था। उसके सफलता की सभावना नहीं थी। इसका यह लाभ अवश्य हुआ कि हिन्दुओं को होम-रूल आन्दोलन तथा असहयोग आन्दोलन में मुसलमानों का सहयोग मिल गया और मुसलमानों को अपने खिलाफत आन्दोलन में हिन्दुओं की मदद मिल गई।

लखनऊ के समझौते से मुसलमानों को अपनी माँगों में भी प्रोत्साहन मिला। हम देख चुके हैं कि किस कूटनीति से वे अपनी पृथक् निर्वाचन, सीटों के सञ्चय आदि की माँगों को स्वीकृत कराने में सफल रहे थे। इन सबके पश्चात् पृथक् घर की माँग स्वाभाविक थी और देश विभाजन की अप्रिय घटना इसका परिणाम थी।

अध्याय ८

प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८ ई०)

रौलट अधिनियम और असहयोग आन्दोलन का आरम्भ

सन् १९१४ में ससार का प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ। भारतवर्ष हर प्रकार से अँग्रेजों की सहायता करने के लिये तैयार हो गया। शीघ्र ही इङ्गलॅंड की ओर से लड़ने के लिये सेना तैयार की गई और उसके लिये युद्ध-सामग्री का प्रवन्ध किया गया। तन, मन, धन से भारत ने अँग्रेजों की सहायता की और भारत के निवासी युद्ध-क्षेत्रों में अँग्रेजों के साथ बराबरी से लड़े। सरकार ने देहली में एक युद्ध सम्मेलन का आयोजन किया। उसमें महात्मा गाधी ने भाग लिया और उन्होंने अँग्रेजी सरकार की धन तथा जन से सहयाता करने का वचन दिया। भारत ने ९ लाख ८५ हजार आदमी युद्ध के लिये दिये, जिनमें से ५ लाख ५२ हजार विदेशी युद्ध-क्षेत्रों में भेज दिये गए।[1] वाइसराय तथा इङ्गलैंड के प्रधानमंत्री ने भारत की युद्ध-कालीन सहायता की भूरि-भूरि प्रशसा की। मित्रराष्ट्र का यह कहना था कि जनतन्त्र एवं आत्म-निर्णय (self-determination) के सिद्धान्तों की रक्षा के लिये वे युद्ध कर रहे थे ; युद्धकालीन सम्मेलनों में भारतीय प्रतिनिधियों को अन्य स्वतन्त्र उपनिवेशों के प्रतिनिधियों के साथ समान स्थान दिया जा रहा था, अतएव भारतीयों को यह आशा थी कि महायुद्ध के समाप्त होते ही उनके दासता के बन्धन तोड़ दिये जायँगे और वे अपना एक अलग स्वतन्त्र राष्ट्र स्थापित कर सकेंगे। कम से कम वे यह आशा अवश्य करते थे कि उनको राजनीतिक सुविधाएँ प्राप्त हो सकेंगी।

परन्तु भारतीय मुसलमानों के सामने इस महायुद्ध ने एक असमजस की परिस्थिति उत्पन्न कर दी। एक ओर तो उनके सामने ग्रेट ब्रिटेन के प्रति

---

1 Dr Rajendra Prasad · A Brief Sketch of the Non-Cooperation Movement

स्वामिभक्ति निभाने का प्रश्न था, दूसरी ओर अपने विदेशी सहधर्मियों की रक्षा की समस्या उत्पन्न हो गई। तुर्की को छोड़कर अँग्रेजों का साथ देने का कर्त्तव्य शायद उन्हें अप्रिय प्रतीत होता था। तुर्की एव ग्रेट ब्रिटेन को प्रतिपक्षी के रूप में देखकर वे बड़े चिन्तित थे और दोनों का एक ही ओर से युद्ध करना उनके लिये अत्यन्त ही हर्ष का विषय होता। परन्तु ऐसा नहीं हुआ और उनके सम्मुख विरोधी कर्त्तव्यों के बीच मार्ग निर्धारित करने की समस्या आ ही गई। दिल्ली के मुसलमानों ने घोषणा की "यह खेद का विषय है कि वह दिन जिससे हम भयभीत थे और वह आपत्ति जिसका भय हमें पिछले कई सप्ताहों से बेचैन किये हुए था, आज हमारे सम्मुख हैं। ग्रेट ब्रिटेन तथा तुर्की के बीच युद्ध छिड़ जाने से हमारी धीरता तथा सहनशक्ति की परीक्षा का अवसर भी आ गया है।[1] तुर्की की सीमाएँ दिन-प्रति-दिन घटती जा रही थीं और साथ ही साथ भारतीय मुसलमानों में दुःख और नैराश्य की भावना भी बढ़ रही थी।

परन्तु वे अँग्रेजों के विरोधी नहीं बन सकते थे क्योंकि उनके विचार से भारत में मुसलमान के हितों की रक्षा करने के लिये अँग्रेजी शासन अत्यावश्यक था। दूसरे, गदर के पश्चात् से वे अँग्रेजों के प्रति स्वामिभक्ति की नीति का पालन करते आ रहे थे। समय-समय पर सहायता प्राप्त करने की कृतज्ञता एव स्वामिभक्ति की प्रगाढ़ता के कारण एकाएक अँग्रेजों से सम्बन्ध विच्छेद करना भी सम्भव नहीं था। वे यह भी भलीभाँति जानते थे कि अपनी अधीनावस्था में स्वामी के विरोधी राष्ट्र की सहायता करने का दुष्परिणाम क्या होगा। विशेषकर जबकि अँग्रेज उनके प्रति अत्यन्त दयालु थे तथा उनके साथ हिन्दुओं के विरुद्ध पक्षपात कर रहे थे, उनसे विमुख होना असम्भव था। महायुद्ध के प्रारम्भ होते ही मुसलमान नेताओं ने अपने सहधर्मियों को अँग्रेजों का साथ देने के लियेआदेश देना शुरू किया। मुहम्मदन एड्केशनल कान्फ्रेन्स के २८ वें वार्षिक अधिवेशन में भाषण देते हुए उसके सभापति हाजी रहीम बख्स ने कहा कि अँग्रेजी सरकार की अधीनता में हमें पूर्ण सुरक्षा, शान्ति एव सन्तोष प्राप्त है और विशेषकर धार्मिक मामलों में हम बिल्कुल स्वतन्त्र हैं।[2] प्रतिष्ठित नेता शाहजादा आफताब अहमदखाँ ने अँग्रेजी सरकार को भारतीय मुसलमानों की अविभाजित स्वामिभक्ति एव सहृदय निष्ठा का आश्वासन दिया। उन्होंने कहा कि अँग्रेजों के प्रति मुसलमानों की भक्ति का एक विशेष कारण यह है कि उनके सुव्यवस्थित शासन में मुसलमानों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता एव इस्लाम के प्रचार के लिये

---

1 The Aligarh Institute Gazette, 23 Dec 1914
2 The Aligarh Monthly, Jan–Feb 1915

यथेष्ट सुविधाएँ मिली हुई हैं।[1] आगाखाँ ने भी अँग्रेजों के पक्ष में बोलते हुए कहा कि इस युद्ध में जर्मनी तुर्की को नाश के मार्ग पर ले जा रहा है और भारतीय मुसलमानों में उसके प्रति रोष की भावनाएँ जाग्रत हो रही हैं।[2] अपने नेताओं के दृष्टिकोण का पालन करना मुसलमान लोग खूब जानते थे और उन्होंने भी महायुद्ध में अँग्रेजों का साथ दिया।

इस सम्बन्ध में अँग्रेजों की प्रलोभनकारी कूटनीति पर प्रकाश डालना आवश्यक है। उन्होंने भारतीय मुसलमानों में यह विश्वास उत्पन्न कर दिया कि तुर्की के विरुद्ध लड़कर वे उसको जर्मनी के प्रभुत्व से मुक्त कर रहे हैं। वाइसराय तथा ब्रिटेन के प्रधान-मंत्री ने बार-बार यही कहा कि वे मुसलमानों के हितों की रक्षा अवश्य करेंगे। मित्र-राष्ट्रों की ओर से उन्होंने यह घोषणा की कि उनकी सेनाएँ इस्लाम के धार्मिक स्थानों पर आक्रमण नहीं करेंगी और न ही तुर्की के सुल्तान की धार्मिक सत्ता में किसी प्रकार का अन्तर आने पायगा।[3] वास्तव में युद्ध-काल में अँग्रेजों के लिये परिस्थितियाँ बड़ी गम्भीर हो गई थीं और अपने विस्तृत साम्राज्य की प्रत्येक जाति से वे सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। इस बीच में समय-समय पर ब्रिटिश राजनीतिज्ञों द्वारा घोषणाएँ सभी दिखावटी थीं। युद्ध के समाप्त हो जाने के पश्चात् इन घोषणाओं की उपेक्षा से यही बात सिद्ध होती है। परन्तु संकटावस्था में अँग्रेज लोग इस नीति से अपना प्रयोजन हल करने में पूर्णतः सफल रहे। साथ ही यह कहना भी गलत होगा कि अँग्रेजों की निपुण कूटनीति के कारण ही मुसलमान युद्ध में उनकी सहायता करने को तत्पर हुए। वास्तव में, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, भारतीय मुसलमान अँग्रेजों के प्रति बड़े कृतज्ञ थे क्योंकि हिन्दुओं की अपेक्षा उनके साथ अच्छा बर्ताव किया जा रहा था और वे इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। लार्ड मिन्टो की मृत्यु पर 'मिन्टो सर्किल रीडिंग रूम' के सेक्रेटरी द्वारा भेजे गए शोक-संवाद से यही प्रकट होता है। उसमें कहा गया था कि अपने पूर्वाधिकारी लार्ड कर्जन की भाँति लार्ड मिन्टो भी मुसलमानों के लिये बहुत प्रिय थे क्योंकि उन्होंने उनको अनेक सुविधाएँ प्रदान की थीं तथा मुसलमानों के राजनीतिक स्तर को बढ़ा दिया था।[4] सत्य यह है कि अँग्रेजों की दक्षता एवं कूटनीति ने तथा मुसलमानों में उनके प्रति भक्ति की भावना ने उनको महायुद्ध में ब्रिटेन का साथ देने के लिये प्रेरित किया।

---

1 The Aligarh Institute Gazette, Jan 13, 1915.
2 The Aligarh Institute Gazette, Feb. 3, 1915
3. The Indian Annual Register of 1922, Page 63.
4. The Aligarh Monthly April 21, 1914.

रौलट अधिनियम—

यह हम ऊपर बतला चुके हैं कि भारतियों ने महायुद्ध में अँग्रेजों की कितनी सहायता की। राजनीतिक स्वतन्त्रता के पुरस्कार की आशा में उन्होंने इस भार को सहर्ष अपने ऊपर ले लिया था। परन्तु युद्ध के पश्चात् देश की आन्तरिक स्थिति में और भी अधिक तनाव हो गया। 'भारतीय प्रतिरक्षा नियम' के अन्तर्गत अनेक प्रतिष्ठित भारतियों के साथ दुर्व्यवहार एव एनीबीसेन्ट की नजरबन्दी सरकार की आगामी नीति के सूचक थे। थोड़े दिनों बाद ही १९ जुलाई सन् १९१९ को 'विप्लव कमेटी' (Sedition Committee) की रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसमें षड्यन्त्रों की समावना के प्रति शका प्रकट की गई। इसमें यह सिफारिश की गई कि भविष्य में षड्यन्त्रों पर काबू पाने के लिए 'भारतीय प्रतिरक्षा नियम' के अन्तर्गत भारतीय सरकार द्वारा सग्रहीत अधिकारों को स्थायी रूप दे देना आवश्यक है। इस नियम द्वारा प्राप्त होने वाले अधिकारों में दो वर्ग के अधिकारों को जारी रखने के लिये इस कमेटी ने विशेष जोर दिया। प्रथम वर्ग के अधिकार इस प्रकार थे —

१—जमानत अथवा बिना जमानत के मुचलका भरवाना,
२—निवास की सीमा पर प्रतिबध लगाना अथवा निवास-परिवर्तन की सूचना को आवश्यक बनाना,
३—सभाओं तथा पत्रिकाओं के प्रकाशन एव वितरण पर रोक लगाना; और
४—सदिग्ध व्यक्तियों को समय समय पर सूचना देते रहने का निर्देश देना।

दूसरे वर्ग के अधिकार इस प्रकार हैं —
१—बन्दी बनाना,
२—वारन्ट जारी करके खोज करना, और
३—बिना अर्थ-दण्ड के कारावास देना।[1]

रौलट कमेटी की उपर्युक्त रिपोर्ट के आधार पर केन्द्रीय धारा सभा में रौलट-बिल प्रस्तावित किया गया[2] और १८ मार्च सन् १९१९ को लोकमत की महान् उपेक्षा में उन्हें नियम का रूप दे दिया गया। इण्डियन रिव्यू के सम्पादक ने लिखा कि रौलट बिल के पास होने से देश में बड़ी सनसनी फैल

1 Sedition Committee Report, 1918
2 The Indian Review, March 1919

गई थी। लोगों ने इसको 'काले बिल' का नाम देकर इसकी तीव्र आलोचना की और सभी राजनीतिक दलों ने इनकी घोर निन्दा की। ऐसा प्रतीत होने लगा कि इनके रद्द हो जाने तक भारतवासी चैन से न बैठेंगे। केन्द्रीय धारा सभा के गैर-सरकारी सदस्यों में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्रीनिवास शास्त्री तथा तेजबहादुर सप्रू ने सरकार को चेतावनी देते हुए कहा कि इन बिलों के पास होने पर देश में तहलका मच जायगा।[1] कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, बनारस तथा अन्य स्थानों पर इनके विरोध में बड़ी-बड़ी सभाएँ हुई।[2] परन्तु सरकार ने जनता की इच्छाओं एव महत्वाकाक्षाओं की तनिक भी परवाह न की और इस बिल को पास कर ही डाला। शायद यही सकटावस्था में की गई सहायता का पुरस्कार था। इसके परिणाम-स्वरूप केन्द्रीय-धारा-सभा में कुछ भारतियों ने पद त्याग दिया।[3] उनमें से पडित मदनमोहन मालवीय भी थे।[4]

महात्मा गाँधी को भी इस नियम से बड़ी निराशा हुई और उन्होंने सरकार को इसको वापिस ले लेने की चेतावनी दी। परन्तु इसका कोई फल न निकला और उन्होंने २८ फरवरी १६१६ को सत्याग्रह का प्रतिज्ञा-पत्र प्रकाशित किया जिस पर हस्ताक्षर करने वाले लोगों ने रौलट नियमों का उल्लघन करने की प्रतिज्ञा की। महात्मा गाँधी ने समस्त देश को सत्याग्रह का पाठ पढाने के लिये भ्रमण आरम्भ किया। उन्होंने लोगों को समझाया कि यह आन्दोलन हिंसात्मक उपायों को रोकने के लिए तथा उनके स्थान पर सहिष्णुता का प्रचार करने के लिये है। विदेशी सम्पर्क के कारण देश में अनेक बुराइयाँ आगई थीं और सत्याग्रह द्वारा आत्म-शुद्धि के प्रयोग से ही देश की दशा सुधर सकती थी।[5] ऐसा महात्मा गाँधी का विचार था। अतः उन्होंने ६ अप्रैल को दिन में देशव्यापी उपवास एव हड़ताल का दिन निश्चित किया। इसके उत्तर में सारा भारत एक साथ खड़ा हो गया। देश के कोने-कोने में यहाँ तक कि छोटे-छोटे गाँवों में भी स्वेच्छा से हडताल मनाई गई। जुलूस निकाले गये और सरकार की खुलेआम निन्दा की गई। यह भारत का प्रथम आन्दोलन था जिसमें भारत के सभी वर्ग अपने विभेदों को भूलकर एक समान उद्देश्य के लिये सगठित हुए थे। भारतीय जनता के सगठन की यह प्रथम परीक्षा थी।

1, Sedition Committee Report, 1918.
2. The Indian Review March, 1919.
3, The Indian Review : April, 1919.
4. Ibid Feb, 1219,
5. Ibid · April, 1919.

रौलट अधिनियम—

यह हम ऊपर बतला चुके हैं कि भारतियों ने महायुद्ध में अंग्रेजों की कितनी सहायता की। राजनीतिक स्वतन्त्रता के पुरस्कार की आशा में उन्होंने इस भार को सहर्ष अपने ऊपर ले लिया था। परन्तु युद्ध के पश्चात् देश की आन्तरिक स्थिति में और भी अधिक तनाव हो गया। 'भारतीय प्रतिरक्षा नियम' के अन्तर्गत अनेक प्रतिष्ठित भारतियों के साथ दुर्व्यवहार एवं एनीबीसेन्ट की नजरबन्दी सरकार की आगामी नीति के सूचक थे। थोड़े दिनों बाद ही १६ जुलाई सन् १६१६ को 'विप्लव कमेटी' (Sedition Committee) की रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसमें षड्यन्त्रों की सभावना के प्रति शका प्रकट की गई। इसमें यह सिफारिश की गई कि भविष्य में षड्यन्त्रों पर काबू पाने के लिए 'भारतीय प्रतिरक्षा नियम' के अन्तर्गत भारतीय सरकार द्वारा संगृहीत अधिकारों को स्थायी रूप दे देना आवश्यक है। इस नियम द्वारा प्राप्त होने वाले अधिकारों में दो वर्ग के अधिकारों को जारी रखने के लिये इस कमेटी ने विशेष जोर दिया। प्रथम वर्ग के अधिकार इस प्रकार थे —

१—जमानत अथवा बिना जमानत के मुचलका भरवाना,
२—निवास की सीमा पर प्रतिबध लगाना अथवा निवास-परिवर्तन की सूचना को आवश्यक बनाना,
३—सभाओं तथा पत्रिकाओं के प्रकाशन एव वितरण पर रोक लगाना; और
४—सदिग्ध व्यक्तियों को समय-समय पर सूचना देते रहने का निर्देश देना।

दूसरे वर्ग के अधिकार इस प्रकार हैं:—
१—बन्दी बनाना,
२—वारन्ट जारी करके खोज करना, और
३—बिना अर्थ-दण्ड के कारावास देना।[1]

रौलट कमेटी की उपर्युक्त रिपोर्ट के आधार पर केन्द्रीय धारा सभा में रौलट-बिल प्रस्तावित किया गया[2] और १८ मार्च सन् १६१६ को लोकमत की महान् उपेक्षा में उन्हें नियम का रूप दे दिया गया। इण्डियन रिव्यू के सम्पादक ने लिखा कि रौलट बिल के पास होने से देश में बड़ी सनसनी फैल

---

1 Sedition Committee Report, 1918
2 The Indian Review, March 1919

नीय अत्याचार हुए। निहत्थी जनता पर हवाई जहाजों द्वारा बम्ब भी बरसाये गये।[1]

महात्मा गाँधी द्वारा जलियानवाला बाग के विवरण से इस घटना की भयकरता और भी स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने लिखा है कि यह कोई बाग नहीं है प्रत्युत एक घूरा है जो तीन ओर मकानों की ही पिछली दीवारों से घिरा हुआ है और एक ओर इस में प्रवेश करने के लिये एक सकरी गली है। जनरल डायर ने इसी पतली गली में होकर प्रवेश किया था और उस स्थान पर उसकी फौजों के खड़े होने के कारण उपस्थित जनों के लिये दीवारों के ऊपर से होकर भागने के अतिरिक्त प्राण बचाने का कोई अन्य साधन नहीं था।[2] डायर का यह अत्याचार बड़ी नृशसतापूर्ण था। इसीलिये महात्मा गाँधी ने कहा है कि ६ अप्रैल १६१६ का दिन हम इसलिये नहीं भुला सकते क्योंकि उसने समस्त देश में आत्मिक-शक्ति का संचार किया और १३ अप्रैल को भुलाना इस कारण से असभव है कि उस दिन अनेक निरपराध व्यक्तियों के रक्त-प्रवाह ने पजाब को भारत का तीर्थ-स्थान बना दिया।[3]

हत्याकाड का परिणाम

अमृतसर के हत्या-काड के पश्चात् भारतियों के असन्तोष की मात्रा अधिक बढ गई। इसको दबाने के लिये सरकार ने यूरोपीय एवं भारतीय सदस्यों की एक अन्वेषण समिति स्थापित की और लार्ड हन्टर इसके अध्यक्ष नियुक्त किए गये। इस समिति की रिपोर्ट २६ मई सन् १६२० को प्रकाशित हुई परन्तु इसके निर्णयों एवं अभिस्तावों से भारतीय सतुष्ट न हो सके। यूरोपियन सदस्यों की बहुमत रिपोर्ट (Majority Report) में जान-बूझकर अंग्रेजी अधिकारियों के कारनामों को छुपाया गया। यद्यपि जनरल डायर के उतावले कार्यों एवं मार्शलला की आलोचना की गई तथापि उसको उन पापकर्मों के लिये पूर्ण उत्तरदायी नहीं ठहराया गया। १० अप्रैल को डिप्टी कमिश्नर के घर से लौटने वाली भीड़ द्वारा मिस शरवड (Sherwood) पर आक्रमण की विशेष चर्चा की गई और यह कहा गया कि उस अपराध के दोषी कड़ी से कड़ी सजा दिये जाने के योग्य थे। शायद इसी का बदला

1. A Brief Sketch of the Non.Cooperation Movement by Babu Rajendra Prasad
2 Young India, Nov 18, 1920.
3 Young India, March 10, 1920.

परन्तु भ्रमवश दिल्ली के निवासियों ने ३० मार्च सन् १९१९ को ही हड़ताल एवं सत्याग्रह प्रदर्शन का दिवस मान लिया। वहाँ पर कुछ झगड़े भी हो गए।[1] एक सत्याग्रही तथा रेलवे की पुस्तकों के विक्रेता में झगड़ा खड़ा हो गया, उसने बलवे का रूप ले लिया। स्थिति पर काबू पाने के लिये सैनिक पुलिस को बुलाया गया और उसने गोलियाँ चलाकर शान्ति स्थापित की। ८ अप्रैल को महात्मा गान्धी ने लोगों को सान्त्वना देने के लिये दिल्ली को प्रस्थान किया परन्तु सरकार ने उन्हें दिल्ली तथा पजाब में घुसने से मना कर दिया। गाँधी जी ने सरकार की इस आज्ञा की उपेक्षा की, परिणामस्वरूप उनको पास के एक अन्य स्टेशन से एक स्पेशल गाड़ी द्वारा बम्बई भेज दिया गया।

अमृतसर का हत्याकाड—

गान्धी जी के बन्दी बना लिये जाने से भारत की जनता में बड़ा असन्तोष उत्पन्न हुआ। विशेषकर पजाब के निवासियों में इससे बहुत उत्तेजना उत्पन्न हुई क्योंकि वे माइकिल डायर की दमन-नीति के कारण पहले ही से क्षुब्ध थे। १० अप्रैल सन् १९१९ को पजाब में डाक्टर सफुद्दीन किचलू और डाक्टर सत्यपाल की नजरबन्दी ने आग में आहुति का काम किया। बहुत से व्यक्ति एक दल में इकट्ठे होकर डिप्टी कमिश्नर के निवासस्थान पर उनकी मुक्ति की प्रार्थना करने के लिये गये परन्तु वहाँ उन पर गोलियाँ बरसाई गई। इससे उत्तेजित होकर उन्होंने कुछ बैंकों, पोस्टआफिसों तथा सरकारी अफसरों को लूट लिया और कुछ योरोपियनों को मार डाला। ११ अप्रैल को जनरल डायर के अमृतसर आने पर विद्रोह दब गया। १३ अप्रैल को जलियानवाला बाग में एक आम सभा हुई जिसमें अमृतसर के अनेकों नागरिक, बूढ़े-जवान, स्त्री-पुरुष आदि सभी सम्मिलित थे। जनरल डायर शीघ्र ही अपने अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित दल को लेकर वहाँ पहुँचे और भीड़ को भग होने की चेतावनी दिये बिना ही उस पर फायर करना आरम्भ कर दिया। लगभग १० मिनट तक बराबर गोलिया चलती रहीं। फलस्वरूप अनेक व्यक्ति घायल हो गए और करीब ५००-६०० घटना-स्थल पर मर गए। अमृतसर, गुजरात, लाहौर और लायलपुर में मार्शल लॉ लागू कर दिया गया और अनेकों गिरफ्तारियाँ हुई। लोगों के कोड़े लगाए गए, पेट के बल रेंगाया गया और उनके ऊपर अकथ-

1 Indian Review, April 1919

नीय अत्याचार हुए। निहत्थी जनता पर हवाई जहाजों द्वारा बम्ब भी. बरसाये गये।[1]

महात्मा गाँधी द्वारा जलियानवाला बाग के विवरण से इस घटना की भयकरता और भी स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने लिखा है कि यह कोई बाग नहीं है प्रत्युत एक घूरा है जो तीन ओर मकानों की ही पिछली दीवारों से घिरा हुआ है और एक ओर इस में प्रवेश करने के लिये एक सकरी गली है। जनरल डायर ने इसी पतली गली में होकर प्रवेश किया था और उस स्थान पर उसकी फौजों के खड़े होने के कारण उपस्थित जनों के लिये दीवारों के ऊपर से होकर भागने के अतिरिक्त प्राण बचाने का कोई अन्य साधन नहीं था।[2] डायर का यह अत्याचार बड़ी नृशंसतापूर्ण था। इसीलिये महात्मा गाँधी ने कहा है कि ६ अप्रैल १६१६ का दिन हम इसलिये नहीं भुला सकते क्योंकि उसने समस्त देश में आत्मिक-शक्ति का सचार किया और १३ अप्रैल को भुलाना इस कारण से असभव है कि उस दिन अनेक निरपराध व्यक्तियों के रक्त-प्रवाह ने पंजाब को भारत का तीर्थ-स्थान बना दिया।[3]

हत्याकाड का परिणाम

अमृतसर के हत्या-काड के पश्चात् भारतियों के असन्तोष की मात्रा अधिक बढ गई। इसको दबाने के लिये सरकार ने यूरोपीय एवं भारतीय सदस्यों की एक अन्वेषण समिति स्थापित की और लार्ड हन्टर इसके अध्यक्ष नियुक्त किए गये। इस समिति की रिपोर्ट २६ मई सन् १६२० को प्रकाशित हुई परन्तु इसके निर्णयों एवं अभिस्तावों से भारतीय सतुष्ट न हो सके। यूरोपियन सदस्यों की बहुमत रिपोर्ट (Majority Report) में जान-बूझकर अंग्रेजी अधिकारियों के कारनामों को छुपाया गया। यद्यपि जनरल डायर के उतावले कार्यों एवं मार्शलला की आलोचना की गई तथापि उसको उन पापकर्मों के लिये पूर्ण उत्तरदायी नहीं ठहराया गया। १० अप्रैल को डिप्टी कमिश्नर के घर से लौटने वाली भीड़ द्वारा मिस शरवुड (Sherwood) पर आक्रमण की विशेष चर्चा की गई और यह कहा गया कि उस अपराध के दोषी कड़ी से कड़ी सजा दिये जाने के योग्य थे। शायद इसी का बदला

1. A Brief Sketch of the Non.Cooperation Movement by Babu Rajendra Prasad
2. Young India, Nov 18, 1920
3. Young India, March 10, 1920.

लेने के लिये इस घटना के नौ दिन बाद कोड़े लगाने के लिये खमे गाड़े गए थे। इस सम्बन्ध में यह भुला दिया गया कि दया की आशा रखने वाली निःशस्त्र भीड़ पर गोलियों बरसाकर उसमें कितनी उत्तेजना भर दी गई थी जिसका यह सब परिणाम था। कुछ आदमियों को केवल इसलिये वन्दी बना लिया गया कि उन्होंने जनरल डायर को सलामी नहीं दी। ६ आदमियों को अनुशासन भग करने के अपराध में पकड़ लिया गया यद्यपि उनके अपराध का भलीभाँति निर्णय ही नहीं किया गया। कोड़े लगाने के अत्याचार को तो यूरोपियन सदस्यों ने मामूली समझकर उसकी कोई आलोचना नहीं की और इस बात पर जोर दिया कि कोड़े मारने से लोगों की मृत्यु हो जाने की सूचनाएँ निराधार हैं।[1] बर्बर एव अमानुषिक अत्याचारों का उन्होंने निर्लज्जता से प्रतिवाद किया था। वास्तव में यूरोपियन सदस्यों की यह रिपोर्ट अंग्रेजी अधिकारियों की नृशसता की समर्थक थी।

इसके विपरीत कमेटी के भारतीय सदस्यों पडित जगतनरायन, सर चिमनलाल सेटलवाड और सुल्तान अहमद आफताब खाँ की 'अल्पमत रिपोर्ट' (Minority Report) में १० अप्रैल की घटनाओं के लिये अंग्रेजी अधिकारियों को दोषी ठहराया गया। इसके अनुसार उस दिन भीड़ हिंसात्मक उपायों का प्रयोग करने की इच्छुक नहीं थी अपितु नि॰शस्त्र अवस्था में उस पर गोलियों बरसा कर उसको उत्तेजित कर दिया गया था। रिपोर्ट में यह भी कहा गया कि जलियानवाला बाग में अहिंसात्मक कार्य के लिये सभा में एकत्रित निरपराध व्यक्तियों की हत्या ने भारतियों के हृदय मे अंग्रेजों के प्रति विरोध की भावना को उग्र रूप दे दिया है और उसको मिटाने के लिये अंग्रेजों को अधिक समय एव उपायों का उपयोग करना पड़ेगा।[2]

जैसे कि यह सब कुछ अधिक नहीं था, अमृतसर के हत्याकाड के पश्चात् भी सरकार ने अपनी दमन-नीति को जारी रक्खा। लोगों को विना अपराध के वन्दी बना लिया गया, उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई तथा उनको नाना प्रकार के दण्ड दिये गये। महात्मा गाधी ने हन्टर कमेटी को चेतावनी देते हुए लिखा कि सरकार ने दमन-नीति का पालन कर बड़ी भूल की है। अहमदाबाद मे किसानों पर भारी कर लगाने तथा कठोर विधि से उनको वसूल करने के कारण उनमें बड़ा असन्तोष छाया हुआ था।[3]

1 Majority Report—Indian Review, June 1920
2 Ibid
3 Young India, S Ganesan Collection

भारतीय इस प्रकार के गंभीर अपकार एवं अपमान को सहन नहीं कर सकते थे। गाँधीजी ने अनुभव किया कि अब उनका राजनीतिक क्षेत्र में भाग लेना अपेक्षित है और असहयोग आन्दोलन उसका स्वाभाविक परिणाम था।

असहयोग आन्दोलन का प्रारम्भ.

असहयोग आन्दोलन को जन्म देने वाली घटनाओं का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। आरम्भ में इस आन्दोलन की प्रगति पर महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व एवं खिलाफत आन्दोलन का विशेष प्रभाव पड़ा। महात्मा गाँधी की प्रसिद्धि इस समय तक सारे संसार में व्याप्त हो चुकी थी। टालस्टाय के समान उनका विश्वास था कि वैज्ञानिक प्रगति का मनुष्य पर बुरा प्रभाव पड़ा है। वे भारतियों के लिये वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली के विरोधी थे क्योंकि इसका परिणाम दास-बुद्धि को उत्पन्न करना था। उनकी धारणा यह थी कि आधुनिक सभ्यता की सामग्रियों, अस्पतालों, डाक्टरों, न्यायालयों, रेलों, पार्लियामेन्टों आदि के द्वारा मनुष्य ईश्वर से दूर होता जा रहा है। वे आत्मिक शक्ति की श्रेष्ठता एवं राष्ट्रीय उपवास एवं निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) की प्रभावोत्पादकता पर बड़ा जोर देते थे।[1] डाक्टर कैलाशनाथ काटजू ने ठीक ही कहा है कि महात्मा गाँधी ने राजनीति में धर्म का समावेश कर दिया। यह उन्हीं की शिक्षा थी कि जो नियम एक साधारण व्यक्ति की प्रगति के लिये हितकर हैं वही किसी राष्ट्र के उत्थान में सहायक हो सकते हैं।[2] हिन्दुस्तान टाइम्स के सम्पादक के अनुसार उन्होंने अपने अहिंसा के सिद्धान्त में समस्त मानवता का सचार कर दिया था।[3] सत्य की खोज उनके विचारों का आधार थी। जी० वी० मावलकर के कथनानुसार मनुष्य जाति को शोषण, निर्धनता, रोग, अज्ञान तथा शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से मुक्त करना उनके जीवन का ध्येय था।[4] इतने उच्च विचारों वाले इस व्यक्ति से भारतीय लोग बहुत प्रभावित थे। गाँधीजी के शत्रु भी उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से बचे हुए नहीं थे। दक्षिणी अफ्रीका में भारतियों के उद्धार के लिये की गई सेवाओं के कारण वे पहिले से ही देश में सर्वप्रिय बन गए थे और भारतीय राजनीति के क्षेत्र में कार्य आरम्भ करने पर देशवासियों का उनके साथ होना स्वाभाविक था। वे खिलाफत एवं असहयोग आन्दोलनों के सर्वमान्य नेता बन गए। यद्यपि ये आन्दोलन अपने उद्देश्यों में सफल न हो सके तथापि

---

1. India in 1922-23.
2. Hindustan Times, Feb 6, 1948.
3. Ibid, Feb. 4, 1948.
4. Ibid Oct. 2, 1951.

भारतीय राजनीति को इन्होंने पर्याप्त प्रभावित किया। भीरुता के स्थान पर भारतियों में साहस का सचार कर इन आन्दोलनों ने भविष्य के अन्य राष्ट्रीय कार्यों को सफलता प्रदान की।

यह हम ऊपर बतला चुके हैं कि युद्धकाल में मुस्लिम लीग कांग्रेस के अधिक निकट आ गई थी और लखनऊ का समझौता भी इसके परिणाम-स्वरूप हुआ था। युद्धोपरान्त मित्रराष्ट्रों के तुर्की के सुल्तान के प्रति दुर्व्यवहार से भारत में खिलाफत आन्दोलन आरम्भ हुआ। सुल्तान की शक्ति की पुनः स्थापना के उद्देश्य से यह आंदोलन उठाया गया। अस्तु इसकी सफलता के लिये मुसलमानों को अपने हिन्दू साथियों का सहयोग आवश्यक था। इसलिये २८ मई सन् १६२० को खिलाफत समिति ने महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन को स्वीकार कर लिया।[1] महात्मा गाँधी मुसलमानों के प्रति सदा सहानुभूति रखते थे। २४ नवम्बर सन् १६१६ को दिल्ली के अखिल-भारतीय-खिलाफत सम्मेलन में उन्होंने कहा था कि यदि भारत की समस्त जातियों को एक राष्ट्र में सगठित होकर रहना है तो प्रत्येक को एक-दूसरे के हितों की रक्षा करनी होगी, इसलिये यदि मुसलमान लोग हिन्दुओं के राजनीतिक कार्य-क्रम को अपनावें तो उनको आश्चर्य नहीं होना चाहिये।[2] परस्पर प्रतिक्रिया के फलस्वरूप इलाहाबाद में हिन्दू-मुसलमानों के सम्मिलित सम्मेलन (३० जून १६२०) में असहयोग आन्दोलन को सर्व-सम्मति द्वारा अपना लिया गया। इस प्रकार खिलाफत आन्दोलन भी असहयोग आन्दोलन के उदय के लिये सहायक सिद्ध हुआ।

---

1 Babu Rajendra Prasad, A Brief Sketch of the Non-Co-operation Movement
2 Young India, Dec 3, 1919

अध्याय ६

हमारे मान्य पूर्वज

दादाभाई नौरोजी (१८२५-१६१७) :

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के समय में दादाभाई नौरोजी का स्थान प्रमुख है। उनका जन्म बम्बई के एक पारसी परिवार में ४ सितम्बर सन् १८२५ में हुआ था। दस वर्ष की अवस्था में ही उनके पिता का देहान्त हो गया और अनेक कष्टों को सहन कर उनकी माता ने उन्हें उच्चतर शिक्षा दिलाई थी। अपने विद्यार्थी जीवन में ही उन्होंने अपनी मौलिकता एवं तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय दे दिया था। वे एलफिन्स्टन कालेज के अग्रणी विद्यार्थियों में से थे। २५ वर्ष की आयु में वे इसी कालेज में अकगणित एव प्राकृत-विज्ञान के सहायक अध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। परन्तु वास्तव में उनकी इस ओर रुचि अधिक नहीं थी और ५ वर्ष बाद उन्होंने इस पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके पश्चात् उन्होंने 'केप एण्ड सन्स' नामक एक व्यापार करने वाली कम्पनी से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया और इसके लिये वे इङ्गलैंड भी गए। सन् १८७६ में वे बड़ौदा राज्य में दीवान नियुक्त हुए। परन्तु यहाँ पर भी वे अधिक दिनों तक कार्य न कर सके क्योंकि अँग्रेज रेजीडेन्ट कर्नल पेरी से उनकी तनिक भी नहीं बनती थी। फिर भी अपने थोड़े से काल के प्रशासन में उन्होंने राज्य में अनेक प्रगतिशील सुधार किये। इसके पश्चात् अपना जीवन राजनीति के लिये अर्पण कर दिया और साथ ही व्यापार भी करते रहे। उन्होंने समाज के उद्धार, शिक्षा के विकास एवं राजनीतिक उन्नति के उद्देश्य से अनेक संस्थायें स्थापित कीं। वे पहिले भारतीय राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने भारतीय जनता का ध्यान अंग्रेजों द्वारा आर्थिक शोषण के प्रति आकर्षित करने का प्रयत्न किया। ३० जून सन् १६१७ को उनका स्वर्गवास हो गया।

कांग्रेस के जन्म से ही दादा भाई नौरोजी ने उससे अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया और अपनी वृद्धावस्था तक वे इसकी सेवा करते रहे। वे तीन बार इसके सभापति निर्वाचित हुए—प्रथम बार सन् १८८६ में, द्वितीय बार सन् १८६३ में और तृतीय बार सन् १६०६ में। भारत एवं इङ्गलैंड दोनों में उन्होंने काँग्रेस को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया। अंग्रेज कांग्रेस को भारतीय जनता की शासन-सम्बन्धी कठिनाइयों की सूचना देने वाली तुच्छ संस्था के रूप में देखना चाहते थे परन्तु दादा भाई नौरोजी ने इसको समस्त राष्ट्र की एक गौरवपूर्ण सभा के स्तर पर पहुँचा दिया। वे प्रथम भारतीय थे जो इङ्गलैंड में निर्वाचन-क्षेत्र से ब्रिटिश संसद की कॉमन सभा के सदस्य चुने गए थे। उन्होंने वहाँ पर भी कांग्रेस के पक्ष में लोकमत-निर्माण करने का प्रयत्न किया। यद्यपि संसद में उनकी कभी-कभी व्यक्तिगत आलोचना की जाती थी परन्तु वे हँसकर उसे टाल देते थे। आरम्भ में उनके व्याख्यानों की भाषा भी बड़ी शिष्ट एवं संयत थी परन्तु उसका प्रभाव न पड़ने के कारण उन्होंने अंग्रेजी सरकार की बड़ी आलोचना आरम्भ करदी। बंग-विभाजन आन्दोलन के समय कलकत्ता अधिवेशन के सभापति-पद से भाषण देते हुए उन्होंने कहा कि "हम कोई दया की भीख नहीं माँगते हैं, केवल न्याय चाहते हैं। ब्रिटिश साम्राज्य की नागरिकता के अधिकारी होने के नाते हम छोटे-छोटे अधिकारों के स्थान पर 'स्वराज्य' की प्राप्ति के इच्छुक हैं—ठीक वैसा ही स्वराज जैसा कि इङ्गलैंड तथा उसके उपनिवेशनों में प्रचलित है।" उन्होंने लोगों को बताया कि ब्रिटिश शासन बहुत खर्चीला है और उसकी नीति के फलस्वरूप देश की सम्पत्ति धीरे-धीरे खिंची जा रही है। देश की हीन दशा और भुखमरी का वर्णन कर उन्होंने यह प्रदर्शित किया कि यह शासन जनता के हितों एवं कल्याण के प्रति बिल्कुल उदासीन है। अपनी पुस्तक Poverty and the British Rule in India में उन्होंने राजनीतिक दासता के फलस्वरूप होने वाले आर्थिक शोषण का विस्तृत वर्णन किया है।

दादाभाई नौरोजी का कार्यक्षेत्र राजनीति ही तक सीमित नहीं रहा। उन्होंने समाज में सुधार करने तथा शिक्षा की उन्नति करने का भी विशेष प्रयत्न किया। अपने जीवन-काल में उन्होंने लगभग ३० संस्थायें स्थापित कीं जिनका उद्देश्य देश एवं समाज की सेवा था। स्त्रियों की दशा में सुधार करने के लिये उन्होंने बम्बई में 'ज्ञान-प्रकाश-मंडली' और एक गर्ल्स हाई स्कूल की स्थापना की। इङ्गलैंड में भी भारतीय हितों के समर्थन के लिये उन्होंने 'ब्रिटिश इण्डियन सोसाइटी' नाम से एक संस्था खोली। यद्यपि सरकार की नौकरी में रहते हुए उनके लिए किसी राजनीतिक संस्था में भाग लेना सुगम

नहीं था फिर भी उन्होंने देश की प्रथम प्रान्तीय राजनीतिक संस्था "बम्बई ऐसोसियेशन" की स्थापना में विशेष योग दिया। उन्होंने एक समाचार-पत्र भी निकाला और अपनी लेखनी द्वारा वे जीवन पर्यन्त देश की उन्नति के लिये परिश्रम करते रहे। इङ्गलैंड की जनता के सम्मुख सरकार की बुराइयों को रखने के लिये उन्होंने विशेष प्रयत्न किया। उन्होंने सार्वजनिक मंचों से यह बार-बार कहा कि भारतीय जनता भीषण दरिद्रता के भार से दबी जा रही है और इसका उत्तरदायित्व सरकार पर है।

अपने राजनीतिक विचारों में दादाभाई उदारतावादी थे। उनकी धारणा थी कि अँग्रेजी राज्य के फलस्वरूप देश को अनेक प्रकार से लाभ भी हुए हैं और वे इङ्गलैंड के साथ भारत का सम्बन्ध स्थापित रखना चाहते थे। प्रथम वार कॉंग्रेस के सभापति होने पर उन्होंने अपने भाषण में कहा कि "अंग्रेजी राज्य ने ही हमें एकता एवं संगठन प्रदान किया है, महारानी और अंग्रेजों के राज्य में ही हम बिना किसी बाधा के मिल सकते हैं और अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट कर सकते हैं।" अतः वे भारत के लिए स्वराज्य के इच्छुक थे परन्तु ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत। उनको अंग्रेजों की न्यायप्रियता एवं सचाई में पूर्ण विश्वास था और उनका विचार था कि समस्त राष्ट्र द्वारा स्वतन्त्रता की मॉंग करने पर वे उसे अवश्य दे देंगे। इसलिये वे लड़ने-भिडने की नीति को उचित एवं प्रभावोत्पादक नहीं समझते थे। उनकी उद्देश्य-पूर्ति का साधन वैधानिक आंदोलन था। वे कहा करते थे कि यदि हम अपने देश के प्रति एक होकर उसके उत्थान के लिये प्रयत्न आरम्भ कर दें तो इङ्गलैंड की जनता हमसे प्रभावित होकर हमारे हित में योग अवश्य देगी। परन्तु चिरकाल तक उनकी यह विचारधारा अपरिवर्तित नहीं रही। बंगाल के विभाजन के समय उन्हें सरकार के प्रति रोष उत्पन्न हुआ और उन्होंने अपने ओजस्वी भाषणों में स्वराज्य की मॉंग आरम्भ कर दी। उन्होंने कांग्रेस को स्वदेशी एवं स्वराज्य के मार्ग पर अग्रसर किया एवं उसकी कार्य-पद्धति को वैधानिक रूप दिया। वेल्बी कमीशन के समक्ष उन्होंने सरकार की तीव्र आलोचना की और उसके द्वारा किये जाने वाले आर्थिक शोषण को प्रमाणित किया। इस प्रकार अपने जीवन के संध्या-काल में उन्होंने अपने पूर्ण उदारतावादी विचारों में अंशमात्र उग्रता का समावेश कर लिया था। वास्तव में वे जनता के सच्चे सेवक थे और अपनी देशभक्ति एवं स्वातन्त्र्य-प्रयत्न के कारण वे 'भारत के वयोवृद्ध महानुभाव' (The Grand Old Man of India) कहे जाते हैं।

गोपालकृष्ण गोखले (१८६६-१९१५)[1] :

इनका जन्म ६ मई सन् १८६६ में रत्नागिरि जिले के कतलू गाँव में हुआ था। यह ब्राह्मण थे और इनके पूर्वज पेशवाओं के राज्य में अच्छे पद ग्रहण कर चुके थे। परन्तु इनके पिता की आर्थिक दशा अच्छी न थी और इस कारण उन्हें अपनी पढ़ाई छोड़कर छोटी सी अवस्था में ही कागल के राजकुमार के यहाँ एक छोटा पद ग्रहण करना पड़ा। इनकी माता एक धनी ब्राह्मण परिवार की थीं और धार्मिक मनोवृत्ति की होने के साथ-साथ बड़ी दृढ़ प्रतिज्ञ भी थीं। इनके माता-पिता दोनों ही गाँव में सादा जीवन व्यतीत करते थे और इस प्रकार गोखले को आरम्भ से ही ग्रामीण जीवन की अवस्थाओं का ज्ञान हो गया।

दुर्भाग्यवश अपनी अल्पावस्था में ही गोखले को माता-पिता के देहान्त के दुख का सामना करना पड़ा। इनके सामने अब अनेक समस्यायें थीं। परन्तु उनके भाई गोविन्द को कोल्हापुर राज्य में १५) रु० मासिक वेतन पर एक नौकरी मिल जाने से उन्हें कुछ सहारा मिला। वे अपने थोड़े से वेतन में से बचाकर ८) रु० प्रतिमास गोखले के लिये भेजने लगे और उन्होंने अध्ययन आरम्भ कर दिया। इन आठ रुपयों में वे अपनी शिक्षा का कार्य युक्तिपूर्वक चला लेते थे, उन्हें स्वयं अपने हाथों से भोजन पकाना पड़ता था, सड़कों की रोशनी में पढ़ना पड़ता था, किताबों का कोई प्रबन्ध नहीं था और उन्हें अपने मित्रों से माँगनी पड़ती थीं। फिर भी इन सब कठिनाइयों का अतिक्रमण करके उन्होंने सन् १८८१ में मैट्रिक की परीक्षा पास करली। इसके पश्चात् वे कोल्हापुर के राजाराम कॉलेज तथा पूना के दकिन कॉलेज में शिक्षा-अध्ययन के लिये भेजे गए। बम्बई के एलफिन्स्टन कॉलेज से उन्होंने बी० ए० की उपाधि प्राप्त की और गणित में विशेष योग्यता प्राप्त करने के कारण इन्हें २०) रु० मासिक का एक वजीफा मिलने लगा। थोड़े समय के पश्चात् वे पूना के 'न्यू इंग्लिश हाई स्कूल' में सहायक अध्यापक नियुक्त हो गए। वेतन के ३५) रु० मासिक एवं वजीफे के पर्याप्त होने के कारण वे कुछ धन अपने भाई को भेजने लगे जिससे कि परिवार का ऋण चुकाया जा सके। परन्तु कुछ दिनों बाद उन्होंने यह पद छोड़ दिया और वे तिलक एवं आगरकर द्वारा स्थापित 'दक्किन एजूकेशन सोसाइटी' के सदस्य बन गए। इसकी नियमावली के अनुसार प्रत्येक सदस्य

1. Charles Kincaid Vide Great Men of India, Edited by L F Rushbrook Williams

को २० वर्ष तक २५) रु० मासिक वेतन पर सेवा-कार्य करना पड़ना था। यद्यपि इनके इस कार्य से इनके भाई बड़े क्रुद्ध हुए, उन्होंने इसकी तनिक भी परवाह न की।

सन् १८८४ में 'दकिन एजूकेशन सोसाइटी' के 'न्यू इ ग्लिश स्कूल' को 'फरग्यूसन कॉलेज' का रूप देने का निर्णय किया गया और अगले वर्ष यह निर्णय कार्य रूप में परिणत हो गया। गोखले को अंग्रेजी के अध्यापन का कार्य मिला। परन्तु गणित में उनकी विशेष रुचि थी इस कारण वे साथ-साथ इस विषय को भी पढाते रहे। कभी-कभी उन्हे इतिहास पर भी लैक्चर देने पड़ते थे। गोखले केवल पुस्तक-प्रेमी ही नहीं थे अपितु उन में क्रिकेट, विलियर्ड्स, शतरज और ताश खेलने में बड़ी दक्षता थी।

स्कूल में अध्यापन कार्य करने के समय से ही गोखले का रानाडे के साथ सम्पर्क स्थापित हो गया था। उनसे देश-सेवा की शिक्षा ग्रहण कर उन्होंने अधिक परिश्रम करना आरम्भ कर दिया। कुछ समय के पश्चात् उनको रानाडे ने पूना की सार्वजनिक सभा का मत्री नियुक्त कर दिया। इस पद के कार्यों के सम्बन्ध में उनको अँग्रेजी भाषा में अनेकों पत्र लिखने पड़ते थे और इस प्रकार उनको नम्र एव शिष्ट भाषा में अपने विचारों को व्यक्त करने का अभ्यास हो गया। परन्तु थोड़े दिनों बाद तिलक का आगरकर के साथ झगड़ा हो जाने के कारण "एजूकेशन सोसाइटी' से अपना सम्बन्ध हटा लिया। अब गोखले को फरग्यूसन कालेज में अध्यापन कार्य करने के अतिरिक्त उसके कोष का प्रबन्ध भी अपने हाथों में लेना पड़ा। जैसे यह सब परिश्रम पर्याप्त नहीं था, उन्होंने 'सुधारक' पत्र में अपने लेखों के प्रकाशन का कार्य जारी रक्खा और इस कार्य के लिये वे पुरस्कार आदि के रूप में कुछ भी पारिश्रमिक नहीं लेते थे।

सन् १८९० में गोखले ने प्रथम बार राजनीति में पदार्पण किया। कांग्रेस के चौथे अधिवेशन में ही उन्होंने नमक कर को कम करन के एक प्रस्ताव का समर्थन किया था। सन् १८९१ में उन्होंने सरकारी नौकरियों में भारतियों को सम्मिलित करने की माँग पर एक जोशीला भाषण दिया। परन्तु गोखले अपने विचारों में उग्रवादी नहीं थे। इस कारण रानाड और आगरकर जैसे नेताओं का सहयोग तो उन्हें प्राप्त था परन्तु तिलक तथा उनके साथी उनका विरोध करते थे। सन् १८९६ में वे दिनशावाचा के साथ वेल्बी कमीशन के समक्ष अपनी रायें प्रस्तुत करने के लिये गए। सन १८९८ में वे बम्बई की धारा सभा के सदस्य चुन लिये गए और उसमें उन्होंने 'भूमि

विभाजन बिल' (Land Alienation Bill) का विरोध कर बड़ी ख्याति प्राप्त की। सन् १६०२ में वे फीरोजशाह मेहता के साथ-साथ केन्द्रीय धारा सभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १३ वर्ष तक उन्होंने इसमें अपनी योग्यता का प्रदर्शन किया। कार्य भार अधिक होने के कारण उन्होंने फर्ग्यूसन कॉलेज के प्रिन्सिपल पद से त्याग-पत्र दे दिया और अब वे राष्ट्रीय कार्य में पूरे तौर से लग गए। यह हम ऊपर देख चुके हैं कि लार्ड कर्जन भारत सरकार के विभिन्न विभागों में सुधारों द्वारा अपनी छाप लगाने के लिये कितने प्रयत्नशील थे और गोखले उनकी साम्राज्यवादी नीति की निरन्तर आलोचना के लिए प्रसिद्ध हो गए।

सन् १६०६ में गोखले ने "सरवैण्ट आफ इण्डिया सोसाइटी' की स्थापना की। इस सस्था के वे ही लोग सदस्य बन सकते थे, जो भौतिक उन्नति का विचार छोड़कर दरिद्रता का जीवन अपना सकें। दो वर्ष पश्चात् मार्ले-मिण्टो सुधार नियम पास हुए जिनके लिये गोखले ने विशेष प्रयत्न किया था। इङ्गलैंड में रहकर उन्होंने लार्ड मार्ले को बड़ा प्रभावित कर दिया था। वग विभाजन एव दक्षिणी अफ्रीका में भारतियों पर अत्याचार के विरुद्ध गोखले ने स्थान-स्थान पर भाषण दिये और इस प्रकार वे महात्मा गाधी के सम्पर्क में आये। गाधीजी के बुलाने पर वे दक्षिणी अफ्रीका भी गए और वहाँ पर भारतियों का उद्धार करने की दिशा में प्रयत्न किया। कुछ समय तक गोखले को "पब्लिक सर्विस कमीशन" के प्रधान पद पर भी कार्य करना पड़ा। सन् १६१५ तक उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था और १६ फरवरी को उनका देहान्त हो गया। उनके अन्तिम शब्द थे, "मेरे जीवन का यह भाग तो अच्छा रहा है, अब उसके दूसरे भाग को देखने का समय आ गया है।"

राजनीतिक विचारों में गोखले उदारतावादी थे। उनके समकालीन राजनीतिज्ञों ने उनको एक 'दुर्बल राजनीतिज्ञ' कहा है, परन्तु उनका यह कथन नितात असत्य है। वे वास्तव में वैधानिक आन्दोलन के समर्थक थे। उनको भी अग्रेजों की न्यायपूर्णता और सच्चाई में विश्वास था और उसी के आधार पर वे देश में स्वाधीनता प्राप्त करना चाहते थे। मध्यम वृत्ति तथा तर्क समता के विपरीत अवैधानिक आन्दोलनों का उनके राष्ट्रवाद में तनिक भी स्थान नहीं था। स्वय तिलक, लाला लाजपतराय एव महात्मा गाधी ने उनके देश-प्रेम की प्रशसा की है।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (१८४८-१६२५)

१६ वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी देश के अत्यत प्रसिद्ध नेताओं में थे। इनका जन्म एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में हुआ था।

इनके पिता श्री दुर्गाप्रसाद एलौपैथी के डाक्टर थे ! बाल्यावस्था में उनको शिक्षा प्राप्त करने के लिए एक प्रारम्भिक पाठशाला में भेजा गया और तत्पश्चात् उन्होंने डोवटन कॉलेज (Doveton college) में प्रवेश किया। यह संस्था केवल एङ्ग्लो-भारतीय विद्यार्थियों के लिये थी। १५ वर्ष की अवस्था में वे मैट्रिक की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए और उनको एक वजीफा मिलने लगा। एफ० ए० की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में पास करके उन्होंने एक दूसरा वजीफा प्राप्त किया। परन्तु बी० ए० की परीक्षा के समय अस्वस्थ हो जाने के कारण वे द्वितीय श्रेणी में पास हुए।

कॉलेज के प्रिन्सिपल ने सुरेन्द्रनाथ को सरकारी नौकरी की प्रतियोगिता में भाग लेने के लिये प्रोत्साहित किया और उनके सम्बन्धियों से उनकी प्रतिभा की बड़ी प्रशसा की। फलस्वरूप सन् १८६८ में वे इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा में भाग लेने के लिये इङ्गलैंड भेजे गए। वहाँ पर उन्होंने लन्दन यूनीवर्सिटी कॉलेज में प्रवेश किया और परीक्षा के लिये तैयारियाँ आरम्भ करदीं। प्रोफेसर हेनरी मार्ले से उन्होंने अँग्रेजी तथा गोल्डस्टकर (Goldstuokur) से उन्होंने सस्कृत की उच्च शिक्षा ग्रहण की। सन् १८६९ की सिविल सर्विस परीक्षा में उन्होंने सफलता प्राप्त की और दो वर्ष बाद वे सिलहट के सहायक-मजिस्ट्रेट नियुक्त हो गए।

परन्तु उनकी सरकारी नौकरी का जीवन अल्प-काल तक ही रहा। वे अँग्रेज अफसरों की सहानुभूति अथवा प्रशसा के पात्र नहीं थे; अत. दो वर्ष बाद ही उनको आधिकारिक आचरण की अशुद्धता के आधार पर नौकरी से पृथक् कर दिया गया। सुरेन्द्रनाथ ने इसके लिए सार्वजनिक रूप से जॉच किये जाने की प्रार्थना की परन्तु सरकार ने गुप्त जॉच को ही अपने निर्णय का आधार बनाया और उनको ५०) रु० मासिक पेन्शन पर अवकाश दे दिया। इस पर वे इंग्लैंड गये और अपने प्रति किये गये अन्याय के प्रति उच्च अधिकारियों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया परन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला।

सरकारी नौकरी से निवृत्त हो जाने के पश्चात् सुरेन्द्रनाथ देश-सेवा की ओर प्रवृत्त हुए। उन्होंने अनुभव किया कि सिविल सर्विस की परीक्षाओं का इंग्लैंड में होने तथा उनके लिये आयु का कम होने के कारण भारतियों के लिये उनमें भाग लेना बड़ा कठिन था अत उन्होंने इसकी आयु में वृद्धि तथा

दोनों देशों में इसकी परीक्षा होने के लिये एक आन्दोलन आरम्भ कर दिया। उन्होंने देश के समस्त प्रमुख नगरों का दौरा किया, बड़ी-बड़ी सभायें एकत्रित कीं और ओजस्वी भाषण दिये। उनके इस कार्य ने सरकारी नौकरियों की नियुक्तियों में पक्षपात एव अन्याय को प्रदर्शित करने के साथ-साथ देश की सुप्त राजनीतिक चेतना को जाग्रत कर दिया।

सन् १८७६ में सुरेन्द्रनाथ कलकत्ते के मैट्रोपोलीटन विद्यालय में अँग्रेजी साहित्य के अध्यापक नियुक्त हुए। पाँच वर्ष पश्चात् वे 'फ्री चर्च कॉलेज' के अध्यापक नियुक्त हुए। सन् १८८२ में उन्होंने स्वय एक स्कूल खोल दिया जो बाद में रिपन कॉलेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह उनका बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य था। अध्यापन कार्य के साथ वे पत्रकारिता एव राजनीति से भी सम्बन्ध रखते रहे और थोड़े समय में ही देश के एक बड़े नेता हो गए। उन्होंने 'बगाली' का सम्पादन कार्य अपने हाथ में लेकर उसको एक सुविख्यात दैनिक-पत्र का रूप दे दिया। इस पत्र में वे अंग्रेजों की नीति की खुले-आम आलोचना किया करते थे। इल्बर्ट बिल सम्बन्धी वाद-विवाद पर सुरेन्द्रनाथ ने बड़ी टीका-टिप्पणी की और अंग्रेजी नौकरशाही और आंग्ल-भारतियों के तुच्छ विचारों की निन्दा की। सन् १८८३ में उन्होंने कलकत्ता हाईकोर्ट के जज की बड़ी आलोचना की क्योंकि उन्होंने एक अभियोग को सिद्ध करने के लिये सालिग्राम की प्रतिमा को न्यायालय में मँगवाया था। इसलिये उन पर न्यायालय की मान-हानि का मुकद्दमा चलाया गया और उनको २ माह के लिये कारावास का दण्ड मिला। इससे जनता की उनके प्रति बड़ी सहानुभूति हुई और अनेक स्थानों पर प्रदर्शन हुए। जेल से मुक्त हो जाने के पश्चात् सुरेन्द्रनाथ ने देश का भ्रमण किया और जहाँ-जहाँ वे गए उनका बड़ा स्वागत हुआ। पत्रकारिता में विशेष योग्यता के कारण उनको अधिराज्य प्रेस सम्मेलन (Imperial Press Conference) में भाग लेने के लिये आमन्त्रित किया गया और इसमें उनके कार्य की बड़ी सराहना की गई।

कांग्रेस के साथ सुरेन्द्रनाथ का सम्पर्क उसके जन्म से ही स्थापित हो गया था। यद्यपि वे इसके प्रथम अधिवेशन में उपस्थित न थे, बाद के सभी अधिवेशनों में उन्होंने भाग लिया। प्रति वर्ष वे इस सस्था में अपने सुझाव एव प्रस्ताव प्रस्तुत किया करते थे और उनके भाषणों द्वारा श्रोताओं में देश-सेवा के लिये बड़ा उत्साह उत्पन्न होता था। एक अंग्रेज ने तो उनके भाषण को एक बार सुनकर यह कहा था कि सुरेन्द्रनाथ में विलियम पिट के समान मधुर गर्जना, फाक्स के समान वाक्-पटुता, बर्क के समान ताजगी और शेरीडन के समान

तीव्र बुद्धि है।[1] उन्होंने दो बार कांग्रेस का सभापतित्व किया—प्रथम बार सन् १८९५ में और द्वितीय बार सन् १९०२ में। दोनों बार इनके सभापति-भाषण की बड़ी प्रशंसा हुई। बंगाल के विभाजन के समय वे देश के सर्व-प्रिय नेता थे और उन्होंने अनेक स्थानों पर इसके विरोध में होने वाले आन्दोलन में भाग लिया। उन्होंने बंगाली भाषा में भाषण दिये और विदेशी माल के बहिष्कार पर जोर दिया।

देश-सेवा के साथ-साथ वे अपने नगर एवं प्रान्त के हित के लिये भी परिश्रम करते रहे। सन् १८७६ में वे कलकत्ता कॉरपोरेशन के सदस्य हो गए और लगभग २३ वर्ष तक इस पद पर कार्य करते रहे। सन १८९९ में "न्यू म्युनिसिपल ऐक्ट" के पास होने पर उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया। सन १८९१ में वे कलकत्ता की धारा सभा के सदस्य चुने गए और एक वर्ष पश्चात् वे केन्द्रीय धारा-सभा के भी सदस्य हुए। २६ जुलाई सन् १८७६ में उन्होंने आनन्दमोहन घोष की सहायता से 'इण्डियन ऐसोसियेशन' की स्थापना की। इस संस्था के उद्घाटन के दिन ही इनके लड़के की मृत्यु हो गई परन्तु फिर भी वे सायंकाल को उसमें उपस्थित हुए।[2] इससे उनके त्याग एवं राष्ट्र-प्रेम की भावना प्रदर्शित होती है।

सन् १९१७ के पश्चात् सुरेन्द्रनाथ की विचारधारा में परिवर्तन हो गया। जब माटेग्यू महोदय ने भारत की यात्रा की तब उनका सुरेन्द्रनाथ पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे उदार विचारों के हो गए।[3] उन्होंने द्वैध-शासन प्रणाली (Dyarchy) का समर्थन किया। महात्मा गाँधी का अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन उन्हें रुचिकर न लगा। सन् १९१९ के अधिनियम के पास हो जाने के पश्चात् उन्होंने बंगाल की लेजिस्लेटिव कौंसिल की सदस्यता के लिये चुनाव लड़ा और सफल होने के पश्चात् उनको नए शासन में मंत्री का पद दिया गया। सरकार ने इनको नाइट की उपाधि प्रदान की और वे सर कहलाने लगे। चार वर्ष तक वे इस पद पर योग्यतापूर्वक कार्य करते रहे परन्तु सन् १९२३ के आगामी चुनावों में उन्हें सफलता नहीं मिली। इसके पश्चात् उन्होंने सार्वजनिक जीवन से अपना हाथ हटा लिया और आत्म-कथा लिखने का कार्य आरम्भ कर दिया। अपनी पुस्तक 'ए नेशन इन मेकिंग' (A Nation

1 The Indian Nation Builders Part 1, Published by Ganesan & Co,
2 Ibid
3 Ibid

in Making) में उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन के विविध अनुभवों का वर्णन किया है। सन १६२५ में वे परलोकवासी हो गए।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी उदार विचारों वाले व्यक्ति थे। उन्हें भी अँग्रेजों से सम्बन्ध स्थापित रखे रहने में देश की भलाई प्रतीत होती थी। वे केवल इसको उदार बनाकर इसका आधार विस्तृत करना चाहते थे। उनकी लोक-प्रियता का सबसे बड़ा कारण था—उनकी भाषण-शक्ति। अपनी योग्यता एव वक्तृत्व-शक्ति के कारण वे 'भारतीय ग्लेडस्टन' (Indian Gladstone) कहे जाते थे।

फीरोजशाह मेहता (१८४५–१६१५)

इनका जन्म ४ अगस्त सन् १८४५ में एक साधारण पारसी परिवार में हुआ था। इनके पिता पी० एण्ड सी० एम० कामा नामक फर्म में साझेदार थे जो चीन एव इंग्लैंड से व्यापार करती थी। आरम्भ में फीरोजशाह को आयरटन के स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजा गया। मैट्रिक पास करने के पश्चात् उन्होंने बम्बई के एलफिन्स्टन कॉलेज में प्रवेश किया और इसके प्रिन्सिपल सर एलेक्जेण्डर ग्राण्ट में जो एक बड़े शिक्षा-शास्त्री थे इनके प्रति विशेष रुचि उत्पन्न हो गई थी। सन् १८६४ में उन्होंने बी० ए० की उपाधि प्राप्त की और ६ महीने पश्चात् एम० ए० (ऑनर्स) की परीक्षा को पास किया।[1] तत्पश्चात ग्राण्ट महोदय के बहुत जोर देने के कारण वे बैरिस्ट्री पास करने के लिये इंग्लैड गये। वहाँ ये चार वर्ष तक रहे और इस बीच में, जमशेदजी टाटा, मनमोहन घोष, अकाम तैय्यबजी एव डब्ल्यू० सी० बनर्जी से इनके अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो गए। उन्हें सबसे अधिक प्रेरणा एव प्रोत्साहन दादा भाई नौरोजी से मिला।

इंग्लैंड से लौटने के पश्चात् फीरोजशाह ने बम्बई में वकालत आरम्भ की। उस समय लगभग आधे दर्जन अंग्रेज बैरिस्टरों ने इस पेशे के सम्पूर्ण क्षेत्र को अपने अधिकार में कर रक्खा था। उनका मुकाबला करना आसान कार्य नहीं था। किन्तु फीरोजशाह शीघ्र ही अपनी योग्यता एव परिश्रम के कारण सुविख्यात बैरिस्टरों में हो गए। उनकी ख्याति गुजरात एव काठियावाड़ में फैल गई और कुछ दिनों बाद बम्बई प्रेसीडेन्सी के बैरिस्टरों में उन्होंने प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया। एक-दो बार उन्हें जज बनने का अवसर भी दिया गया परन्तु उन्होंने उसे ठुकरा दिया।

---

1 Naroji Dumosia Vide Great Men of India

फीरोजशाह ने अपनी योग्यता का परिचय "ईस्ट इंडिया बिल" की उस धारा की पुष्टि में दिया जो भारतियों के सिविल सर्विस प्रतियोगिता में भाग लेने के अधिकार से सम्बन्धित थी। स्ट्रैफोर्ड नार्थकोड ने भारतियों की कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से यह बिल प्रस्तावित किया था। फीरोजशाह बड़े निडर और स्वतत्र विचार के व्यक्ति थे। सन् १८७७ में बम्बई की एक सार्वजनिक सभा में एक यूरोपियन "स्वय सेवक नियम संहिता" (Volunteer Code) बनाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। फीरोजशाह ने सशोधन का सुझाव दिया और कहा कि इस प्रकार का प्रस्ताव जिसके द्वारा नगर की सभी जातियों की बैठक में केवल यूरोपियनों का कोड बनाया जाये, भारतियों की स्वाभिमानता को आघात पहुँचाने वाला है। वे "आर्मस् ऐक्ट" के भी विरोधी थे। इस सम्बन्ध में उनका काग्रेस के १४ वें अधिवेशन में इलाहाबाद में दिया गया भाषण स्मरणीय है।

बम्बई की नगरपालिका में फीरोजशाह ने बड़ा कार्य किया। इसके लिये कुछ लोग उनकी तुलना जोसेफ चेम्बरलेन से करते हैं जिन्होंने बिर-मिंघम के नगर को सुन्दर बनाया था। बम्बई के म्यूनिसिपिल कमिश्नर श्री क्रौफोर्ड (Crawford) ने बहुत धन व्यय कर दिया था और इस कारण जनता उनसे बहुत असन्तुष्ट थी। फीरोजशाह ने एक सार्वजनिक सभा में क्रौफोर्ड महोदय का प्रतिवाद किया और लोगों को यह समझाने का प्रयत्न किया कि अधिक सुविधाजनक कार्यों को करने में धन की अधिक आवश्यकता होती है। मेहताजी की सेवाओं को मान्यता देने के लिये ही नगरपालिका के भवन के सामने उनकी प्रतिमा स्थापित की गई थी।

राजनीतिक क्षेत्र में फीरोजशाह के दो विचार उल्लेखनीय हैं। प्रथम, तो वह अंग्रेजी राज्य को बहुत अच्छा समझते थे और दूसरे उनकी सम्मति में देश की समस्याओं को सुलझाने के लिये शासन का इंग्लैंड की भाँति द्वि-दल व्यवस्था पर आधारित होना आवश्यक था। वह कहा करते थे कि मुझे अँग्रेजों की न्याय-प्रियता में पूर्ण विश्वास है, मैं निस्सन्देह कह सकता हूँ कि एक दिन अवश्य आयगा जब कि वे भारतीय जनता की पुकार को सुनेंगे।

सन् १८८५ में फीरोजशाह तथा उनके साथियों ने "बम्बई प्रेसीडेंसी सस्था" (Bombay Presidency Association) की स्थापना की। वह स्वयं इसके अध्यक्ष नियुक्त हुए और आजीवन वह इस पद पर बने रहे। काग्रेस के जन्म से ही वे इस सस्था के सदस्य हो गए और सन् १८९० में उनको इसके

उग्रवादी विचारधारा के प्रवेश की आशा भी नहीं की जा सकती थी। उनको यह पूर्ण विश्वास था कि अंग्रेज लोग एक दिन भारतियों को स्वतः स्वतन्त्र कर देंगे बशर्ते कि उन्हें निश्चित रूप से यह ज्ञात हो जाये कि वे स्वयं अपने शासन का भार सम्हालने के योग्य हैं। अतः आजीवन वे शान्तिपूर्ण नीति से देश-सेवा का कार्य करते रहे।

बाल गंगाधर तिलक (१८५६-१९२०)

भारतीय राजनीति में उग्रवाद के प्रवर्त्तकों में बाल गंगाधर तिलक का स्थान प्रमुख है। इनका जन्म सन् १८५६ में रत्नागिरि जिले के कोंकन तट (Konkan Coast) पर हुआ था। वे चितपावन ब्राह्मण थे। १८वीं और १९वीं शताब्दी में इन ब्राह्मणों का मरहठा राज्य में बड़ा प्रभाव था परन्तु अंग्रेजों द्वारा इस अधिकार से वञ्चित कर दिये जाने के कारण वे उनसे बहुत असन्तुष्ट थे। अतः बाल्यावस्था से ही तिलक में अंग्रेज विरोधी भावना का संचार हो गया। उन्हें अपने पूर्वजों की गौरव-गाथाओं से बड़ा प्रोत्साहन मिला और आरम्भ से ही उन्होंने सरकार से टक्कर लेने की ठान ली।

सन् १८७९ में कानून की परीक्षा पास करने के पश्चात् वे श्री आगरकर के सम्पर्क में आये और अगले वर्ष उन्हें "दक्षिण शिक्षा समिति" द्वारा स्थापित पूना के "न्यू इंगलिश स्कूल" में गणित के अध्यापन का कार्य मिल गया। इस स्कूल की स्थापना में उनका भी सहयोग था। इसके पश्चात् कुछ अन्य उत्साही साथियों की सहायता से उन्होंने "मराठा" और "केसरी" नामक दो पत्र निकालना आरम्भ कर दिया। केसरी मराठी भाषा में प्रकाशित होता था। इसके द्वारा अपने प्रभावशाली प्रचार से उन्होंने महाराष्ट्र के निवासियों में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। वे अंग्रेजी भाषा को प्रधानता नहीं देते थे। अतः देशी भाषाओं में इन पत्रों का संचालन किया गया।

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में वे उपस्थित नहीं थे। परन्तु बम्बई प्रेसीडेन्सी में इस समय तक उनकी ख्याति काफी फैल चुकी थी। वे एक अच्छे वक्ता थे और पूना की "सार्वजनिक सभा" में इन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया था। रानाडे के साथ मिलकर इन्होंने "दक्षिण शिक्षा समिति" के कार्यों में योग दिया। सन् १८८९ में कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में वे एक प्रतिनिधि की हैसियत से उपस्थित हुए। कांग्रेस के उदार दल के विचारों से वे सहमत नहीं थे। उनकी इच्छा थी कि इसकी भिक्षा माँगने

की नीति को शीघ्रातिशीघ्र बदल दिया जाये। वे कहा करते थे "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मै उसे लेकर रहूँगा।" उनके इस प्रकार के उग्र विचारों के कारण आरम्भ से ही उदारतावादी लोग—रानाडे, बनर्जी और गोखले आदि उन्हें संदेह की दृष्टि से देखते थे।

रॉबर्ट ब्रायन (Robert Bryan) का कहना है कि वे ब्राह्मण पहिले थे और मरहठा तथा देशभक्त बाद में। हम उनके इस कथन से सहमत नहीं हैं। यदि उन्होंने सन् १८९० में (Age of Consent Bill) का विरोध किया तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे एक कट्टरपंथी ब्राह्मण थे। यह तो उनकी राष्ट्रीय भावना का प्रतीक था क्योंकि वे धार्मिक मामलों में एक विदेशी राष्ट्र का हस्तक्षेप देखना नहीं चाहते थे। अपनी देश-प्रेम की भावना के कारण ही उन्हें अनेकों बार जेल-यात्रा करनी पड़ी; वे प्रथम कांग्रेसी नेता थे जिन्हें अनेक बार यह दण्ड मिला, स्वदेश-भक्ति ने ही उनको "होम रूल आन्दोलन" आरम्भ करने को प्रेरित किया, इसी भावना के अन्तर्गत उन्होंने कांग्रेस की ओर से लखनऊ के समझौते के लिये स्वीकृति दी। अतः वे देशभक्त पहिले थे और कुछ बाद में। उनके स्वदेश-प्रेम में किसी प्रकार का अभाव प्रदर्शित करना उनके साथ अन्याय होगा।

अपने प्रारम्भिक काल में तिलक ने महाराष्ट्र निवासियों को जाग्रत करने में महत्वपूर्ण योग दिया। 'मराठा' एवं 'केसरी' में प्रचार-कार्य के अतिरिक्त वे स्वयं दक्षिण के गाँवों में जाया करते थे और गणपति त्यौहार मनाकर ग्रामीणों में संगठन एवं परस्पर प्रेम की भावनाएँ उत्पन्न करते थे। उन्होंने एक गौ-वध-विरोधी समिति की स्थापना की, लाठी-शिक्षा के लिये क्लब खोले और स्थान-स्थान पर शारीरिक व्यायाम के लिये अखाड़े खुदवाये। सन् १८९५ में उन्होंने शिवाजी के जन्म-दिवस पर त्यौहार मनाना आरम्भ कर दिया और रायगढ के शिवाजी त्यौहार में उन्होंने प्रमुख भाग लिया। इस अवसर पर शिवाजी की प्रशंसा में कविताएँ पढ़ी जाती थीं और उनके नाम पर जय-जयकार किया जाता था। इन सब कार्यवाहियों का केवल एक उद्देश्य था—महाराष्ट्र के निवासियों में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करके उन्हें राष्ट्रीय कार्यों की ओर प्रेरित करना। इनसे उनकी मुसलमान विरोधी भावना प्रदर्शित नहीं होती, क्योंकि किसी स्थान विशेष के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिये वहाँ के निवासियों में स्थानीय महान् व्यक्तियों के प्रति श्रद्धा जाग्रत करना आवश्यक होता है। वास्तव में मुसलमानों ने हिन्दू शूरवीरों को कभी अपना

नहीं समझा और इसीलिये वे तिलक पर साम्प्रदायिकतावादी होने का आरोप लगाते थे।[1]

सन् १८९६-९७ मे दक्षिण में एक भीषण दुर्भिक्ष फैला। सरकार ने किसानों की सहायता का प्रबन्ध किया परन्तु वह काफी न थी। स्थानीय अधिकारियों के भय के कारण किसान लोग लगान देने के लिये अपने वस्त्र तक बेच देते थे। तिलक ने स्वय गॉव-गॉव में जाकर किसानों के बीच भाषण देना शुरू किया और उन्हें समझाया कि सरकार भुखमरी की उपेक्षा करते हुए लगान वसूल की इच्छा नहीं रखती है।[2] अगले वर्ष बम्बई में प्लेग की महामारी फैल जाने पर उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया। प्लेग कमिश्नर श्री रैण्ड और उनके लैफ्टीनैन्ट आयर्स्ट (Ayerst) के आदेशानुसार अधिकारीगण रोगी व्यक्तियों को उनके सम्बन्धियों से बलपूर्वक अलग करके अस्पतालों में ले जाते थे। इससे जनता में बड़ा असन्तोष उत्पन्न हुआ और दामोदर चापेकर नामक एक चितपावन ब्राह्मण नवयुवक ने इन दोनों की हत्या करदी। यद्यपि तिलक का इसमें तनिक भी हाथ नहीं था तथापि 'केसरी' में इस घटना का वृत्तान्त प्रकाशित होने पर उनको बन्दी बना लिया गया और १८ महीने की सख्त कैद की सजा दी गई। इस घटना ने तिलक को बड़ा लोकप्रिय बना दिया। कांग्रेस के १३वें अधिवेशन के अवसर पर शोक प्रकट करते हुए कहा गया—"तिलक के कारावास के कारण सारा राष्ट्र रो रहा है।"

सन् १९०८ में बगाल के आतंकवादियों ने एक अंग्रेजी अफसर के भ्रम में कुमारी और श्रीमती केनेडी को मार डाला। परन्तु इस काण्ड में भाग लेने वाले एक व्यक्ति की दामोदर-चापेकर से तुलना करने के अपराध में ही तिलक पर राजद्रोह के अभियोग में मुकदमा चलाया गया और उन्हें ६ साल के लिये माण्डले भेज दिया गया। इसके सम्बन्ध में उन्होंने २१½ घण्टे भाषण दिया। वे इस समय तक इतने प्रसिद्ध हो गये थे कि उनके इस दण्ड की घोषणा के पश्चात् बम्बई में ६ दिन तक लगातार बलवे होते रहे। कारावास के इस काल में "गीता रहस्य" तथा "आर्टिक होम ऑफ दी वेदाज" नामक पुस्तकों की रचना की।

---

1 Author's own book—The Muslim League, its History Activities and Achievements

2 G N Singh Landmarks in Indian National and Constitutional Development

मॉडले से वापिस आने पर तिलक ने सन् १६१६ में होम रूल आदोलन संगठित किया और बम्बई में एक होम-रूल लीग की स्थापना की। 'मराठा' और 'केसरी' में देश-प्रेम के प्रचार का कार्य जारी था। इस कारण बम्बई के एक न्यायाधीश न इनको २०००) रुपयों का मुचलका देने तथा बन्दी बनाये जाने की आज्ञा दी। परन्तु हाईकोर्ट ने इन न्यायाधीश महोदय के फैसले को रद्द कर दिया। सन् १६१६ में भारत-सरकार अधिनियम के सम्बन्ध में देश का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिये तिलक एक डेपूटेशन में इगलैंड गए। वहाँ उन्होंने ब्रिटिश ससद में (Joint Select Committee) के समक्ष देश के हितों का भली-भाँति समर्थन किया। उन्होंने काग्रेस की ब्रिटिश कमेटी को फिर से सगठित किया और इगलैंड की जनता तथा पार्लियामेण्ट में भारतियों की माँगों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने की कोशिश की। उन्होंने सर वेलेन्टाइन शिरोल पर मानहानि का मुकद्दमा भी चलाया परन्तु वे सफल न हो सके और भारत वापिस लौट आये। सन् १६२० में इनका देहान्त हो गया।

तिलक उग्रवादी विचार के थे। अतः विपिनचन्द्रपाल, अरविन्द घोष, आदि से उनके सम्बन्ध प्रगाढ थे और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उदारवादी उनसे घृणा करते थे। उनको उदारदल का राजनीतिक भिक्षा का ढग पसन्द नहीं था। वे अँग्रेजों की भलमनसाहत, न्यायप्रियता अथवा सचाई आदि में विश्वास नहीं करते थे। उनका कहना था कि आत्म-विश्वास के साथ अग्रसर होने में ही भारत को स्वतन्त्रता मिल सकती है। वे विदेशी माल के बहिष्कार एव स्वदेशी के प्रसार के पक्ष में थे। सन् १६०७ में काग्रेस में विच्छेद इसी कारण से हुआ कि तिलक, रासबिहारी घोष तथा अन्य उग्रवादी सदस्य उदार दल के विचारों से सहमत नहीं थे। तिलक काग्रेस को एक जनता की सस्था बनाना चाहते थे क्योंकि उससे पहले उसमें केवल बुद्धिजीवियों का अधिक प्रभाव था। राष्ट्रीय जागृति में तिलक की प्रमुख देन यह थी कि उन्होंने स्वतन्त्रता की माँग को एक जन-आन्दोलन बना दिया। अपनी राष्ट्रीय सेवाओं के कारण ही वे 'लोकमान्य तिलक' कहकर पुकारे जाते हैं।

अध्याय १०

असहयोग आन्दोलन

कारण और अर्थ—

असहयोग अन्दोलन को दो प्रेरक-शक्तियों द्वारा प्रवर्त्तन मिला था—प्रथम महात्मा गान्धी के असाधारण व्यक्तित्व द्वारा और द्वितीय भारत में युद्धोत्तरकाल की असन्तुष्टता द्वारा। नि.सन्देह ही महात्मा गान्धी के व्यक्तित्व का इस आन्दोलन की प्रगति पर वड़ा प्रभाव पड़ा। यह निर्विवाद सत्य है कि वे इस आन्दोलन के प्राण-स्वरूप थे और उनके आत्मिक उत्कर्ष ने ही इसको पवित्रता प्रदान की थी। साथ ही युद्ध के उपरान्त की घटनाओं को इस आन्दोलन के कारणों में सम्मिलित न करना भी एक भूल होगी। युद्धोत्तर काल में अंग्रेजी सरकार द्वारा दमनकारी नीति के अपनाने का यह स्वाभाविक परिणाम था।

अब हम इस आन्दोलन की आधारभूत विचारधारा पर प्रकाश डालेंगे। वास्तव में यह आन्दोलन पंजाब की प्रजा पर किये गये अत्याचारों तथा खिलाफत आन्दोलन के विरुद्ध सरकार द्वारा उठाए गए कदमों का एक हद तक नतीजा था। इसके द्वारा महात्मा गांधी सरकार के घोर अन्याय से जनता को बचाना चाहते थे। इसमें हिंसा का लेश-मात्र भी नहीं था और आदि से लेकर अन्त तक इसका एक नियमित रूप दिया गया था। यह सरकार की शक्ति-प्रयोग की नीति का विरोध करने के लिये उठाया गया था क्योंकि भारत की लगभग आधी जन-संख्या उस समय प्रबल प्रतिरोध करने के लिये अयोग्य थी और शेष आधी प्रचण्ड उपायों का प्रयोग करने की इच्छुक नहीं थी।[1] इस आन्दोलन के उद्देश्य को भली भांति समझने के लिये हमें सत्याग्रह, निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) सविनय अवज्ञा एवं असहयोग के बीच अन्तर का ज्ञान आवश्यक है। महात्मा

---

1 Mahatma Gandhi's letter to the Viceroy dated Aug, 1 1920 from S Ganesban Collection of Young India (1919-22)

गाधी के कथनानुसार सत्याग्रह का मूल आशय सत्य का आधार ग्रहण करना है और यह सत्य द्वारा उत्पादित शक्ति का नाम है। यह हिंसा को मान्यता नहीं देता क्योंकि जब तक मनुष्य पूर्ण सत्य को नहीं जान लेता है उसे किसी को दण्ड देने का कोई अधिकार नहीं है। निष्क्रिय प्रतिरोध में भी हिंसा वर्जित है परन्तु अवसर पड़ने पर प्रतिरोधी इसका प्रयोग कर सकता है। परन्तु इसके अन्तर्गत शस्त्र-प्रयोग सशस्त्र प्रतिरोध से पूर्णतः भिन्न है। सविनय अवज्ञा का आशय अनैतिक एवं अन्यायपूर्ण नियमों का व्यावहारिक उल्लघन है। यह सत्याग्रह की एक शाखा है। थोरो (Thoreau) ने भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया था। असहयोग का अभिप्राय सरकार के दूषित हो जाने पर उसके साथ सहयोग बन्द कर देना है। इसमें उद्दण्ड अवज्ञा के लिये कोई स्थान नहीं है। यह भी सत्याग्रह की एक शाखा है क्योंकि इसमें सत्य की रक्षा के लिये निर्बल प्रतिरोध भी वर्जित है।[1] यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि गाधीजी के निर्बलता (Non-violence) के सिद्धान्त में निष्क्रियता का लेश-मात्र भी नहीं था। इस शब्द का प्रयोग वे अहिंसा के मूल अर्थ को लक्षित करने के लिये किया करते थे।[2]

आरम्भ में असहयोग एवं खिलाफत आंदोलन की बड़ी प्रगति हुई। परन्तु तुर्की के साथ की गई सन्धि में वाइसराय कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। इस कारण शुरू में इन आन्दोलनों को शान्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जा सका। आन्दोलन आरम्भ करने से पूर्व महात्मा गाधी ने वाइसराय को एक पत्र लिखा (१ अगस्त १९२०) जिसमें उन्होंने लिखा कि गत मास की घटनाओं से मुझे विश्वास हो गया है कि सरकार ने खिलाफत के प्रश्न पर विवेकहीन, अन्यायपूर्ण एव अनैतिक उपायों से काम लिया है और वह अपनी अनैतिकता के प्रतिवाद के लिये एक के पश्चात् दूसरी गलती कर रही है। ऐसी सरकार के प्रति मुझमें आदर तथा श्रद्धा की भावनाये समाप्त हो गई हैं।[3] इस पत्र के साथ महात्मा गाधी ने केसर-ए-हिन्द, जुलू-वार तथा बोअर-वार पदक भी सरकार को लौटा दिये क्योंकि देश की तात्कालिक हीन दशा में उन्हें धारण करना उनको रुचिकर प्रतीत नहीं होता था। ८ सितम्बर १९२० में कलकत्ते के कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में महात्मा गाधी का असहयोग का प्रस्ताव बहुमत द्वारा स्वीकार कर लिया गया और

---

1. Young India, 21st March, 1921
2 M K Gandhi, Non-Violence in Peace & War, Vol I
3 Young India, Aug 4, 1920.

अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने भी उसी दिन इस प्रस्ताव को पास कर दिया।[1]

योजना—

इस प्रस्ताव में निम्नांकित बातें सम्मिलित थीं —

(१) सरकारी उपाधियों एवं अवैतनिक पदों को छोड़ देना तथा स्थानीय संस्थाओं में नामजद हुए व्यक्तियों द्वारा पद त्याग देना,

(२) सरकारी उत्सव समारोहों, दरबारों तथा सरकारी अफसरों द्वारा अथवा उनके सम्मान में किए जाने वाले सरकारी अथवा अर्द्ध-सरकारी उत्सवों में भाग लेने से मना करना,

(३) सरकार के, सरकार द्वारा सहायता प्राप्त अथवा नियंत्रित स्कूलों और कॉलिजों से विद्यार्थियों को धीरे-धीरे निकालना और विभिन्न प्रान्तों में राष्ट्रीय स्कूलों तथा कॉलिजों की स्थापना करना,

(४) वकीलों तथा विवादियों द्वारा धीरे-धीरे अंग्रेजी न्यायालयों का बहिष्कार और आपसी झगड़ों का निर्णय करने के लिये पंचायती न्यायालयों की स्थापना करना,

(५) सैनिक, लिपिक तथा श्रमिक वर्गों द्वारा मैसोपोटामिया में नौकरी करने के लिये भरती होने से मना करना,

(६) नई कौंसिलों में निर्वाचन के लिये उम्मीदवारों द्वारा प्रस्ताव वापिस ले लेना और कांग्रेस की इच्छा के विरुद्ध खड़े होने वाले उम्मीदवारों को मतदाताओं द्वारा मतों का न दिया जाना,

(७) और क्योंकि असहयोग को अनुशासन एवं आत्मत्याग के एक साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया था जिसकी अनुपस्थिति में कोई भी राष्ट्र वास्तविक प्रगति नहीं कर सकता है, और क्योंकि असहयोग के आरम्भ-काल में हर पुरुष, स्त्री तथा बालक को अनुशासन एवं आत्म-त्याग की शिक्षा मिलना अपेक्षित था कांग्रेस ने एक बड़े पैमाने पर स्वदेशी वस्त्रों को अपनाने की सलाह दी। और क्योंकि भारतीय श्रम एवं नियन्त्रण से चलने वाली मिलें राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुरूप पर्याप्त सूत और कपड़ा तैयार नहीं कर रही थीं, और न उनके बहुत समय तक इस योग्य होने की कोई संभावना थी कांग्रेस ने यह सलाह दी कि प्रत्येक घर में हाथों द्वारा कताई आरम्भ करके देश में लाखों जुलाहों द्वारा बड़े पैमाने पर कपड़े की उत्पत्ति को बढ़ाया जाय।[2]

---

1 The Indian Review, Sept 1920
2 Ibid

उपर्युक्त प्रस्ताव के समर्थकों का यह कहना था कि इसके कार्यशील होने पर देश में स्वराज्य का एक नया युग आरम्भ हो जायगा जिसके अभाव में देश के आत्म-सम्मान की रक्षा असम्भव है। परन्तु असहयोग का यह प्रस्ताव घोर वाद-विवाद के पश्चात् पास हुआ। इसके पक्ष में १८५५ तथा विपक्ष में ८७३ मतों द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाती है।[1] कलकत्ते के इस विशेष अधिवेशन के पश्चात् अखिल-भारतीय कांग्रेस-समिति ने महात्मा गांधी, मोतीलाल नेहरू तथा वल्लभभाई पटेल की सदस्यता में एक-समिति नियुक्ति की और इसने देश-व्यापी कांग्रेस-संगठन के लिये असहयोग आन्दोलन के सम्बन्ध में निर्देश जारी किये।[2]

घटनाएँ —

इसके अनन्तर महात्मा गांधी तथा मौहम्मदअली ने राष्ट्रीय स्कूलों एवं कॉलेजों की स्थापना के उद्देश्य से देशव्यापी भ्रमण आरम्भ किया। सर्वप्रथम मुहम्मदन-ऐंग्लो ऑरियंटल कॉलेज को राष्ट्रीय रूप देने का प्रयत्न किया गया। इसके छात्रों ने महात्मा गांधी के आन्दोलन में सम्मिलित होने का निश्चय किया और वे सामूहिक रूप में कॉलेज को त्यागने के लिये तैयार हो गए।[3] परन्तु चूंकि कॉलेज के अमानतदार राष्ट्रीयकरण के इस कार्यक्रम से सहमत नहीं थे, एक राष्ट्रीय मुस्लिम विश्व विद्यालय की अलग से स्थापना की गई और मौलाना मुहम्मदअली उसके प्रिन्सिपल नियुक्त हुए। गांधीजी ने पंजाब, गुजरात, बिहार तथा भारत के अन्य प्रान्तों में भी दौरा किया और जहाँ-जहाँ वे गए वहाँ की शैक्षिक संस्थाओं में अत्यधिक उत्तेजना उत्पन्न हुई। लाहौर तथा खालसा कॉलिजों में विशेष परिवर्तन हुए। गुजरात में एक राष्ट्रीय कॉलेज स्थापित हुआ और पूना में तिलक महाविद्यालय खोला गया। बनारस विश्वविद्यालय भी इस आन्दोलन के प्रभाव से न बच सका। वास्तव में गांधीजी के भ्रमण के बीच आने वाले स्थानों पर शिक्षा-सम्बन्धी प्रणाली में उथल-पुथल अवश्य हुई। दिसम्बर २६, १९२० को आरम्भ होने वाले कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में असहयोग के प्रस्ताव के समर्थन के पश्चात् इस आन्दोलन की प्रगति और अधिक वेग से होने लगी।[4]

सन १९२१ में यह आन्दोलन अप्रत्याशित गति से बढ़ने लगा। सैकड़ों वकीलों ने वकालत बन्द करदी और मुकद्दमों का निर्णय पंचायतों में

1 Indian Review, Sept 1920
2 Ibid Oct 1920.
3. Ibid
4 Ibid, Jan, 1921.

होने लगा। फलस्वरूप सरकार की स्टाम्पों के विक्रय द्वारा होने वाली आय बहुत कम हो गई। अनेकों स्कूल खाली हो गए और उनके स्थान पर राष्ट्रीय विश्व विद्यालयों, कॉलेजों और स्कूलों की स्थापना हो गई। पटना और कलकत्ता में अनेकों नई शिक्षा-संस्थाएँ कायम हुई और बिहार, बनारस, गुजरात और महाराष्ट्र में विद्यापीठ स्थापित हुए। खद्दर का प्रयोग बहुत बढ़ गया। परन्तु उपाधियों का त्याग धीरे-धीरे ही हुआ क्योंकि उनको धारण करने वाले व्यक्ति सरकार के निकटस्थ थे तथा अच्छा जीवन व्यतीत कर रहे थे। मादक द्रव्यों के उपयोग के विरुद्ध जनता द्वारा स्वेच्छा से आरम्भ किये गए आन्दोलन के फलस्वरूप सरकार की आबकारी से होने वाली आय बहुत घट गई।[1] ऐसी परिस्थितियों में भारतवासियों द्वारा ड्यूक ऑफ कनॉट (Duke of Connaught) का बहिष्कार करना स्वाभाविक था। उनके लिये एक पत्र में महात्मा गांधी ने लिखा कि 'हम ऐसी व्यवस्था का सदा के लिये अन्त कर देना चाहते हैं, जिसने हमारे देश के मस्तिष्क, शरीर एवं प्राण को निर्बल बना दिया है। हम अंग्रेजी जाति में उस अन्यायपूर्ण प्रकृति के विरुद्ध लड़ने के लिये तैयार हैं जिसने पंजाब में जनरल डायर के अत्याचारों का समर्थन किया है और जिसके कारण इस देश के करोड़ों व्यक्तियों द्वारा सम्मानित इस्लाम धर्म का अपमान हुआ है।"[2] इसके अतिरिक्त तिलक स्वराज फण्ड की स्थापना की गई जिसके लिये लोगों ने उदारता से चन्दा दिया। १७ नवम्बर १९२१ को वेल्स के राजकुमार के भारत आगमन पर बम्बई में बहिष्कार किया गया।[3] यहाँ यह बतला देना भी उचित है कि जनता ने कहीं-कहीं पर अति का पालन भी किया और बम्बई के बलवों तथा कुछ अन्य अप्रिय घटनाओं ने असहयोग एवं खिलाफत आन्दोलनों के इतिहास को कलंकित कर दिया। परन्तु इन आन्दोलनों द्वारा प्रभावित विस्तृत क्षेत्र एवं विशाल और विभिन्न जनसंख्या को देखते हुए ये घटनाएँ नगण्य थीं। परन्तु कुछ भी हो, वे अहिंसा की विचारधारा के प्रतिकूल थीं।

सन् १९२१ के दिसम्बर मास में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ। सरकार दमन नीति का पालन कर रही थी। कांग्रेस ने असहयोग की नीति का समर्थन किया और कांग्रेसजनों को सविनय अवज्ञा की तैयारी करते रहने का आदेश दिया। जनवरी सन् १९२२ में देश के

1 Dr Rajendra Prasad S Ganesan Collection (1919-22)
2 The Indian Annual Register (1922) Edited by W N Mitra
3 The Indian Review Nov 1921

नेताओं का एक सम्मेलन बम्बई में हुआ। इस सम्मेलन में इस बात का प्रयत्न किया कि सरकार तथा कांग्रेस के बीच किसी प्रकार से समझौता हो जाय। एक गोलमेज की माँग प्रस्तावित की गई जिसका उद्देश्य खिलाफत, अमृतसर के हत्याकांड एवं स्वराज्य पर विचार करना था। परन्तु वाइसराय लॉर्ड रीडिंग ने इस प्रकार की माँग को अस्वीकृत कर दिया। इस पर १ फरवरी १९२२ को महात्मा गांधी ने वाइसराय को पत्र लिखा जिसका आशय यह था कि यदि वह अपनी दमन-नीति में परिवर्तन नहीं करेगी तो सूरत जिले के बारदोली स्थान पर सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ कर दिया जायगा। परन्तु सविनय अवज्ञा की ओर इस कदम के उठाते ही ४ फरवरी सन् १९२२ को गोरखपुर में चौरी-चौरा के स्थान पर जनता द्वारा पुलिस पर आक्रमण का दुःखद समाचार मिल गया।[1] घटना इस प्रकार थी कि जुलूस में पीछे-पीछे जाते हुए प्रदर्शनकारियों को पुलिस के कुछ कानिस्टबिलों ने छेड़ दिया और उनको गालियाँ दीं। इस पर उन्होंने सहायता के लिये चिल्लाना आरम्भ किया और फलस्वरूप सारी भीड़ लौटकर कानिस्टेबिलों पर टूट पड़ी। उन्होंने गोली चलाना आरम्भ कर दिया परन्तु उनके पास बारूद शीघ्र ही समाप्त हो जाने के कारण वे पास के थाने में भाग खड़े हुए। कुछ भीड ने थाने में आग लगादी। परिणाम-स्वरूप कानिस्टेबिल लोग बाहर निकल आये और प्रदर्शन-कारियों ने उनको भी आग में डाल दिया। इस प्रकार २१ सिपाही तथा १ दरोगा उनके शिकार हुए।[2] इस घटना ने महात्मा गांधी को असहयोग आन्दोलन स्थगित करने के लिए बाध्य किया, क्योंकि उनकी दृष्टि में यह अपना अहिंसात्मक रूप खोता जा रहा था।

इस आन्दोलन की प्रगति-काल में सरकार की ओर से दमन भी कम उग्र नहीं रहा। १० जुलाई सन् १९२१ को अखिल भारतीय खिलाफत कान्फ्रेंस ने कराची में मौलाना मुहम्मदअली की अध्यक्षता में एक प्रस्ताव पास किया जिसमें मुस्तफा कमाल पाशा एवं उसकी सरकार को इस्लाम की रक्षा के लिये बधाइयाँ दी गई और मुसलमानों को अंग्रेजी सरकार की सेना में भरती होने, अथवा उसकी किसी प्रकार से सहायता न करने का आदेश दिया गया।[3] इसके फलस्वरूप १४ सितम्बर सन् १९२१ को मौलाना मुहम्मद अली गिरफ्तार कर लिये गए।[4] मौलाना शौकत अली, डॉक्टर किचलू आदि को भी जेल-यात्रा करनी पड़ी। २३ नवम्बर सन् १९२१ को

1 The Indian Review, Feb 1922
2 Young India, Feb 16, 1922, S Ganesan Collection
3 The Indian Annual Register of 1922
4 The Indian Review, Sept. ,1921.

सरकार ने दिल्ली में 'विद्रोही-सभा-नियम' (Seditious Meetings Act) लागू कर दिया जिसके अनुसार स्वयंसेवकों के एक स्थान पर इकट्ठे होने को नियम-विरुद्ध घोषित कर दिया गया। पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में भी इसी प्रकार के नियम लागू किये गए। २६ नवम्बर से आसाम में भी Criminal Amendment Act, Part II के अन्तर्गत कड़ी सजाएँ दी जाने लगीं। गिरफ्तारियाँ की गईं, मकानों की तलाशियाँ ली गईं तथा जनता को कठोर पुलिस शासन के अन्य साधनों का सामना करना पड़ा।[1] ६ फर्वरी सन् १६२२ को प्रकाशित सरकारी विज्ञप्तियों के प्रत्युत्तर में महात्मा गांधी ने देश की तात्कालिक दशा और सरकार द्वारा दमन का स्पष्ट वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि कलकत्ता में पुलिस को गोलियाँ चलाने की आज्ञा दे दी गई, ढाका और अलीगढ़ में निरपराध व्यक्तियों को उनके पैर के बल घसीटा गया, लाहौर और जालन्धर में स्वयंसेवकों एवं जनता पर आक्रमण हुए, देहरादून में एक निरपराध बच्चा गोली का शिकार हुआ, तथा खिलाफत एवं कांग्रेस के ऑफिसों की आधी-रात में तलाशियाँ ली गईं।[2] एक एक करके देश के सभी प्रमुख नेता गिरफ्तार हुए और १० मार्च सन् १६२१ को महात्मा गांधी की बारी आई,[3] जबकि उन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को वापिस ले लिया था। उनको भारतीय नियम संहिता की धारा १२४ अ के अन्तर्गत गिरफ्तार किया गया।[4]

परिणाम—

हिन्दू तथा मुस्लिम नेताओं की गिरफ्तारी एवं लोसान की सन्धि (Treaty of Lausanne) के परिणामस्वरूप खिलाफत एवं असहयोग आन्दोलनों का अन्त हो गया और जनता को फिर से जागृत करने के सभी प्रयत्न असफल रहे। हिन्दू-मुसलमान के बीच बलवों ने दोनों जातियों के संगठन को बड़ा धक्का पहुँचाया। २० अगस्त सन् १६२१ को मालाबार में तिरुरनगढी के स्थान पर होने वाले बलवों को दबाने के लिये सैनिकों को तैनात करना पड़ा।[5] खिलाफत प्रदर्शनकारियों की गिरफ्तारी के परिणामस्वरूप खड़े हुए मोपला बलवे भी हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों में परिवर्तित हो गए। महात्मा गांधी ने लिखा है कि मोपलाओं की अज्ञानता एवं धर्मान्धता के कारण अनेकों हिन्दुओं के घर लूट लिये गए, उनको बलपूर्वक मुसलमान

1 The Indian Annual Register 1922
2 Ibid, 1922
3 The Indian Review, March, 1922
4 Ibid, Sept, 1921
5 Young India Collection by S Ganesan (1919-22)

बनाया गया और उन पर अकथनीय अत्याचार हुए। परन्तु इस सब के होते हुए भी हिन्दू-मुस्लिम एकता भविष्य में कुछ दिनों तक जारी रही। परन्तु भारतीय राजनीति में इस रोग के आरम्भ होने के परिणामस्वरूप सन् १९२३ से लेकर १९२७ तक के पाँच वर्षों में लगभग ४५० व्यक्ति मृत्यु के शिकार हुए और ५००० व्यक्ति घायल हो गए।[1] वास्तव में खिलाफत एवं असहयोग आन्दोलनों की प्रगति-काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता के कारण दोनों जातियों का अंग्रेजों के प्रति समान रूप से विरोध था और इस प्रेरणा का अन्त होते ही दोनों जातियों में परस्पर शत्रुता की भावना दिखाई देने लगी। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष के समस्त इतिहास में हिन्दू और मुसलमान केवल एक बार खिलाफत और पंजाब के प्रश्न पर मिले परन्तु प्रथम अवसर पर ही उनके सम्बन्ध विछिन्न हो गये। यह सब होते हुये भी, इस आन्दोलन ने भारतियों का साहस बढ़ा दिया और उनको संगठित रूप से आन्दोलन चलाने का अनुभव प्राप्त होगया। यह भविष्य में उनके लिये बड़ा लाभदायक सिद्ध हुआ। असहयोग आन्दोलन का यह भी परिणाम हुआ कि कुछ नेता महात्मा गांधी के चौरी-चौरा के बाद एकदम आन्दोलन समाप्त करने की नीति से असंतुष्ट हो गये और उन्होंने स्वराज्य दल की स्थापना की।

---

1 Indian Statutory Commission Report, Vol I

अध्याय ११

खिलाफत आन्दोलन

खिलाफत का अर्थ—

खिलाफत का आधार मुसलमानों का यह विश्वास था कि ससार के विभिन्न भागों में फैले होने पर भी उनके समस्त सहधर्मी एक शासक की अधीनता में हैं जो अपने राजनीतिक अधिकारों एव प्रतिष्ठा के साथ-साथ उनके धर्म का भी रक्षक है।[1] वे तुर्की के सुल्तान को सारी मुसलमान जाति एव इस्लाम धर्म का सरक्षक मानते थे।

मुहम्मद साहब की मृत्यु के पाश्चात् उत्तराधिकार का प्रश्न उठ खड़ा हुआ क्योंकि उन्होंने अपने साथियों में से किसी को भी 'खलीफा' के पद के लिये नहीं चुना था। परन्तु अबू बक्र, अली के विरोध के पश्चात् इस गौरवयुक्त पद के भागी हुये और उनके पश्चात् उमर तथा उस्मान को 'खलीफा' का पद मिला। इन तीनों के पश्चात् अली साहब की बारी आई। कुछ दिनों बाद सीरिया का गवर्नर खलीफा बन गया। उसके समय मे यह पद पैतृक हो गया और उत्तराधिकार की प्रणाली इसका आधार बन गई।[2] परन्तु १९वीं शताब्दी में यूरोप में ईसाई राष्ट्रों द्वारा इस्लामी राज्यों पर विजय की प्रतिक्रिया स्वरूप यह खिलाफत तुर्की के सुल्तान को मिली। अंग्रेज लोग पूर्व में रूस की शक्ति की बढ़ोतरी से बड़े भयभीत थे। इस कारण वे तुर्की की रक्षा करते रहे। परन्तु प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इस राज्य की प्रादेशिक पूर्णता को कायम रखना उनके लिये असभव हो गया और फलस्वरूप इस पद की स्थिरता खतरे में पड़ गई। तुर्की मे इस प्रकार की परिस्थिति ने भारत में खिलाफत आन्दोलन को जन्म दिया।

---

1 Maqalat i Shibli, Vol I
2 Phillip K Hitti The Arabs, A Short History

खिलाफत आन्दोलन की उत्पत्ति मुसलमानों की इस विचारधारा के कारण हुई थी कि संसार के विभिन्न भागों में फैले रहने पर भी वे भ्रातृ-बन्धन से जुड़े हुए हैं। उनमें यह भावना तीव्र थी कि किसी भी कोने में मुसलमानों पर आपत्ति पड़ने पर उनकी हर प्रकार से सहायता करना समस्त सहधार्मियों का कर्त्तव्य है।[1] महायुद्ध के समाप्त होते ही मित्र राष्ट्रों ने तुर्की साम्राज्य को विभाजित करना आरम्भ कर दिया और मुसलमानों के धर्म-स्थान विधर्मियों को दे दिये। फलस्वरूप मुसलमानों में बड़ा असन्तोष उत्पन्न हुआ और तुर्की के भविष्य की चिंता ने उनमें संगठन की भावना को दृढ बना दिया। वास्तव में तुर्की ही इस समय एक मात्र स्वतन्त्र इस्लामी राज्य था जो इस धर्म के पवित्र स्थानों का संरक्षक था और जिसका सुल्तान खलीफा के पद द्वारा संसार के सभी मुसलमान देशों के बीच धार्मिक सम्बन्ध स्थापित किये हुए था।[2]

कारण—

तुर्की के भविष्य के लिये मुसलमानों की बेचैनी की कहानी सन् १९११ से आरम्भ होती है जब कि इटली ने ट्रिपोली पर अधिकार प्राप्त करने के लिये इस पर आक्रमण कर दिया था। भारतीय मुसलमानों में इस समाचार से बड़ी सनसनी फैली और उन्होंने देश के सभी प्रमुख स्थानों में इसके विरोध में सभाएँ कीं। लन्दन तथा रंगून में भी सभाएँ की गईं। उनमें इटली के इस बर्ताव की घोर निन्दा हुई। साथ-साथ अंग्रेजों से सहायता की प्रार्थना की गई। आक्रामक इटली के विरुद्ध तुर्की की विजय के लिये मुसलमानों ने मसजिदों में जाकर दुआएँ माँगीं।[3] इसके पश्चात् प्रथम और द्वितीय बलकान युद्धों (१९१२–१३ और १९१३)[4] ने मुसलमानों की उत्सुकता को प्रोत्साहन दिया। मुस्लिम लीग की लन्दन शाखा के कथनानुसार इटली के ट्रिपोली पर आक्रमण तथा बलकान युद्धों ने भारतीय मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को इतना उग्र बना दिया था कि वे अपने देश की घटनाओं की ओर भी ध्यान नहीं दे रहे थे।[5] लखनऊ के ख्याति प्राप्त बैरिस्टर मुमताज हुसैन द्वारा अमीनाबाद पार्क में दिये गए अत्यन्त जोशीले भाषण ने तो उपस्थित डिप्टी कमिश्नर को भी चकित बना दिया। डॉक्टर अन्सारी ने युद्ध-ग्रस्त तुर्की

---

1 Musalmanon Ka Mazi, Hal Aur Mustaqbil by Mian Bashir Ahmad
2 The Aligarh Institute Gazette, Dec. 11, 1912.
3. The Comrade, Oct 14, 1911
4. E Lipson, Europe in the Nineteenth Century
5 The Aligarh Institute Gazette, April 8, 1914

अध्याय ११

खिलाफत आन्दोलन

खिलाफत का अर्थ—

खिलाफत का आधार मुसलमानों का यह विश्वास था कि संसार के विभिन्न भागों में फैले होने पर भी उनके समस्त सहधर्मी एक शासक की अधीनता में हैं जो अपने राजनीतिक अधिकारों एवं प्रतिष्ठा के साथ-साथ उनके धर्म का भी रक्षक है।[1] वे तुर्की के सुल्तान को सारी मुसलमान जाति एवं इस्लाम धर्म का संरक्षक मानते थे।

मुहम्मद साहब की मृत्यु के पाश्चात् उत्तराधिकार का प्रश्न उठ खड़ा हुआ क्योंकि उन्होंने अपने साथियों में से किसी को भी 'खलीफा' के पद के लिये नहीं चुना था। परन्तु अबू बक्र, अली के विरोध के पश्चात् इस गौरवयुक्त पद के भागी हुये और उनके पश्चात् उमर तथा उस्मान को 'खलीफा' का पद मिला। इन तीनों के पश्चात् अली साहब की बारी आई। कुछ दिनों बाद सीरिया का गवर्नर खलीफा बन गया। उसके समय मे यह पद पैतृक हो गया और उत्तराधिकार की प्रणाली इसका आधार बन गई।[2] परन्तु १६वीं शताब्दी मे यूरोप में ईसाई राष्ट्रों द्वारा इस्लामी राज्यों पर विजय की प्रतिक्रिया स्वरूप यह खिलाफत तुर्की के सुल्तान को मिली। अंग्रेज लोग पूर्व मे रूस की शक्ति की बढ़ोतरी से बड़े भयभीत थे। इस कारण वे तुर्की की रक्षा करते रहे। परन्तु प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इस राज्य की प्रादेशिक पूर्णता को कायम रखना उनके लिये असंभव हो गया और फलस्वरूप इस पद की स्थिरता खतरे में पड़ गई। तुर्की में इस प्रकार की परिस्थिति ने भारत में खिलाफत आन्दोलन को जन्म दिया।

1 Maqalat-i-Shibli, Vol I
2 Philip K Hitti The Arabs, A Short History

खिलाफत आन्दोलन की उत्पत्ति मुसलमानों की इस विचारधारा के कारण हुई थी कि ससार के विभिन्न भागों में फैले रहने पर भी वे भ्रातृ-बन्धन से जुड़े हुए हैं। उनमें यह भावना तीव्र थी कि किसी भी कोने में मुसलमानों पर आपत्ति पड़ने पर उनकी हर प्रकार से सहायता करना समस्त सहधार्मियों का कर्त्तव्य है।[1] महायुद्ध के समाप्त होते ही मित्र राष्ट्रों ने तुर्की साम्राज्य को विभाजित करना आरम्भ कर दिया और मुसलमानों के धर्म-स्थान विधर्मियों को दे दिये। फलस्वरूप मुसलमानों मे बड़ा असन्तोष उत्पन्न हुआ और तुर्की के भविष्य की चिंता ने उनमें सगठन की भावना को दृढ बना दिया। वास्तव में तुर्की ही इस समय एक मात्र स्वतन्त्र इस्लामी राज्य था जो इस धर्म के पवित्र स्थानों का सरक्षक था और जिसका सुल्तान खलीफा के पद द्वारा ससार के सभी मुसलमान देशों के बीच धार्मिक सम्बन्ध स्थापित किये हुए था।[2]

कारण—

तुर्की के भविष्य के लिये मुसलमानों की बेचैनी की कहानी सन् १९११ से आरम्भ होती है जब कि इटली ने ट्रिपोली पर अधिकार प्राप्त करने के लिये इस पर आक्रमण कर दिया था। भारतीय मुसलमानों में इस समाचार से बड़ी सनसनी फैली और उन्होंने देश के सभी प्रमुख स्थानों में इसके विरोध में सभाएँ कीं। लन्दन तथा रगून में भी सभाएँ की गईं। उनमें इटली के इस बर्ताव की घोर निन्दा हुई। साथ-साथ अंग्रेजों से सहायता की प्रार्थना की गई। आक्रामक इटली के विरुद्ध तुर्की की विजय के लिये मुलसमानों ने मसजिदों में जाकर दुआएँ माँगीं।[3] इसके पश्चात् प्रथम और द्वितीय बलकान युद्धों (१९१२–१३ और १९१३)[4] ने मुसलमानों की उत्सुकता को प्रोत्साहन दिया। मुस्लिम लीग की लन्दन शाखा के कथनानुसार इटली के ट्रिपोली पर आक्रमण तथा बलकान युद्धों ने भारतीय मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को इतना उग्र बना दिया था कि वे अपने देश की घटनाओं की ओर भी ध्यान नहीं दे रहे थे।[5] लखनऊ के ख्याति प्राप्त बैरिस्टर मुमताज हुसैन द्वारा अमीनाबाद पार्क में दिये गए अत्यन्त जोशीले भाषण ने तो उपस्थित डिप्टी कमिश्नर को भी चकित बना दिया। डॉक्टर अन्सारी ने युद्ध-ग्रस्त तुर्की

1 Musalmanon Ka Mazi, Hal Aur Mustaqbil by Mian Bashir Ahmad
2 The Aligarh Institute Gazette, Dec 11, 1912.
3 The Comrade, Oct 14, 1911.
4. E Lipson, Europe in the Nineteenth Century
5 The Aligarh Institute Gazette, April 8, 1914

सैनिकों की चिकित्सा के लिए एक मिशन ले जाने पर जोर दिया। मौलाना मोहम्मद अली ने भी तुर्कों की सहायता करने का भरसक प्रयत्न किया और अपने 'कॉमरेड' नामक पत्र में उन्होंने मुसलमानों से चन्दे देने के लिये प्रार्थनाएँ कीं जिसके फलस्वरूप एक-एक दिन में लगभग १५ हजार रुपया उनके कार्यालय में इकट्ठा हो जाता था। उन्होंने यह भी प्रयत्न किया कि तुर्की सरकार की प्रतिभूतियाँ (Securities) भारतियों द्वारा खरीद ली जायें।[1] मौलाना शौकत अली ने बलकान राज्यों में तुर्कों की ओर से लड़ने के लिये स्वयं-सेवकों के संगठन के लिये अपने सहधर्मियों से अपीलें कीं। वे तुर्कों के लिये मुसलमानों की सहानुभूति का प्रत्यक्ष प्रमाण देना चाहते थे।[2]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर युद्धोत्तर काल में भारतीय मुसलमानों की विचारधारा का अनुभव लगाना सुगम है। यह हम पहिले ही बतला चुके हैं कि युद्ध-काल में मुसलमानों ने ग्रेट ब्रिटेन को पूर्ण सहयोग दिया था। परन्तु उनका यह सहयोग अँग्रेजों की कूटनीति द्वारा उत्पन्न किये गए इस भ्रम का परिणाम था कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात् तुर्की साम्राज्य की सीमाओं में कोई अन्तर नहीं आएगा। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि एशिया माइनर, सीरिया और थ्रेस तुर्कों के सुल्तान के अधिकार में ही रहेंगे।[3] सन् १९१९ में शांति सम्मेलन (Peace Conference) में तुर्की के भविष्य पर विचार किया गया। उस समय यूनान के प्रधान मन्त्री वेनीजेलस् (Venizelos) ने मित्र-राष्ट्रों को इस बात पर राजी कर लिया वे यूनानी सेनाओं को स्मर्ना में रहने की स्वीकृति दे दें और इसके फलस्वरूप सन् १९२० में तुर्की के साथ की गई सेव्रेस की सन्धि में यह शर्त रक्खी गई कि पाँच साल तक स्मर्ना यूनान के अधिकार में रहेगा और इस अवधि के पश्चात् उसका भाग्य मतदान द्वारा निर्णय किया जायगा।[4] वास्तव में यह तुर्कों के प्रति घोर अन्याय था क्योंकि उसकी सीमाओं का यह खंडन युद्ध-विराम के बहुत समय पश्चात् किया गया था। मुसलमानों का मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध सशंकित होना स्वाभाविक था क्योंकि अँग्रेजी, फ्रांसीसी तथा अमेरिका के सभी प्रमुख पत्रकार निकट पूर्वी समस्या को तुर्कों के लिये अहितकर ढंग से सदा के लिये हल करने का परामर्श दे रहे थे।[5] खिलाफत आन्दोलनकारियों की माँगों से मुसलमान जनता के

---

1 Rais Ahmad Jafri Nidvi, Sirat-i-Muhammad Ali
2 The Aligarh Institute Gazette, Oct 30, 1912.
3 Maulvi Tahir Faruqi Maulana Muhammad Ali Marhum Kai Sawanah Hayat
4 E H Carr International Relations between the two World Wars
5 India in 1921-22

असन्तोष की हमें स्पष्ट झलक मिल जाती है। वे चाहते थे कि तुर्की को युद्ध-पूर्व काल का स्तर दे दिया जाय, उसका अरबों एवं आर्मिनियनों पर स्वत्व फिर से स्थापित हो और पैलिस्टीन, सीरिया, थ्रेस और डारडैन्ल्स (Dardenelles) को फिर से तुर्की के साम्राज्य से मिला दिया जाये।

यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् तुर्की के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया गया और इसने भारतीय मुसलमानों के रोष को उग्र कर दिया। मुसलमान तुर्की साम्राज्य की सीमाओं के लिये ही नहीं अपितु खिलाफत से गौरव की हानि के लिये भी चिंतित थे। यही कारण था कि अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के बारहवें अधिवेशन में, जो दिसम्बर २९, सन् १९१९ से अमृतसर में हकीम अजमलखां की अध्यक्षता में आरम्भ हुआ, सारा वातावरण अँग्रेजी सरकार के प्रति असन्तोष एवं अविश्वास से युक्त था। मौलवी सनाउल्लाह ने कहा कि हम मुसलमान यह अच्छी तरह जता देना चाहते हैं कि मक्का और मदीना को विधर्मियों के हाथों में दे दिये जाने से भारतीय मुसलमानों के हृदयों पर बड़ा आघात पहुंचा है और अँग्रेजों एवं फारस के बीच सन्धि ने उनकी चिंता को और भी बढ़ा दिया है।[1]

मुस्लिम लीग का चौदहवाँ अधिवेशन दिसम्बर सन् १९२१ में इलाहाबाद में हुआ। मौलाना हसरत मोहानी ने अपने सभापतित्व भाषण में खिलाफत की माँगें इस प्रकार पेश कीं कि—(१) लॉयड जॉर्ज के वचनानुसार थ्रेस और स्मर्ना पूर्ण रूप से तुर्की के अधिकार में कर दिये जायें जिससे कि खिलाफत-उल-इस्लाम का राजनीतिक गौरव युद्ध-पूर्व काल के समान हो जाये, (२) कुस्तुनतुनिया, डारडैन्ल्स एवं मारमोरा (Marmora) पर से विधर्मियों के अधिकार बिल्कुल हटा दिये जायँ, (३) खिलाफत पर लगाए गए सम्पूर्ण एवं सामुद्रिक एवं सैनिक प्रतिबन्ध हटा लिये जायें जिससे तुर्की का सुल्तान खिलाफत-सम्बन्धी अपनी आज्ञाओं का पालन करा सके और (४) जजीरात-उल-अरब जिसमें हजाज़ (Hedjaz) फिलिस्तीन और मेसोपोटामिया सम्मिलित हैं विधर्मियों के नियन्त्रण से मुक्त कर दिये जायें और वहाँ से अँग्रेजी स्वत्व (Manda'e) को हटा लिया जाये क्योंकि यह मौहम्मद साहब की आज्ञा के प्रतिकूल था। अपनी चौथी माँग के सम्बन्ध में मुसलमान यह निर्णय स्वयं ही करना चाहते थे कि भविष्य में मक्का के शरीफ अथवा तुर्की के सुल्तान में से किस को खलीफा मानें और हजाज, फिलिस्तीन और मेसापोटामिया

1 The Indian Review, Jan. 1920.

की अरब सरकार तुर्की के सुल्तान की अधीनता में रहेगी या नहीं। इस मामले में वे विधर्मियों का तनिक भी हस्तक्षेप नहीं चाहते थे।[1]

मुसलमानों ने खिलाफत के प्रश्न को अपनी इच्छानुसार निर्णीत किये जाने के लिये बडा भारी प्रयत्न किया। खिलाफत समिति की पहिली बैठक सन् १६१६ के नवम्बर मास में दिल्ली में हुई।[2] परन्तु खिलाफत आन्दोलन में प्रोत्साहन मौलाना मुहम्मदअली और मौलाना शौकतअली के नजरबन्दी से मुक्त हो जाने पर ही मिला। मौलाना मुहम्मदअली का मुसलमानों के लिये बहुत जोश था और इसका परिचय वे सन् १६१३ में ही दे चुके थे जबकि कानपुर की मसजिद के मामले (Kanpur Mosque Case) में मिल्लत का प्रतिवाद करने और इङ्गलैंएड की तुर्की-विरोधी नीति का विरोध करने के लिये वे इगलैंड गए थे।[3] उनके नायकत्व में खिलाफत आन्दोलन को बड़ा बल मिला। अमृतसर में अखिल-भारतीय खिलाफत सम्मेलन हुआ। इसमें प्रमुख काग्रेसी नेता भी उपस्थित थे। खिलाफत आन्दोलनकारियों के साथ उन्होंने देश की तात्कालिक दशा पर विचार किया और खिलाफत के कार्य को सगठित रूप से करने का निश्चय हुआ।[4] जनवरी १६ सन् १६२० को एक खिलाफत डेपूटेशन वाइसराय से मिलने के लिये गया।[5] परन्तु इस डेपूटेशन के सदस्य वाइसराय को प्रभावित करने में असफल रहे और २० जनवरी सन् १६२० को दिये गए उनके वक्तव्य से उनकी निराशा की स्पष्ट झलक मिल जाती है। उन्होंने कहा कि यद्यपि वाइसराय का व्यवहार अत्यन्त सभ्य था, उनका यह कथन कि तुर्की अपनी स्वेच्छा से मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ने के लिये उसके परिणामों का स्वय भागी है, निराशाजनक है।[6] लेकिन मौलाना मुहम्मदअली ने इस पर भी हिम्मत नहीं हारी और अपने इच्छित लक्ष्य की पूर्ति के लिये २६ जनवरी, १६२० में एक डेपूटेशन इगलैंड ले गए। इसके सदस्य उच्चाधिकारियों से मिलने के साथ-साथ इगलैंड की जनता से भी मिले।[7] परन्तु उनका यह सब प्रयत्न असफल रहा, क्योंकि एक अधीन एव आश्रित जाति

1. The Indian Annual Register, 1922 (Presidential Address of Hasrat Mohani)
2. The Aligarh Institute Gazette, 26th May, 1920
3. My Life, A Fragment—An Autobiographical Sketch of Maulana Muhammad Ali
4. Dr Pattabhi Sitaramayya The History of the Indian National Congress
5. The Indian Review, Jan 1920
6. Ibid
7. Ib i March 1920

द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को अपनी इच्छानुसार प्रवर्त्तन देना असम्भव था। खिलाफत आन्दोलन दृढ एवं सगठित होते हुए भी भ्रमपूर्ण था। फिर भी, मौलाना मोहम्मद अली के जोश में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं थी। स्कारबरो (Scarborough) में श्रमिक संगठन के वार्षिक सम्मेलन में दिये गए केवल पाँच मिनट के समय में उन्होंने अपने श्रोताओं को प्रभावित कर दिया।[1] परन्तु राष्ट्रों की भारी समस्यायें विशेषकर एक महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात्, भाषणों तथा डेपूटेशनों से नहीं सुलझ सकती थीं और मौलाना तथा उनके साथी प्रतिनिधियों को अक्टूबर मास में निराश ही लौटना पड़ा।[2]

परन्तु अभी कुछ प्रयत्न बाकी थे। यह हम देख चुके हैं कि सन् १६१६ के लखनऊ के समझौते ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का मार्ग प्रशस्त कर दिया था और यह परस्पर मेल-जोल की भावना दोनों जातियों के बीच झगड़ों और बलवों की उपेक्षा करती हुई अभी चली आ रही थी।[3] महात्मा गांधी एवं कांग्रेस को मुसलमानों की समस्या से सच्ची सहानुभूति थी और वे खिलाफत आन्दोलन को भी अपना ही आन्दोलन समझकर योग दे रहे थे। दिसम्बर २७, १६१६ में कांग्रेस के अमृतसर अधिवेशन में खिलाफत के प्रश्न पर बड़ा जोर दिया गया और मुसलमानों के साथ सहयोग की भावनाएँ प्रदर्शित की गईं।[4] इसके सभापति पण्डित मोतीलाल नेहरू ने कहा कि राष्ट्र की एक जाति पर संकट आजाने से दूसरी जाति का उससे अलग रहना असंभव है और खिलाफत के प्रश्न को विचाराधीन करना कांग्रेस का प्रत्यक्ष कर्त्तव्य है।[5]

मुस्लिम-लीग के बारहवें अधिवेशन में (दिसम्बर २६ सन् १६१६ में) कांग्रेस के प्रमुख नेता—पण्डित मोतीलाल नेहरू, मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी, मिसेज बीसेण्ट और वी एस. शास्त्री उपस्थित थे।[6] सन् १६१६ दिल्ली के खिलाफत सम्मेलन में महात्मा गांधी ने असहयोग की नीति के पालन करने का सुझाव दिया। उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि यदि अँग्रेजी सरकार और भारत की सरकार मुसलमानों की खिलाफत की माँगों को नहीं सुनेगी तो समस्त भारतियों का यह कर्त्तव्य होगा कि अपन जाति-विभेद को भुलाकर समान रूप से अँग्रेजों से सम्बन्ध विच्छेद करदें।[7]

---

1. My life, A Fragment
2. Ibid
3. Indian Statutory Commission Report, Vol. I
4. The Indian Review, Jan 1920,
5. Congress Presidential Address, Second Series from 1911—1934, Natesan & Co
6. The Indian Review, Jan , 1920
7. India in 1921–22

आन्दोलन की प्रगति—

महात्मा गांधी के नेतृत्व में खिलाफत आन्दोलन को बड़ा प्रोत्साहन मिला और असहयोग आन्दोलन के साथ-साथ इसकी प्रगति भी आश्चर्यजनक होने लगी। इगलैंड से लौटकर शीघ्र ही महात्मा गांधी ने मौलाना मोहम्मद अली और शौकतअली के साथ जनता में जागृति उत्पन्न करने के उद्देश्य से देश-भ्रमण आरम्भ कर दिया। मौलाना मोहम्मदअली न कहा था कि हम तीनों कई मास तक निरतर एक साथ भ्रमण का कार्य करते रहे और शायद ही कोई दिन ऐसा व्यतीत हुआ होगा जबकि मुझे महात्मा गांधी और अपने भाई से अलग रहने का अवसर पड़ा हो।[1] खिलाफत आन्दोलन देश में असहयोग आन्दोलन के साथ-साथ बढता रहा और कुछ समय के लिये तो ये दोनों अपनी प्रगाढता में परस्पर मिलकर एक हो गए। अब हम इन राजनीतिक परिवर्तनों का मुसलमानों की प्रतिक्रिया पर प्रकाश डालेंगे।

असफलता के कारण—

यह बिल्कुल सच है कि मुसलमान साधारणतः अपने किसी भी आन्दोलन में चाहे वह कितना ही हितकर क्यों न हो, एक विधर्मी का नेतृत्व तनिक भी नहीं चाहते थे और इस कारण महात्मा गांधी के मार्ग प्रदर्शन से उन्हें सख्त चिढ थी। लखनऊ के मौलाना अब्दुल बरी की इस बात पर बड़ी आलोचना की गई कि उन्होंने राजनीतिक मामलों में महात्मा गांधी की नीति को मान्यता देना आरम्भ कर दिया था। कट्टर मुसलमानों ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि कुरान को सभी मामलों में मार्ग-दर्शक मानने वाले उलमाओं को किसी विधर्मी को अगुआ नहीं बनाना चाहिये।[2] अधिकाश मुसलमानों को यह भय था कि कहीं वे महात्मा गांधी के नायकत्व में अपन पृथक् अस्तित्व को न खो बैठें।[3] मुहम्मद एँग्लो ओरियण्टल कॉलेज के दीनयात के शिक्षक मौलाना सैयद सुलेमान अशरफ ने उलेमा अब्दुलबरी के उन भाषणों की बड़ी आलोचना की जो उन्होंने नवम्बर सन् १६१६ में दिल्ली की खिलाफत कमेटी में दिये थे और जिनमें उन्होंने महात्मा गान्धी की बड़ी प्रशंसा की थी। उन्होंने कहा कि गौ-हत्या करना एक धार्मिक कर्तव्य है और हिन्दुओं के प्रति प्रेम अथवा भय के कारण इसे छोड़ने वाले लोग

---

1 My Life, A Fragment
2 The Aligarh Gazette, Jan 6 1922
3 Ibid Jan 16, 1922.

पाप के भागी होंगे ।[1] मुसलमानों के कट्टर विभाग में मौलाना मोहम्मद अली और मौलाना शौकतअली को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था और उनकी हिन्दू-जाति के प्रति श्रद्धा की विशेष चर्चा की जाती थी। यहाँ तक कहा जाता था कि शौकतअली ने तो दिल्ली में एक भाषण में हिन्दुओं द्वारा अपनी स्त्रियों के अपमान का बदला न लेने का दृढ निश्चय प्रकट किया है।[2] वे महात्मा गाधी को 'इमाम मेहदी' के समान आदरणीय समझने के कारण स्वधर्म-त्यागी समझे जाते थे।[3] मौलाना मोहम्मद अली के लिये यह अफवाह फैली हुई थी कि एक बार उन्होंने महात्मा गाधी को ईश्वर के नाम से पुकारते हुए साष्टाग दण्डवत किया था।[4] कट्टर मुसलमानों को यह बहुत असहनीय था कि मुसलमान नेता महात्मा गान्धी को 'सरकार' कह कर पुकारे।[5] अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन के इस देवता की चर्खा-प्रयोग नीति की आलोचना की जाती थी और यह कहा जाता था कि महात्मा गाधी ने शिक्षा में प्रोत्साहन देने के स्थान पर चर्खा-प्रयोग करने की मूर्खता का प्रचार किया है। मुसलमानों का यह कहना कि खद्दर के प्रयोग से भारतियों को राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती है, और यदि यही सभव है तो पचास साल पहिले इसके विस्तृत प्रयोग के बावजूद देश में अँग्रेजों का आधिपत्य क्यों स्थापित हो गया,[6] उनके थोथे राजनीतिक ज्ञान को प्रदर्शित करता है। उस समय की कविताओं में मुसलमानों की इसी प्रकार की भावनाओं की भरमार मिलती है। महात्मा गांधी के चर्खे पर जोर देने के कारण तो कुछ मुसलमानों ने काग्रेस को छोड दिया था।[7] गाधी जी का असहयोग आन्दोलन कट्टर मुसलमानों को बहुत बुरा लगता था क्योंकि उनकी सम्मति में गान्धी जी के स्वराज्य का विचार मुस्लिम लीग के आदर्श से बहुत भिन्न था। खुदाबख्श ने यह निःसकोच कहना आरम्भ कर दिया कि असहयोग आन्दोलन ने मुसलमानों को बड़ी हानि पहुँचाई है क्योंकि इसके द्वारा वे कला एव विज्ञान के प्रगतिशील एवं हितकर

1. The Aligarh Institute Gazette, May 26, 1920.
2 The Aligarh Gazette, Dec. 7, 1923
3. The Aligarh Institute Gazette, Nov 15, 1920.
4 The Aligarh Gazette, July 25, 1924
5 Ibid Nov. 25, 1921.
6. Ibfd July 25, 1921.
(खद्दर से क्या कटेगी गुलामी की बेड़ियाँ,
गाधी ने कह दिया है, यह शायद मजाक से)
7. The Aligarh University Gazette, Spt 24, 1924

मार्गों को छोड़कर राजनीति और कानून की उलझन और संदिग्ध कार्यवाहियों में लग गये हैं।[1] कलकत्ता मदरसा में १२ मार्च सन् १६२२ को व्याख्यान देते हुए सर अब्दुल रहीम ने कहा कि असहयोग आन्दोलन के चर्खा और खद्दर-प्रयोग के कार्यक्रम का अर्थ सारे संसार से पृथकत्व स्थापित कर मानवता की सदैव बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रकृति के साधनों का उपयोग करने का त्याग करना है और यह इस्लाम-धर्म के सिद्धान्त एवं इस्लामी इतिहास के प्रतिकूल है।[2]

इसके अतिरिक्त खिलाफत आन्दोलन के नेताओं पर गद्दारी और बेईमानी का सन्देह होता था। मोहम्मदअली पर इस बात के लिये बहुत जोर डाला गया कि वे हिलालअहमद फण्ड, कानपुर मसजिद फण्ड, खुद्दाम-ए-काबा फण्ड, बैत-उल-माल फण्ड तथा खिलाफत और राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के फण्ड के चन्दों का विवरण शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करें और उनको यह चेतावनी दी गई कि इसमें देर होने पर उनके विरुद्ध सन्देह करना स्वाभाविक हो जायगा।[3] मुसलमानों ने खिलाफत कमेटी के द्वारा किये गये व्यय की बड़ी आलोचनाएँ कीं[4] और खिलाफत फण्ड के धन को केन्द्रीय खिलाफत कमेटी के अध्यक्ष, बम्बई के सेठ छोटानी के पास रखे जाने पर बड़ा असन्तोष प्रकट किया।[5] उनके बारे में मुहम्मदअली ने यह बताया था कि उन्होंने इस फण्ड के सोलह लाख रुपयों का हिसाब न दे सकने के कारण उसके बदले में अपने दो लकड़ी के कारखाने दे दिये हैं।[6] यद्यपि मौलाना मोहम्मद अली ने यह प्रकट किया कि खिलाफत फण्ड में बिल्कुल गबन नहीं हुआ है फिर भी लोगों ने उनके कथन को स्वीकार नहीं किया।[7]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि खिलाफत आन्दोलन के नेता अपने समस्त सहधर्मियों का विश्वास प्राप्त करने में असफल रहे थे और उन पर गद्दारी अथवा बेईमानी के अभियोगों ने देश में उनके सम्मान को अवश्य कम कर दिया। इससे यह भी प्रकट हो जाता है कि हिन्दू-मुसलमानों की तात्कालिक एकता केवल दिखावटी थी और राजनीति के सुनहरे आवरण के नीचे गहरी दरारें पड़ती जा रही थीं। दोनों जातियों की यह ऊपरी एकता उनकी

1 The Calcutta Review, April 1923
2 Ibid April May.1923.
3 The Aligarh Gazette, My6, 1921
4 Ibid Nov 10, 1922
5 Ibid Dec 11, 1922
6 Ibid July, 13, 1923
7. Maqalat-I-Muhammad Ali Marhum, Part I

अंग्रेजी सरकार के प्रति समान घृणा से उत्पन्न हुई थी और जैसे-जैसे मुसलमानों का अंग्रेजों से विरोध कम होता गया हिन्दुओं की ओर से उनकी मित्रता की दृष्टि भी बदलती गई। यहाँ तक कि सन् १९२३ में तो दोनों जातियों में बलवे होने लगे जिनमें लूटमार करना, घरों में आग लगाना, हत्या करना आदि आम बातें हो गई। सन् १९२४ में उत्तरी भारत के अनेकों प्रमुख नगरों में भयानक दंगे भी हुए। उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त के कोहाट (Kohat) स्थान की समस्त हिन्दू जनता को तो मुसलमानों के आतंक के कारण जान बचाने के लिये नगर छोड़कर भागना पड़ा।[1]

सन् १९२४ में तुर्की में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाने पर भारत में खिलाफत आन्दोलन का अन्त हो गया। २४ जुलाई १९२३ को लौसाने (Lausanne) की सन्धि हुई और २३ अगस्त को अंगोरा सरकार द्वारा इसके निश्चित हो जाने पर अगले छै हफ्तों में मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं ने तुर्की को छोड़ दिया। अंगोरा एसेम्बली ने एक गणतंत्र राज्य स्थापित करने का निश्चय किया और अपने निर्णय द्वारा खलीफा के पद को ही समाप्त कर दिया और जिसके फलस्वरूप होने वाले खलीफा अब्दुलमजीद[2] साहब बड़ी कठोरता से तुर्की राज्य से बाहर निकाल दिए गए।[3] इन घटनाओं ने मुसलमानों का आन्दोलन के लिये सारा जोश खत्म कर दिया और मुस्तफा कमाल पाशा द्वारा खिलाफत के अन्त ने आन्दोलन का भी अन्तिम निर्णय कर दिया।[4] लेकिन मुसलमानों ने इस पर भी हिम्मत नहीं हारी। १८ दिसम्बर सन् १९२४ को खिलाफत नेताओं—मौलाना अब्दुल मजीद बदाउनी, मौलाना सैयद सुलेमान नदवी और मौलाना कादिर कसूरी—का एक प्रतिनिधि मंडल मक्का भेजा गया।[5] परन्तु तुर्की की सरकार ने इससे मिलने से मना कर दिया और यह वापिस लौट आया।[6] शायद भारतीय मुसलमानों को यह ज्ञान नहीं था कि विदेशों में होने वाली घटनाओं को स्वेच्छानुसार नियंत्रित करना उनके वश की बात नहीं थी और वैसे भी अन्य स्वतन्त्र राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का उन्हें कोई अधिकार न था। अतः वे असफल रहे।

1. Indian Statutory Commission Report, Vol I.
2. G M Gathorne Hardy A Short History of International Affairs (1920-'39).
3. India in 1923-'24
4. Indian Statutory Commission Report, Vol I
5. The Comrade, Dec 26, 1924
6. India in 1924-'25

लेकिन मुसलमानों ने इस बड़ी हार को कूटनीति के पर्दे में छिपा लिया और अब वे तुर्की के इस व्यवहार को न्याय सगत प्रकट करने लगे। उन्होंने यह कहना आरम्भ किया कि इस्लाम धर्म में पादरियों या पुरोहितों की कोई आवश्यकता नहीं है।[1] खिलाफत आन्दोलन के जन्मदाता मौलाना मौहम्मदअली ने भी इसकी असफलता के औचित्य पर जोर दिया। उन्होंने आन्दोलनकारियों की समस्त कार्यवाहियों का विवरण देते हुए, लोगों से उनकी गलतियाँ और भूलें बतलाने को कहा।[2] साहबजादा आफ्ताब अहमदखा ने खिलाफत की समाप्ति के लिये अपने सहधर्मियों को सात्वना देते हुए लिखा कि तुर्की लोगों का यह कार्य इस्लाम के प्रति विश्वासघात अथवा उसके लिये सकट पैदा करने का कदापि नहीं है। उन्होंने इसके कारणों का उल्लेख किया और उनका मूल्याकन कर यह परिणाम निकाला कि घोर दुख और आपत्तियों की शताब्दियों के पश्चात् राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिये ही तुर्की ने ऐसा कदम उठाया है। उन्होंने मुसलमानों के सामने यह तर्क रखा कि खलीफा का पद एक अहितकर सस्था में परिवर्तित हो गया था और उसके स्थायित्व से कोई लाभ नहीं था।[3] सैयद सज्जाद हैदर ने भी जो अलीगढ विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार थे इसी प्रकार के विचार प्रकट किये। वे इङ्गलैंड फ्रास और तुर्की आदि देशों का भ्रमण करने के पश्चात् भारत लौटे थे। इन स्थानों पर अपने अनुभवों का वर्णन करते हुए उन्होंने एक व्याख्यान दिया और इसके अन्त में किए गए एक प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि तुर्क लोग भारतीय मुसलमानों द्वारा अपने आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं चाहते थे।[4] इस प्रकार खिलाफत आन्दोलन की समाप्ति के पश्चात् देश में एक ऐसा वातावरण फैल गया जिसके द्वारा इसकी असफलता को भुलाने का प्रयत्न किया गया क्योंकि एक असभव कार्य को अपना उद्देश्य बनाकर इसके नेताओं ने बडी भूल की थी।

---

1 The Comrade, Dec 5, 1924
2 Maqalat Muhammad Ali, Part I
3 The Muslim University Gazette, March 19, 1924.
4 The Muslim University Gazette, Nov 5, 1924

अध्याय १२

स्वराज्य दल और उसका कौंसिलों में प्रवेश

स्वराज्य दल का विकास—

असहयोग आन्दोलन की अप्रत्याशित प्रगति के बीच सन् १६२२ की चौरी-चौरा की दुर्घटना के समाचार से महात्मा गाधी को बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने यह समझ लिया कि भारतियों में अहिंसात्मक रूप से संघर्ष करने की क्षमता नहीं है। उन्होंने इस घटना की तीव्र आलोचना की और इसके हिंसात्मक स्वरूप से उद्विग्न होकर आन्दोलन को स्थगित कर दिया। यही नहीं उन्होंने अहमदाबाद में हिन्दू तथा मुसलमानों द्वारा अल्पसख्यक जातियों—ईसाइयों, यहूदियों आदि पर किये गये अत्याचारों की घोर निन्दा की और कहा कि मेरे नाम पर इन जघन्य कार्यों को करने वाले लोगों ने मेरा सम्मान नहीं किया प्रत्युत अपमान ही किया है; यदि मेरे शरीर में एक छुरा भोंक दिया जाता तो मुझे इन घटनाओं की अपेक्षा अधिक दुःख न होता। गाधीजी ने वारवार यह कहा कि सत्याग्रह का अर्थ हिसा करना नहीं है फिर भी लोगों ने सत्याग्रह के नाम पर इमारतों में आग लगाई, वलपूर्वक शस्त्र छीने, रुपया वसूल किया, गाड़ियों रोकीं, तार काटे और निर्दोष व्यक्तियों को मार डाला। उन्होंने अनुभव किया कि सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ करने पर उन्होंने उसकी सभावित बुराइयों की उपेक्षा कर बड़ी भूल की।[1] असहयोग आन्दोलन की मूल विचारधारा को भारतीय लोग नहीं समझ सके। इससे गाधीजी वड़े विक्षुब्ध थे। अतः चौरी-चौरा की दुर्घटना के पश्चात् इस आन्दोलन को स्थगित करना उनके लिये स्वाभाविक था।

परन्तु आन्दोलन के इस प्रकार स्थगित हो जाने से काग्रेस के कुछ नेताओं में वड़ा रोष उत्पन्न हुआ और उन्होंने गाधीजी के इस कार्य की आलोचना की। विशेषकर, देश-बन्धु चितरञ्जनदास, पंडित मोतीलाल नेहरू

---

1 Indian Review, Jan. 1922.

और लाला लाजपतराय के लिये यह एक शोकपूर्ण घटना थी। चितरंजनदास की वकालत की फीस प्रतिदिन १०००) रुपया थी[1] और मोतीलाल नेहरू भी इससे कम नहीं लेते थे। परन्तु असहयोग आन्दोलन के आरम्भ होने पर इन दोनों महानुभावों ने अपनी आमदनी को त्याग कर देश के ऊपर सर्वस्व न्यौछावर करने का निश्चय किया था। इस आन्दोलन के फलस्वरूप वे जेल भी गए। अतः चौरी-चौरा की दुर्घटना के पश्चात् गाधीजी द्वारा प्रगतिशील आन्दोलन पर रोक लग जाने से उन्हें बड़ी झुंझलाहट हुई। लाला लाजपतराय ने तो यहाँ तक कहा कि गाधीजी ने अहिंसा के आदर्श को अव्यावहारिक रूप देकर भारतीय जनता को बेमौके कार्य करने से रोक दिया।[2]

ऐसी परिस्थिति में काग्रेस की नीति में परिवर्तन होना स्वाभाविक था। पडित मोतीलाल नेहरू और चितरंजनदास ने बन्दीगृह से मुक्त होते ही यह निर्णय किया कि सन् १६२३ के चुनावों मे भाग लिया जाये और कौसिलों में जाकर असहयोग का प्रारम्भ हो। जबकि असहयोग आन्दोलन में सरकारी नौकरियों, स्कूलों, कॉलेजों और कौसिलों आदि सभी के बहिष्कार का प्रोग्राम था, इन नेताओं ने कौसिलों के बहिष्कार की उपेक्षा की और उनमें प्रवेश कर वैधानिक आन्दोलन करने का निश्चय किया। अंग्रेजी सरकार से किसी प्रकार सहयोग न करना तथा शासन-कार्य में रोड़े अटकाना इनका मुख्य कार्यक्रम था। यही दल आगे चलकर स्वराज्य दल के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

उद्देश्य—

स्वराज्य-दल के उद्देश्यों को जानने के लिये इसके मुख्य सचिव पडित मोतीलाल नेहरू द्वारा प्रकाशित किये गए चुनाव-घोषणा-पत्र (Election Manifesto) का अवलोकन करना आवश्यक है। इसमें काग्रेस के बीच स्वराज्य-दल की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। इस दल के समर्थकों का यह कहना था कि सन् १६१६ का भारतीय सरकार का अधिनियम भारतियों को राजनीतिक स्वतन्त्रता देने के अभिप्राय से नहीं बनाया गया अपितु इनका उद्देश्य उनको केवल भुलावे में रखना है। उनकी धारणा यह थी कि जब तक कि अंग्रेजी सरकार वास्तव में भारतियों के लिये हितकर रूप में न बदल जाये उसके विरुद्ध सतत् प्रयत्न किया जाये। घोषणा-पत्र में असहयोग

1 V Narayanan M A., M L, Vide Indian Review, June, 1922.
2 Indian Review, Dec, 1923

आन्दोलन में भाग न लेने वाले लोगों के इस दल में प्रवेश की भी व्यवस्था की गई अर्थात् वे कांग्रेस के स्वीकृत मत (Creed) पर हस्ताक्षर कर तथा स्वराज्य-दल के नियमों को पालन करने की प्रतिज्ञा द्वारा इसके सदस्य बन सकते थे। दल का अन्तिम उद्देश्य स्वराज्य रक्खा गया परन्तु इसकी प्राप्ति से पूर्व सरकार की कुल मशीन पर आधिपत्य जमाने का निर्णय हुआ। यह भी तय किया गया कि यह दल छोटे-मोटे सुधारों पर ध्यान न देकर भारतियों की स्वतन्त्रता के लिये हठ करेगा, जिससे कि वे स्वयं ही आवश्यक परिवर्तन कर सकें।

योजनायें—

चुनाव में सफल होने वाले व्यक्तियों को इस प्रकार का कार्यक्रम बनाना अनिवार्य हो गया और उनसे यह कहा गया कि कौंसिल का अधिवेशन आरम्भ होने से पूर्व वे अपनी स्वराज्य की मांग सरकार के सामने रखें। घोषणा-पत्र में यह भी बतलाया गया कि स्वराज्य दल के नेता, लार्ड मार्ले के कथनानुसार भारतीय सरकार को ब्रिटिश केबीनेट का प्रतिनिधि समझते हुए उसी के द्वारा अपनी मांग को ब्रिटेन की सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करेंगे। यदि सरकार उनकी मांग को अस्वीकार करेगी तो स्वराज्य-दल के सदस्य शासन-कार्य को असम्भव बनाने के लिये ऐसेम्बलियों और कौंसिलों में सरकार का 'एकता' उचित' विरोध करेंगे। परन्तु यदि सरकार द्वारा उनकी स्वराज्य की मांग स्वीकृत हो जायेगी तो दल ऐसे प्रतिनिधि नियुक्त करेगा जो सरकार से समझौता करें। इसके अतिरिक्त घोषणा-पत्र में किसानों तथा जमींदारों को यह आश्वासन दिया गया कि स्वराज्य-दल उन्हीं की सहायता से अपनी शक्ति में वृद्धि करेगा, अतः वे उस पर किसी प्रकार से सन्देह न करें। साथ ही इसमें सरकार से यह प्रार्थना की गई कि वह देशभक्तों पर से चुनाव लड़ने के लिये अयोग्यताओं को हटा ले ताकि निर्वाचन न्यायपूर्ण हो और उनको कौंसिलों में कार्य करने का अवसर प्राप्त हो सके।[1]

सफलतायें—

सन् १९२३ के चुनावों में स्वराज्य दल ने अपनी अधिकांश शक्ति का उदार दल के विरुद्ध प्रयोग किया क्योंकि अधिकांशतः वे ही शासन के विभागों में घुसे हुए थे। उदार-दल के सदस्यों को भी बड़ी असुविधाएँ थीं। अपने कार्यकाल में कौंसिलों में किसी विशेष विरोधी दल का सामना करने का अवसर न पड़ने के कारण उनकी परस्पर अधीनता एवं एकता विच्छिन्न हो

1. Indian Review, Oct. 1923

गई थी। उन्होंने कौंसिलों में प्रवेश कर ऐसे समय में पद ग्रहण किये थे जब कि *जनता 'देश-हित के लिये आत्म-त्याग' के नारे लगा रही थी,* इस कारण वे अंग्रेजी सरकार के पक्षपाती समझे जाते थे। यद्यपि वे कौंसिलों के सदस्य थे। उनका अपने चुनाव क्षेत्रों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। उनके भाषणों को लोग सुनते नहीं थे। अतः उदारदल के लोकप्रिय न होने के कारण स्वराज्य-वादियों की विजय सुगम हो गई और वे इस दल के विरोध में कौंसिलों में प्रविष्ठ हुए।[1] इनके अतिरिक्त इस वर्ष के चुनावों में स्वतन्त्र उम्मीदवार भी अधिक सख्या मे सफल हुए। मध्यप्रान्त में स्वराज्यवादियों को पूर्ण बहुमत मिला और बगाल में उनका दल अन्य दलों की अपेक्षा सदस्य-सख्या में सब से बड़ा हो गया। बम्बई और उत्तरप्रदेश में भी वे भारी सख्या में निर्वाचित हुए, परन्तु मद्रास, पजाब, बिहार और उड़ीसा में उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। केन्द्रीय व्यवस्थापिका की निर्वाचन से भरी जाने वाली सीटों में वे आधी से कुछ कम सख्या में प्राप्त कर सके। फिर भी यह सब उनकी भारी सफलता थी; उन्होंने उदार दल की शक्ति को तो चूर्ण कर ही दिया।

वैसे तो उदार दल वालों और स्वराज्यवादियों के उद्देश्य भिन्न नहीं थे। दोनों दलों के सदस्य देश की वैधानिक प्रगति के अभिलाषी थे, दोनों ही सन् १६१६ के भारतीय सरकार के अधिनियम से असन्तुष्ट थे और इसमें सुधार करना चाहते थे, दोनों का यह आग्रह था कि विदेशों में भारतियों के अधिकारों की रक्षा की जाये। सेना तथा नौकर-शाही में भारतीयों की सख्या बढ़ाई जाये और राष्ट्रीय उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाये। परन्तु इन दलों के कार्यक्रमों में विशाल अन्तर था। उदारदल वाले सन् १६१६ के अधिनियम को अधिक प्रगतिशील न समझते हुए भी उसके कार्यान्वित होने के विरोधी नहीं थे। उन्हें अँग्रेजों की सचाई में पूर्ण विश्वास था, वे उनको भारतियों की उन्नति का निर्णायक मानते थे और सरकार की २० अगस्त सन् १६१७ की घोषणा के प्रति उन्हें कोई सन्देह नहीं था। परन्तु स्वराज्यवादी अँग्रेजों मे विश्वास की नीति के विरोधी थे और उनकी दृष्टि मे २० अगस्त सन् १६१७ की घोषणा के प्रति उन्हें कोई सन्देह नहीं था। परन्तु स्वराज्यवादी अँग्रेजों में विश्वास की नीति के विरोधी थे और उनकी दृष्टि में २० अगस्त सन १६१७ की घोषणा सन् १६१६ का नियम आदि सभी झूठे और भारतियों को भुलावा देने के लिये थे। अतः शासन की सारी मशीन को बदल कर स्वराज्य प्राप्त करना उनका प्रमुख उद्देश्य था।

---

1 India in 1924-25 (Parties and Politics)

कार्य—

कौंसिलों में प्रविष्ट होने के पश्चात् स्वराज्यवादियों ने मंत्री का कोई पद ग्रहण नहीं किया और न वे किसी कमेटी के सदस्य बनने के लिये तैयार हुए। वे सन् १९१९ के अधिनियम के अनुसार शासन-कार्य को चलने देना नहीं चाहते थे, इसलिये उन्होंने प्रत्येक प्रकार से उसमें अड़गा लगाने का प्रयत्न किया। मध्यप्रदेश में उन्होंने हरेक सरकारी प्रस्ताव का विरोध किया और उसके खिलाफ वोट दीं। मन्त्रियों में अविश्वास का प्रस्ताव प्रस्तुत किया और जब बजट पेश किया गया तब उन्होंने उसमें आय की सभी मद्दों को अस्वीकार किया। परन्तु क्योंकि गवर्नर को विशेष अधिकार प्राप्त थे उनके प्रयोग के कारण बजट पास होने से न रुक सका। मन्त्रियों का वेतन २) प्रति वर्ष करने का प्रस्ताव भी किया गया।[1] बंगाल में द्वैध-शासन-प्रणाली का अन्त करने में स्वराज्य दल को बड़ी सफलता मिली। चितरंजनदास ने एक शक्तिशाली स्वतन्त्र दल संगठित कर वहाँ मन्त्रिमंडल ही न बनने दिया और विवश होकर लार्ड लिटन ने द्वैध-शासन में असफलता की घोषणा की। मुसलमानों का सहयोग प्राप्त कर स्वराज्यवादियों ने बंगाल की प्रान्तीय धारा-सभा में बहुमत प्राप्त कर लिया और सरकार के सामने अपनी माँगें प्रस्तुत कीं। पहली माँग यह थी कि सन् १९१९ के अधिनियम ३ (Regulation III) के अन्तर्गत बन्दी बनाये गये व्यक्तियों तथा अन्य राजनैतिक बन्दियों को मुक्त कर दिया जाये। दूसरी माँग यह की गई कि सरकार अपने सभी दमनकारी नियमों को वापिस ले। इस दशा में बंगाल की सरकार को स्वराज्यवादियों की इच्छानुसार ही कार्य करना पड़ा। अन्य प्रान्तों में भी स्वराज्यवादियों ने इसी प्रकार से अड़गा डालने का प्रयत्न किया परन्तु संख्या कम होने के कारण इन्हें किसी अन्य राजनीतिक दल मुस्लिम अथवा स्वतन्त्र आदि के साथ मिलकर कार्य करना पड़ता था। पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, मद्रास, उड़ीसा और बम्बई में भी इस दल ने अपनी विरोधी नीति का पालन किया परन्तु इन स्थानों पर इसे विशेष सफलता नहीं मिली। फिर भी क्योंकि स्वराज्यवादियों ने उच्च सरकारी पद ग्रहण नहीं किये, वे अधिक सुगमता से सरकार का विरोध कर सके।

केन्द्रीय धारा सभा के पहिले ही सैशन में स्वराज्यवादियों का प्रभाव अधिक था। यद्यपि इनकी सदस्य-संख्या ५०% प्रतिशत से कम थी इन्होंने अन्य राजनीतिक वर्गों में से अपने साथी बना लिये थे। पण्डित मोतीलाल नेहरू के

1 India in 1924–25.

नेतृत्व में इस दल ने धारा सभा में सराहनीय कार्य किया। श्रीयुत रंगाचार्य ने यह प्रस्ताव रक्खा कि सन् १६१६ के भारतीय सरकार के अधिनियम को इस प्रकार संशोधित किया जाये जिससे प्रान्तों में पूर्ण स्वराज्य स्थापित हो सके और भारत में अधिराज्य स्तर (Dominion Status) मिल जाये। इस प्रस्ताव को सफल बनाने के लिये लगभग १७ व्यक्तियों का एक ऐसा गुट्ट बनाया गया जो सरकार द्वारा सुनवाई न होने पर हर प्रकार से शासन-कार्य में अड़गा डालने के लिये तैयार हो गया। ८ फरवरी सन् १६२४ को पण्डित मोतीलाल नेहरू ने एक प्रस्ताव पेश किया जिसके अनुसार सन् १६१६ के अधिनियम को संशोधित करने की माँग की गई और गवर्नर-जनरल से यह सिफारिश की गई कि भारत में पूर्ण उत्तरदायित्व स्थापित करने के उद्देश्य से देश के समस्त प्रतिनिधियों की एक गोल-मेज परिषद (Round Table Conjervel) बुलाई जाय, जिसको मुख्य अल्पसंख्यों के अधिकारों एवं हितों का ध्यान रखते हुए एक विधान बनाने का कार्य सौंपा जाय और वह विधान सरकार केन्द्रीय धारा सभा तथा ब्रिटिश संसद के सामने प्रस्तुत करे। योरुपियन सदस्यों एवं अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त सभी सदस्यों ने इस योजना को स्वीकार किया। वाइसराय सर मैलकम (Sir Malcolm) ने शीघ्र ही नए विधान के विरुद्ध शिफारिशों एवं शिकायतों को आमन्त्रित करने का वचन दिया और यह भी विश्वास दिलाया कि यदि संभव हो सका तो भारतीय सरकार ब्रिटिश संसद के समक्ष भारत की वैधानिक उन्नति के लिये प्रस्ताव करेगी। परन्तु स्वराज्यवादियों को वाइसराय का इस प्रकार का उत्तर बिल्कुल नहीं जंचा और उन्होंने अपने अनुशासन के आधार पर सरकार की प्रत्येक कार्यवाही के विरुद्ध बहुमत बनाना आरम्भ कर दिया। बजट को रद्द करने, सिक्खजाति की शिकायतों पर सरकार का ध्यान आकर्षित करने तथा बंगाल के आनियम ३ (Ragulation III) और सन् १६०८ के फौजदारी संशोधन नियम (Criminal Amendment Act) को भंग करवाने में स्वराज्य दल को विशेष सफलता मिली। वास्तव में केन्द्रीय धारासभा में भी स्वराज्यवादियों ने भारी मोर्चा बना लिया था।

असफलता के कारण—

परन्तु सन् १६१६ के अधिनियम को असफल बनाने की योजना अधिक दिनों तक न चल सकी और स्वराज्यवादियों में यह भावना उत्पन्न होने लगी कि देश में रचनात्मक कार्य करने के लिये सरकार के साथ सहयोग करना आवश्यक है। सन १६२५ में केन्द्रीय धारा-सभा के शिमला-सेशन के आरम्भ

होने के पूर्व ही इस भावना का उदय हो चुका था। पण्डित मोतीलाल नेहरू ने भारतीय सैंडहर्स्ट समिति (Indian Sandhurst Committee) की सदस्यता स्वीकार करली और अन्य प्रसिद्ध नेता श्री वी०जी० पटेल ने शिमला सैशन के समय लेजिस्लेटिव एसेम्बली का अध्यक्ष-पद ग्रहण कर लिया।[1] इस कारण स्वराज्य पार्टी का उत्साह शिथिल पड गया। लॉर्ड रीडिंग ने अपने प्रतिष्ठायनिक भाषण (Inaugural Address) में यह स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया कि इंगलैंड की सरकार अपनी सन् १९१७ की घोषणा के अनुसार कार्य करने के लिये अटल है। इसके अतिरिक्त कुछ दिनों बाद देशबन्धु चितरंजनदास के स्वर्गवास हो जाने के कारण इस दल की संगठित शक्ति को और भी धक्का लगा। बाद में स्वराज्यवादियों में दो दल उत्पन्न हो गये। एक जो सरकार के साथ सहयोग करना चाहता था और दूसरा पूर्ण असहयोग की नीति का पालन करने का अभिलाषी था। इस आपस की फूट ने स्वराज्य-दल को और भी दुर्बल बना दिया। पण्डित मोतीलाल नेहरू ने दोनों पक्षों के बीच समझौता कराया जिसके अनुसार यह तय किया गया कि यदि सरकार प्रान्तों में मन्त्रियों को धारा-सभाओं के प्रति उत्तरदायी बनाने की व्यवस्था करे तो स्वराज्यवादी उनके साथ अवश्य सहयोग करेंगे। परन्तु प्रथम पक्ष वालों ने इस समझौते से लाभ उठाया और उन्होंने सरकारी पद ग्रहण कर लिये। बंगाल की सरकार ने कुछ प्रभावशाली स्वराज्यवादियों को बन्दी बनाकर उन पर बिना मुकदमा चलाये उन्हें जेल भेज दिया। इससे इस दल की रही-सही प्रतिष्ठा भी समाप्त हो गई।

परिणाम—

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि स्वराज्यवादियों को अपना कार्य पूर्णत. समाप्त करना पड़ा। पंडित मोतीलाल नेहरू ने केन्द्रीय धारा-सभा में इस दल की गति-रोध की नीति को जारी रखा। उनकी सेवाओं में सबसे बड़ा स्थान 'नेहरू रिपोर्ट' का है जिसका वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे। स्वराज्यवादियों की गतिरोध की नीति हमें इस समय तर्क-शून्य और दोषपूर्ण प्रतीत होती है परन्तु उस समय इसने देश की राजनीति को बड़ा प्रभावित किया। प्रान्तीय धारा-सभाओं में सरकारी प्रस्तावों के पेश होने पर कांग्रेसियों का उठकर बाहर चले आना एक आम बात हो गई थी। इसने देश में एक ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया जिससे सरकार जनता की माँगों को ठुकराने का एकाएक साहस न कर सके। स्वराज्यवादियों ने कांग्रेस के सभी रचनात्मक

कार्यों में सहयोग दिया। चर्खा और खादी के प्रसार, छूत-छात के निषेध तथा अन्य सामाजिक सुधारों में उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया। असहयोग आन्दोलन के स्थगित हो जाने के पश्चात् भारतियों का स्वतन्त्रता प्राप्त करने का उत्साह फीका पड़ गया था परन्तु स्वराज्यवादियों ने फिर से जागृति कर देश में चेतना की एक नई लहर उत्पन्न कर दी। असहयोग आन्दोलन के अन्त और नमक सत्याग्रह के आरम्भ के बीच के काल में स्वराज्यवादियों का विरोध-चक्र भारत की राजनीति में बड़ा महत्व रखता है। यद्यपि स्वराज्यवादियों का कांग्रेस तथा महात्मा गांधी की योजना से मतभेद था क्योंकि उन्होंने कौंसिलों से अलग रहने के कार्यक्रम को स्वीकार नहीं किया फिर भी अंग्रेजों की नीति का सफलतापूर्वक विरोधकर उन्होंने अपनी देशभक्ति का परिचय दिया।

अध्याय १३

साइमन कमीशन और नेहरू रिपोर्ट

कमीशन की नियुक्ति के कारण—

असहयोग आन्दोलन के स्थगित हो जाने के पश्चात् देश में राष्ट्रीय कार्यवाहियों की प्रगति कुछ दिनों के लिये कम हो गई थी। परन्तु अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध प्रतिरोध की भावना का ह्रास नहीं हुआ, बल्कि चितरंजन-दास तथा मोतीलाल नेहरू ने स्वराज्य दल के नेतृत्व के द्वारा कौंसिल में प्रवेश की नीति का पालन करते हुए सरकार का घोर विरोध किया और उसे यह जता दिया कि भारतियों को सतुष्ट करने के लिए कोई ठोस कदम उठाना ही पड़ेगा। अंग्रेजों ने यह अनुभव किया कि अपने शासन को कायम रखने के लिये भारतवासियों को कुछ रियायतें देना आवश्यक है। इसलिये यह स्वाभाविक था कि वे पहले अपनी नीति में परिवर्तन करें। इसके अतिरिक्त सन् १९१९ के अधिनियम की धारा ८४ (अ) के अनुसार यह आवश्यक था कि इसके दस वर्ष पश्चात् भारत में नये विधान की कार्यशीलता, शिक्षा की उन्नति एव प्रतिनिधि सस्थाओं की प्रगति की जाच करने के लिये एक रायल कमीशन (Royal Commission) भारतवर्ष भेजा जाये। इस कमीशन की नियुक्ति के लिये क्रम यह था कि भारत राज मत्री ब्रिटिश ससद् के दोनों भवनों की स्वीकृति से सम्राट की स्वीकृति के लिये कुछ व्यक्तियों के नाम प्रस्तुत करेगा और उसकी अनुमति प्राप्त हो जाने के पश्चात् वे भारत आयेंगे।[1] सन् १९२९ मे ब्रिटिश संसद् के आम चुनाव होने वाले थे। इनमें मजदूर-सरकार बनने की काफी संभावना थी। टोरी मंत्रिमडल यह नहीं चाहता था कि इस कमीशन की नियुक्ति इसके विरोधी दल के मत्रिमडल के समय में हो, क्योंकि यह दल भारतवर्ष के प्रति सहानुभूति रखता था। इसलिये विधान की ८४ (अ) धारा में निर्धारित समय को 'दस वर्ष के पश्चात्' के स्थान पर 'दस वर्ष के

1. The Indian Statutory Commission Report, Vol. I. Preface)

कार्यों में सहयोग दिया। चर्खा और खादी के प्रसार, छूत-छात के निषेध तथा अन्य सामाजिक सुधारों में उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया। असहयोग आन्दोलन के स्थगित हो जाने के पश्चात् भारतियों का स्वतन्त्रता प्राप्त करने का उत्साह फीका पड़ गया था परन्तु स्वराज्यवादियों ने फिर से जागृति कर देश में चेतना की एक नई लहर उत्पन्न कर दी। असहयोग आन्दोलन के अन्त और नमक सत्याग्रह के आरम्भ के बीच के काल में स्वराज्यवादियों का विरोध-चक्र भारत की राजनीति में बड़ा महत्व रखता है। यद्यपि स्वराज्यवादियों का कांग्रेस तथा महात्मा गांधी की योजना से मतभेद था क्योंकि उन्होंने कौंसिलों से अलग रहने के कार्यक्रम को स्वीकार नहीं किया फिर भी अंग्रेजों की नीति का सफलतापूर्वक विरोधकर उन्होंने अपनी देशभक्ति का परिचय दिया।

अध्याय १३

साइमन कमीशन और नेहरू रिपोर्ट

कमीशन की नियुक्ति के कारण—

असहयोग आन्दोलन के स्थगित हो जाने के पश्चात् देश में राष्ट्रीय कार्यवाहियों की प्रगति कुछ दिनों के लिये कम हो गई थी। परन्तु अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध प्रतिरोध की भावना का ह्रास नहीं हुआ, बल्कि चितरंजन-दास तथा मोतीलाल नेहरू ने स्वराज्य दल के नेतृत्व के द्वारा कौंसिल में प्रवेश की नीति का पालन करते हुए सरकार का घोर विरोध किया और उसे यह जता दिया कि भारतियों को सतुष्ट करने के लिए कोई ठोस कदम उठाना ही पड़ेगा। अंग्रेजों ने यह अनुभव किया कि अपने शासन को कायम रखने के लिये भारतवासियों को कुछ रियायतें देना आवश्यक है। इसलिये यह स्वाभाविक था कि वे पहले अपनी नीति में परिवर्तन करे। इसके अतिरिक्त सन् १६१६ के अधिनियम की धारा ८४ (अ) के अनुसार यह आवश्यक था कि इसके दस वर्ष पश्चात् भारत में नये विधान की कार्यशीलता, शिक्षा की उन्नति एव प्रतिनिधि सस्थाओं की प्रगति की जाच करने के लिये एक रायल कमीशन (Royal Commission) भारतवर्ष भेजा जाये। इस कमीशन की नियुक्ति के लिये क्रम यह था कि भारत राज मंत्री ब्रिटिश ससद् के दोनों भवनों की स्वीकृति से सम्राट की स्वीकृति के लिये कुछ व्यक्तियों के नाम प्रस्तुत करेगा और उसकी अनुमति प्राप्त हो जाने के पश्चात् वे भारत आयेंगे।[1] सन् १६२६ मे ब्रिटिश संसद के आम चुनाव होने वाले थे। इनमें मजदूर-सरकार बनने की काफी संभावना थी। टोरी मन्त्रिमडल यह नहीं चाहता था कि इस कमीशन की नियुक्ति इसके विरोधी दल के मन्त्रिमडल के समय में हो, क्योंकि यह दल भारतवर्ष के प्रति सहानुभूति रखता था। इसलिये विधान की ८४ (अ) धारा में निर्धारित समय को 'दस वर्ष के पश्चात्' के स्थान पर 'दस वर्ष के

1. The Indian Statutory Commission Report, Vol. I. Preface)

अन्दर' कर दिया गया। इस प्रकार एक ओर तो देश में राजनीतिक हलचल होने के कारण और दूसरी ओर मजदूर सरकार का भय एव सन १६१६ के अधिनियम में इस प्रकार की धारा होने के कारण साइमन कमीशन की नियुक्ति अनिवार्य हो गई।

नियुक्ति—

फलस्वरूप २६ नवम्बर सन् १६२७ को सर जॉन एल्सब्रुक साइमन (Sir John Allsebrook Simon) की अध्यक्षता में एक कमीशन, जो इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है बनाया गया। इसमें सात विश्वासपात्र और प्रतिष्ठित एव अनुभवी अग्रेज सम्मिलित थे।[1] यह कमीशन दो बार भारतवर्ष आया। प्रथम बार यह ३ फरवरी सन् १६२८ से लेकर २१ मार्च १६२८ तक और द्वितीय बार ११ अक्टूबर से लेकर १३ अप्रैल १६२६ तक रहा। प्रथम बार आने पर साइमन कमीशन ने वायसराय से एक सयुक्त-स्वतन्त्र सम्मेलन (Joint Free Conference) की चर्चा की और इसके अनुसार केन्द्रीय धारा-सभा के सदस्यों में से एक कमेटी बनाने का आयोजन किया गया जिससे देश में सुधारों के विषय पर परामर्श किया जा सके। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रान्त में इसी प्रकार की कमेटी बनाने का प्रस्ताव किया गया। यह तय हुआ कि साइमन कमीशन के द्वितीय बार आने पर भारतीय कमेटियों के सयुक्त सम्मेलन द्वारा जॉच का कार्य आरम्भ किया जायगा। इसके लौटने के समय तक देश में बर्मा तथा मध्य-प्रदेश को छोड़कर समस्त भारत में कमेठियाँ स्थापित हो गई। यद्यपि बर्मा में तो दिसम्बर सन् १६२८ में एक कमेटी साइमन कमीशन के साथ सहयोग करने के उद्देश्य से बन भी गई परन्तु मध्यप्रदेश में इस प्रकार की कोई कमेटी न बन सकी।

कार्य—

भारत की राजनीतिक अवस्थाओं का भलीभाँति अध्ययन करने के लिये प्रत्येक गवर्नर के प्रान्त में कमेटियों एव कमीशन की सम्मिलित बैठक में अभिस्तावों एवं आलोचनाओं के प्रमाण लिए गए। इन सम्मेलनों में

1 Chairman के अतिरिक्त Henry Lawson Webster Donald Sterling Palmer, Edward Cecil George Cadogon, Stephon Walsh (अस्वस्थता के कारण त्याग पत्र देने पर ७ दिसम्बर १६२७ को Venon Hartshon, Walsh के स्थान पर नियुक्त हुए), George Richard Lanefox, Clement Richard Atlee

कमीशन और भारत की केन्द्रीय एव प्रान्तीय कमेटियों के सदस्य थे। प्रेसों के प्रतिनिधियों को भी इनकी कार्यवाहियों में उपस्थित होने की अनुमति दे दी गई। प्रान्तों की कमेटियों में तो मन्त्रियों को भी सम्मिलित कर लिया गया। कार्य विशाल था, इसे पूरा करने के लिये साइमन कमीशन को अनेकों स्थानों पर जाना पडा। स्वय कमीशन के अनुसार प्रमाणों को एकत्रित करने में पूरे ७५ दिन लग गए क्योंकि इसके लिये वे पूना, लाहोर, कराची, पेशावर, दिल्ली, लखनऊ, पटना, शिलाग, कलकत्ता, रगून, माडले, मद्रास और नागपुर आदि प्रमुख नगरों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी गए जहाँ से उन्हें अंग्रेजी भारत की समस्याओं के परिचय के लिये सामग्री प्राप्त हो सकी।[1] विभिन्न प्रान्तों का भ्रमण करने के पश्चात् कमीशन के सदस्यों ने तीन दिन तक दिल्ली में एक बैठक की जिसमें भारत की केन्द्रीय एवं प्रान्तीय कमेटियों के साथ परामर्श किया गया। इंग्लैंड लौटने पर भी कमीशन का कार्य जारी रहा। भारतीय केन्द्रीय कमेटी को इङ्गलैंड बुलाया गया और वहाँ पर इन्डिया ऑफिस में भारत राजमन्त्री की कौंसिल के सदस्यों एव कर्मचारियों से भी परामर्श किया गया।

कॉग्रेस द्वारा विरोध—

यहाँ पर यह बतला देना भी सगत है कि साइमन कमीशन अपने कार्य-काल मे शान्तिपूर्वक कार्य न कर सका क्योंकि देश ने उसका स्वागत नहीं किया। उसके आगमन के पश्चात् बहिष्कार का जो आन्दोलन चला उसका कमीशन के सदस्यों ने भी उल्लेख किया है। कॉग्रेस ने कमीशन के साथ सहयोग नहीं किया। सन् १९२७ के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर भाषण देते हुए काग्रेस के सभापति डॉक्टर एम० ए० अन्सारी ने कहा कि कमीशन ने भारतियों के हृदयों में एक भारी निराशा और आश्चर्य उत्पन्न कर दिया है; कोई भी स्वाभिमानी भारतवासी इस बात को स्वीकार नहीं करेगा कि अग्रेज ही भारतवर्ष की उन्नति की ठीक जाँच कर सकते हैं; वास्तव में हम ही अपनी आवश्यकताओं को ठीक समझ सकते हैं और जब हमारे भाग्य का निर्णय हो रहा है तब हमारी आवाज भी निर्णयात्मक होनी चाहिये।[2] अगले वर्ष कलकत्ते के अधिवेशन में सभापति पडित मोतीलाल नेहरू ने कहा कि उत्तरदायी शासन के स्थान पर हमें सरकार कमीशन के रूप में मिथ्या-जाल दे रही है और इस समय तो यह कमीशन सडकों पर सर फटवाने का कार्य

---

1 Indian Statutory Commission Report Vol. 1

कर रहा है।[1] कमीशन के सभी सदस्य अंग्रेज थे। भारतीय सदस्यों को इसमें सम्मिलित न करने के लिये सरकार ने यह तर्क रक्खा कि देश में परस्पर विरोधी भावनाओं की उपस्थिति से यह असम्भव है। देशवासियों ने इसको अपना बड़ा अपमान समझा और प्रमुख समाचार-पत्रों ने कमीशन की बड़ी आलोचना की। जगह-जगह पर प्रदर्शन किये गए और 'साइमन वापिस जाओ' के नारे उन सब स्थानों पर सुनाई देने लगे जहाँ पर कि यह कमीशन गया। सरकार ने पूर्वानुसार अपनी दमन-नीति का पालन किया। अनेकों स्थानों पर पुलिस और प्रदर्शनकारियों में मुठभेड़ हुई। लाहौर में लाला लाजपतराय के नेतृत्व में साइमन कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन किया गया। ३ फरवरी सन् १९२८ को समस्त भारतवर्ष में हड़ताल मनाई गई और जब साइमन कमीशन ने बम्बई में प्रवेश किया तब उसका काले झंडों और 'साइमन वापिस जाओ' के नारों से स्वागत किया गया। ५,००० व्यक्तियों की एक सभा हुई जिसमें इसका बहिष्कार किया गया। मद्रास में कमीशन-विरोधी प्रदर्शन बहुत जोरों से हुआ और पुलिस ने गोली चलाई। जब यह कमीशन कलकत्ते में पहुँचा, तब श्रद्धानन्द पार्क में एक विशाल सभा हुई जिसमें लोगों ने अँग्रेजी माल के पूर्ण बहिष्कार की घोषणा की। १ मार्च १९२८ को कलकत्ते के ३२ स्थानों पर विरोध-प्रदर्शनार्थ सभाएँ हुईं। कमीशन के दूसरी बार लौटने पर भी उसका उचित सत्कार नहीं किया गया।

बहिष्कार के कारण—

इस कमीशन के बहिष्कार के अनेकों कारण थे। सी० एफ० एन्ड्रयूज ने अपनी पुस्तक "इण्डिया एण्ड दी साइमन कमीशन" (India & the Simon Commission) में इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है कि भारत के राजमंत्री लॉर्ड बिरकन हैड (Lord Birkenhead) ने भारत की अवस्थाओं की जाँच और उसके भाग्य का निर्णय करने के लिए एक 'सर्व गौरांग' कमीशन की नियुक्ति कर बड़ी भूल की। वास्तव में इस कार्य के लिये भारतीय एवं अंग्रेज सदस्यों का एक सम्मिलित कमीशन अपेक्षित था। परन्तु लॉर्ड बिरकनहैड लोकमत की परवाह बहुत कम करते थे। उनमें जातीय अभिमान अधिक था, उनका विचार था कि अंग्रेज जाति ही भारतियों का उद्धार कर सकती है क्योंकि वह उनकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। अपने इस गर्व के कारण वे भारत में Lord Brokenhead के नाम से पुकारे जाते थे।

1 Congress Presidential Addresses, Second Series, Published by Nateson & Co Madras

इसके अतिरिक्त गत वर्षों से यह परम्परा चली आ रही थी कि प्रत्येक भारतीय कमीशन में भारतीय सदस्य अवश्य लिये जाते थे, जैसा कि स्कीन कमीशन (Skeen Commission) और ली कमीशन (Lee Commission) में किया गया था। परन्तु इस बार भारतियों की उपेक्षा की गई। इससे उनकी स्वाभिमानता को और भी ठेस लगी। भारत में योग्य व्यक्तियों का अभाव था, यह भी नहीं कहा जा सकता। कम से कम लॉर्ड सिन्हा को इस कमीशन में अवश्य सम्मिलित किया जा सकता था। वे बहुत दिनों से ब्रिटिश संसद में लॉर्ड सभा के सदस्य थे[1] और ब्रिटेन तथा भारत दोनों में अपने मानसिक विकास, कर्त्तव्यनिष्ठा एवं सचाई आदि के लिये प्रसिद्ध थे। परन्तु लॉर्ड बिरकनहैड ने भारतियों को बिल्कुल छोड़कर उनकी जातीय भावना को अधिक उत्तेजित किया। इस प्रकार की योजना देशवासियों के लिये असहनीय थी। यह सत्य है कि साइमन कमीशन ने भारतीय केन्द्रीय एवं प्रान्तीय कमेटियों के साथ परामर्श से कार्य किया परन्तु उससे एक गौराङ्ग कमीशन का अस्तित्व तो नहीं मिट सका।

रिपोर्ट—

सन् १९३० में साइमन कमीशन की रिपोर्ट दो भागों में प्रकाशित हुई। प्रथम भाग में देश की समस्याओं पर सन् १९१९ के अधिनियम की कार्यशीलता आदि पर प्रकाश डाला गया था और द्वितीय भाग में वैधानिक परिवर्तन करने के लिये विभिन्न सुझाव दिए गए थे। यद्यपि इस रिपोर्ट के तैयार करने में कमीशन के सदस्यों को अधिक समय, व्यवसाय एवं परिश्रम देना पड़ा तथापि यह 'भारतीय समस्याओं का सबसे अधिक सम्पूर्ण अध्ययन' नहीं थी। कमीशन ने वास्तविक भारत को समझने में भूल की। उसके भारत-आगमन से पहिले गांधीजी के नेतृत्व में देश में जागृति की जो लहर उत्पन्न हो चुकी थी उससे वह अपरिचित था। जनता के सम्पर्क में न आने के कारण कमीशन नवीन भारत को न देख सका। सी० एफ० एन्ड्रूज का कहना था कि यदि कमीशन के सदस्य एक बार महात्मा गांधी से उनके आश्रम में मिल लेते और यह समझ लेते कि किस वातावरण में उनके साथी जीवन व्यतीत कर रहे थे तो भारत के लिये नए विधान बनाने के सम्बन्ध में विचारों में बड़ा परिवर्तन हो जाने की संभावना थी।

---

2 India And The Simon Commission : C. F. Andrews

उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त एव बलूचिस्तान को अन्य प्रान्तों के साथ समान स्तर देने, (३) बगाल और पजाब में दोनों जातियों को जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व देने और (४) केन्द्रीय धारा-सभा में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व एक तिहाई से कम न माँगने की शर्तों को स्वीकार कर लिया। इसके अनन्तर सर्व दलों का सम्मेलन दिल्ली में १२ फर्वरी १९२८ को हुआ और २२ फर्वरी तक इसकी कार्यवाहिया चलती रहीं।[1] इस सम्मेलन के के अवसर पर ही उपरोक्त समिति की नियुक्ति हुई जिसके अध्यक्ष पडित मोतीलाल नेहरू थे। काफी विचार के पश्चात् यह निर्णय हुआ कि नए विधान में पूर्ण उत्तरदायी सरकार के सिद्धान्त को अपनाया जाये। कुछ प्रस्तावों द्वारा इस समिति को विधान में प्रान्तों एव चुनाव क्षेत्रों के पुनर्विभाजन एव प्रतिनिधि सस्थाओं में सीटों के पुनर्निर्धारण की व्यवस्था करने का आदेश दिया गया। १९ मई सन् १९२८ को इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई।

समिति के सदस्य—

अध्यक्ष पडित मोतीलाल नेहरू के अतिरिक्त इस समिति के अन्य सदस्य ये थे:—सर तेजबहादुर सप्रू, सर अली इमाम, श्री जी० आर० प्रधान, श्री शुऐब कुरैशी, श्री सुभाषचन्द्र बोस, श्री माधवराय अणे, श्री एम आर. जयकर, सरदार मंगलसिह और श्री० एन० एम० जोशी। समिति में दो मुसलमान सदस्यों को अपने सहधर्मियों के दृष्टिकोण को प्रदर्शित करने के लिये सम्मिलित किया गया था। अणे और जयकर को हिन्दू महासभा, सरदार मगलसिंह को सिक्ख लीग, श्री जोशी को श्रमिक वर्ग एव श्री प्रधान को अब्राह्मणों का प्रतिनिधित्व करने के लिये लिया गया। तेजबहादुर सप्रू उदार दल के नेता थे। इस प्रकार इस समिति में देश के सभी राजनीतिक दलों की भावनाओं को एकत्रित करने का प्रयत्न किया गया था। परन्तु विधान बनाने का कार्य उपर्युक्त सभी सदस्यों ने मिलकर नहीं किया। जयकर महोदय समयाभाव के कारण इस समिति में योग नहीं दे सके और श्री जोशी भी इसकी एक भी बैठक में उपस्थित नहीं हुए। श्री अली इमाम स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण इसकी केवल एक बैठक में आये परन्तु वे समय-समय पर अन्य प्रकार से इसको अपनी सेवाएँ प्रदान करते रहे। श्री प्रधान ने केवल १२ जून तक अपने साथियों के साथ कार्य किया। अत शेष सदस्यों ने ही इसमें सबसे अधिक योग दिया। १० अगस्त सन् १९२८ को इस समिति ने अपनी रिपोर्ट पेश की।

---

1. All Parties Conference—1928, Report of the Committee (Nehru Report)

कमीशन ने भारत में एक संघीय शासन की स्थापना के लिये सुझाव दिया। परन्तु तात्कालिक जनता को इस प्रकार का सुझाव रुचिकर न लगा क्योंकि इसका अर्थ वे देश का अनेक टुकड़ों में विभाजन समझते थे। इसके द्वारा प्रस्तावित संघ-शासन का आधार अमरीका जैसी शासन-प्रणाली नहीं था। इसके निर्माण से पूर्व एक भारतीय परिषद् की स्थापना की राय दी गई जो अंग्रेजी भारत एवं देशी रियासतों का प्रतिनिधित्व करे और इनकी सामान्य समस्याओं को हल कर सके। जिस प्रकार के प्रान्तीय शासन की स्थापना के लिये इस कमीशन ने शिफारिश की उसमें भी गवर्नरों के विशेष अधिकारों एवं केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण की शर्तबन्दी के कारण पूर्ण उत्तरदायित्व की व्यवस्था नहीं थी।

नेहरू रिपोर्ट

साइमन कमीशन मे भारतीय सदस्यों के सम्मिलित न किये जाने के लिये लार्ड बिरकनहैड का उनकी अयोग्यता का तर्क देशवासियों के लिये एक चुनौती था। देश की प्रतिनिधि कांग्रेस ने इस चुनौती को स्वीकार किया और जब कमीशन भारत का दौरा कर ही रहा था, इसने एक सर्व-दल सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन ने भारत के लिए एक नए विधान की रूप-रेखा तैयार करने के उद्देश्य से एक समिति नियुक्त की और पंडित मोतीलाल नेहरू उसके अध्यक्ष हुए। इस समिति ने जो रिपोर्ट प्रकाशित की वह इतिहास में नेहरू रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है।

यहाँ पर इस समिति की नियुक्ति को संभव बनाने वाली कुछ पिछली घटनाओं पर दृष्टिपात कर लेना असंगत नहीं है। सन् १९२६ में अब्दुल रशीद नामक एक कट्टर मुसलमान द्वारा स्वामी श्रद्धानन्द के वध के कारण, दिसम्बर मास में कांग्रेस के गोहाटी अधिवेशन पर, लोगों में बड़ा शोक छाया हुआ था। फलस्वरूप एक ऐसा प्रस्ताव पास हुआ जिसके अनुसार कांग्रेस की कार्यकारी समिति (Working Committee) को हिन्दू-मुस्लिम एकता की ओर शीघ्र ही कोई ठोस कदम उठाने का सुझाव दिया गया।[1] कार्यकारी समिति ने हिन्दू तथा मुसलमान नेताओं से परामर्श किया और दोनों जातियों के बीच दरारों को मिलाने की युक्तियाँ विचाराधीन हुई। अपने निर्णयों को समाप्त कर लेने के पश्चात इसने बम्बई में अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी से भेंट की और मुसलमानों की (१) सिन्ध का अलग प्रान्त बनाने, (२)

1 All Parties Conference—1928, Report of the Committee (Nehru Report)

उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त एव बलूचिस्तान को अन्य प्रान्तों के साथ समान स्तर देने, (३) बगाल और पजाब में दोनों जातियों को जनसख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व देने और (४) केन्द्रीय धारा-सभा में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व एक तिहाई से कम न मॉगने की शर्तों को स्वीकार कर लिया। इसके अनन्तर सर्व दलों का सम्मेलन दिल्ली में १२ फर्वरी १६२८ को हुआ और २२ फर्वरी तक इसकी कार्यवाहिया चलती रहीं ।[1] इस सम्मेलन के के अवसर पर ही उपरोक्त समिति की नियुक्ति हुई जिसके अध्यक्ष पडित मोतीलाल नेहरू थे। काफी विचार के पश्चात् यह निर्णय हुआ कि नए विधान में पूर्ण उत्तरदायी सरकार के सिद्धान्त को अपनाया जाये। कुछ प्रस्तावों द्वारा इस समिति को विधान में प्रान्तों एवं चुनाव क्षेत्रों के पुनर्विभाजन एव प्रतिनिधि सस्थाओं में सीटों के पुनर्निर्धारण की व्यवस्था करने का आदेश दिया गया। १६ मई सन् १६२८ को इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई ।

समिति के सदस्य—

अध्यक्ष पडित मोतीलाल नेहरू के अतिरिक्त इस समिति के अन्य सदस्य ये थे :—सर तेजबहादुर सप्रू, सर अली इमाम, श्री जी० आर० प्रधान, श्री श्वैब कुरैशी, श्री सुभाषचन्द्र बोस, श्री माधवराय अणे, श्री एम आर. जयकर, सरदार मंगलसिंह और श्री० एन० एम० जोशी। समिति में दो मुसलमान सदस्यों को अपने सहधर्मियों के दृष्टिकोण को प्रदर्शित करने के लिये सम्मिलित किया गया था। अणे और जयकर को हिन्दू महासभा, सरदार मंगलसिंह को सिक्ख लीग, श्री जोशी को श्रमिक वर्ग एव श्री प्रधान को अद्विजों का प्रतिनिधित्व करने के लिये लिया गया। तेजबहादुर सप्रू उदार दल के नेता थे। इस प्रकार इस समिति में देश के सभी राजनीतिक दलों की भावनाओं को एकत्रित करने का प्रयत्न किया गया था। परन्तु विधान बनाने का कार्य उपर्युक्त सभी सदस्यों ने मिलकर नहीं किया। जयकर महोदय समयाभाव के कारण इस समिति में योग नहीं दे सके और श्री जोशी भी इसकी एक भी बैठक में उपस्थित नहीं हुए। श्री अली इमाम स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण इसकी केवल एक बैठक में आये परन्तु वे समय-समय पर अन्य प्रकार से इसको अपनी सेवाएँ प्रदान करते रहे। श्री प्रधान ने केवल १२ जून तक अपने साथियों के साथ कार्य किया। अत शेष सदस्यों ने ही इसमें सबसे अधिक योग दिया। १० अगस्त सन् १६२८ को इस समिति ने अपनी रिपोर्ट पेश की।

---

1. All Parties Conference—1928, Report of the Committee (Nehru Report).

कारण—

भारतीय नेताओं ने शासन की एक ठोस योजना बनाने के उद्देश्य से ही यह विधान तैयार किया था जिस से कि उन्हें केवल राज्य की नीति का आलोचक ही न समझा जाये। यद्यपि स्वामी श्रद्धानन्द के वध के पश्चात् की घटनाओं ने हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच एकता की भावना उत्पन्न की थीं तथापि सर्वदल सम्मेलन को सबसे अधिक प्रोत्साहन देने वाली घटना भारतीय राज्यमन्त्री लार्ड बरकिनहैड का जातीय अभिमान पूर्ण ललकार थी। उन्होंने दो बार भारतियों से विधान बनाने के सुझाव मागे थे। वास्तव में उनका आशय यही था कि भारत शासन करने के अयोग्य है और ऐसा विधान नहीं बन सकता जिससे समस्त राजनीतिक दल सहमत हों। इसलिये साइमन कमीशन का वहिष्कार तो समस्त देश ने किया था परन्तु अभी उससे भी विशाल कार्य बाकी था और वह था देश के लिये एक नया विधान बनाकर भारतियों की योग्यता को प्रदर्शित करना। भारतीय नेताओं को भी अब इस चुनौती का उत्तर देने की जिद्द सवार हो गई थी। डा० राजेन्द्रप्रसाद ने इस भावना को इन शब्दों में भली-भाति स्पष्ट कर दिया है, "सोचा गया कि जब तक अपनी ओर से तैयार करके कोई योजना ससार के सामने नहीं रखी जायगी तब तक यही समझा जायगा, हम लोग केवल नुक्ताचीनी कर सकते हैं, कोई रचनात्मक कार्य नहीं कर सकते।[1] अत नेहरू रिपोर्ट लार्ड बर्किनहैड की अभिमानयुक्त ललकार का उत्तर थी।[2]

रिपोर्ट—

नेहरू रिपोर्ट में देश के लिये औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) के सिद्धान्त को मान्यता दी गई थी। काग्रेस कमेटी ने इसको पूर्णतया स्वीकार कर लिया परन्तु कुछ सदस्यों ने उदाहरणार्थ सुभाषचन्द्र बोस तथा उनके साथियों ने जो पूर्ण स्वराज्य के समर्थक थे इसका विरोध किया। पण्डित जवाहरलाल नेहरू देश के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्ष में होते हुए भी विभिन्न जातियों के हितों की रक्षा किये जाने के इच्छुक थे। महात्मा गाधी ने काग्रेस के सदस्यों के बीच मतभेद मिटाने का यथेष्ट प्रयत्न किया और फलस्वरूप एक प्रस्ताव पास हुआ जिसके अनुसार सरकार को यह चेतावनी दी गई कि यदि वह काग्रेस के आगामी अधिवेशन (३१ दिसम्बर १९२९) तक इस रिपोर्ट के

1. Dr Rajendra Prasad आत्म-कथा
2 D G Tendulkar : Mahatma Life of Mohan Das Karam Chand Gandhi, Vol. II

सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करेगी तो समस्त देश में स्वराज्य प्राप्ति के उद्देश्य से आन्दोलन आरम्भ कर दिया जायेगा। कांग्रेस के इस प्रस्ताव में प्रथम बार पूर्ण स्वशासन की माग स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत की गई थी।

परन्तु नेहरू रिपोर्ट को मुस्लिम लीग का समर्थन प्राप्त न हो सका। इस रिपोर्ट में आधारभूत अधिकारों के प्रदान द्वारा मुसलमानों एवं अन्य अल्प-संख्यक जातियों के अधिकारों की सुरक्षा की व्यवस्था की गई थी जिसका अर्थ यह था कि प्रत्येक जाति को धार्मिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रता होते हुए भी किसी के लिये पृथक क्षेत्र की माग को स्वीकार नहीं किया क्योंकि इसके द्वारा बहुसख्यक जातियों को अल्प-संख्यक जातियों के मत पर निर्भर रखने के कारण पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ने की काफी सभावना थी। इस पर मुसलमानों को बड़ा असन्तोष हुआ। यद्यपि उनकी सिन्ध को अलग प्रान्त बनाने एव बिलोचिस्तान तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त को अन्य प्रान्तों के समान स्तर देने की माग को स्वीकार कर लिया गया था तथापि पृथक निर्वाचन क्षेत्र एवं सीटों के निर्धारण की व्यवस्था न होने के कारण वे नेहरू रिपोर्ट के विरोधी थे। रिपोर्ट में पजाब तथा बगाल को छोड़कर अन्य प्रान्तों में अल्प-सख्यकों की सीटें निर्धारित कर दी गईं परन्तु बहुमत की अनुरूपता में अल्प-सख्यकों को अधिक सीट देने (Weightage) की प्रणाली को अनुचित होने के कारण कोई स्थान नहीं दिया गया। यह सब बातें लीग की इच्छाओं के प्रतिकूल थीं। परन्तु फिर भी कुछ सशोधनों के पश्चात् उसे नये विधान को अपनाने में कोई आपत्ति नहीं थी। उसने प्रस्ताव किया कि :—

१—केन्द्रीय धारा-सभा की एक तिहाई सदस्यता मुसलमानों के लिये निश्चित की जाये।

२—पजाब और बगाल में निर्वाचन जनसख्या के आधार पर हो और दस वर्ष पश्चात् इस प्रणाली पर पुनः विचार किया जाये और

३—अवशेष शक्तियाँ (Residuary Powers) प्रान्तीय सरकारों को सौंपने की व्यवस्था की जाय।[1]

परन्तु इन सशोधनों में से कांग्रेस ने किसी को भी स्वीकार नहीं किया। फल यह हुआ कि लीग के सदस्य विशेषकर मोहम्मद अली जिन्ना नेहरू रिपोर्ट

1. Sayyid Matlub Husain : Mohammad Ali Jinnah . A Political Study.

की खूब निन्दा करने लगे। जिन्ना ने लीग के विभिन्न दलों को एकत्रित कर उसकी शक्ति को सगठित करना आरम्भ कर दिया।

आलोचना एव असफलता की पात्र होने पर भी, नेहरू रिपोर्ट भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की व्यावहारिक अभिव्यक्ति थी। लार्ड बर्किनहैड की आग्ल-श्रेष्ठता की भावना का यह मुँह तोड़ जवाब था। परन्तु इसका परिणाम देश के लिये हितकर नहीं हुआ। नेहरू रिपोर्ट में प्रस्तावित नए विधान के कार्य रूप में न आने के कारण हिन्दू और मुसलमानों के बीच एक महत्वपूर्ण समझौता समाप्त हो गया।[1] यह भारत के लिये कम हानि नहीं थी। साथ ही मुसलमानों के असन्तोष के कारण नेहरू रिपोर्ट के स्वीकृत न होने से हमें एक शिक्षा भी मिलती है। वह यह कि समय के अनुकूल चलने के जोश में किया गया कोई भी ऐसा समझौता जिसमें सिद्धान्त की आहुति की गई हो, काफी स्थायी नहीं हो सकता। सन् १६१६ में जब काग्रेस-लीग के समझौते में मुसलमानों के लिये पृथक निर्वाचन क्षेत्र एव सीटों के निर्धारण आदि की व्यवस्था कर दी गई थी तो यह कैसे सभव था कि इस नए विधान में वे अपने पूर्वकालीन अधिकारों को त्याग देते। वास्तव में यह सारी खराबी लखनऊ के समझौते की थी।[2]

---

1 Bhartan Kumarappa Communal Unity A Collection of Mahatma Gandhi's writings on the subject.
2 Author's own book The Muslim League, its Hisory, Activities and Achievements

अध्याय १५

नमक-सत्याग्रह और गोलमेज सम्मेलन .

नमक स याग्रह

कारण—

असहयोग आन्दोलन के पश्चात् स्वराज्यवादियों की कार्यवाहियों, साइमन कमीशन के बहिष्कार एव नेहरू रिपोर्ट द्वारा देश मे काफी उत्तेजना उत्पन्न हो गई थी और अब नवयुवकों में एक नवीन राजनीतिक जागृति दृष्टिगोचर हुई। मध्यम वर्ग में अँग्रेज-विरोधी भावना वढने लगी और उनके सम्मेलनों मे देश की समस्याओं एव उनके समाधानों पर उत्तेजक वाद-विवाद होने लगे। किसान अपने अधिकारों के प्रति जागृत हो गये थे और श्रमिक-वर्ग में भी वर्ग-चेतना उत्पन्न हो रही थी। उपर्युक्त घटनाओं के द्वारा देश-वासियों का साहस वहुत दृढ गया था और उनमें देशव्यापी सगठित आन्दोलन चलाने की योग्यता भी आ गई थी। ऐसी दशा में राजनीतिक संघर्ष की ओर एक नया कदम उठाना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त, असहयोग आन्दोलन के निष्फल हो जाने पर महात्मा गाधी भी निराश होकर बैठने वाले नहीं थे। उनका भारतवासियों पर वड़ा प्रभाव था और अब उन्हें यह विश्वास हो चला था कि उनके साथी आन्दोलनों को सफलता प्रदान करने में समर्थ होंगे। सरकार के रुख में कोई परिवर्तन नहीं आया था। इसलिये गाधीजी ने देश मुक्ति के अन्य उपाय काम मे लाने का निश्चय किया। नमक-सत्याग्रह अथवा सविनय अवज्ञा आन्दोलन इसका परिणाम था।

यह हम ऊपर वतला चुके हैं कि सन् १९२८ के वार्षिक अधिवेशन में काग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया था कि यदि सरकार नेहरू-रिपोर्ट को, जिसमें औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) की माँग रखी गई थी, एक साल के अन्दर अर्थात् ३१ दिसम्बर सन् १९२९ तक पास नहीं करेगी तो वह पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के लिये एक देशव्यापी आन्दोलन प्रारम्भ करने को

विवश होगी। सन् १९२९ में इङ्गलैंड में आम चुनाव हुए और मजदूर सरकार स्थापित हुई। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री मैकडानल्ड ने वेजवुड बैन (Wedgewood Benn) को भारत-राजमन्त्री नियुक्त किया। इधर देश में विश्वव्यापी आर्थिक संकट ने राजनीतिक स्थिति को और भी गंभीर बना दिया। श्रमिकों में बेकारी फैलने लगी, किसान भूखों मरने लगे और शिक्षित वर्ग को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सरकार ने जनता की समस्याओं को सुलझाने के स्थान पर उसके साथ अपने दमनचक्र का उपयोग किया। इससे देशवासियों में असंतोष एवं संघर्ष की भावना भी उग्र रूप धारण करने लगी। यह देखकर सरकार ने समझौते की बात आरम्भ करदी। अत. जून मास में वाइसराय लार्ड इरविन भारत के विभिन्न राजनीतिक दृष्टिकोणों को सरकार के सामने उपस्थित करने के लिये गये। वहाँ से लौटने पर उन्होंने यह घोषणा की कि औपनिवेशिक स्वराज्य तो सन् १९१७ की घोषणा में अन्तर्निहित है और यह देश में वैधानिक प्रगति का स्वाभाविक परिणाम होगा। इस घोषणा में उन्होंने यह भी कहा कि शीघ्र ही इस विषय पर विचार करने के लिये सरकार लन्दन में ब्रिटिश-भारत एवं देशी रियासतों के प्रतिनिधियों की एक गोलमेज-परिषद् का आयोजन करेगी।

दिसम्बर सन् १९२९ में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन लाहौर में हुआ। इसमें गोलमेज परिषद् में कांग्रेस द्वारा भाग लेने के विषय पर बड़ा वाद-विवाद हुआ। महात्मा गान्धी इसके विपक्ष में थे। उन्होंने देश के लिये पूर्ण स्वराज्य के ध्येय और कौंसिलों का बहिष्कार करने एवं सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़ने का सुझाव दिया। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने यह तर्क रखा कि सरकार द्वारा नेहरू रिपोर्ट को मान्यता न प्राप्त होने के कारण अब वह समाप्त समझी जाये और कांग्रेस को उसके अनुसार कार्य करने की आवश्यकता नहीं है।[1] फलस्वरूप एक प्रस्ताव पास हुआ जिसमें पूर्ण स्वराज्य की व्याख्या की गई, नेहरू रिपोर्ट की योजना को समाप्त घोषित कर दिया गया, कांग्रेस जनों को कौंसिलों में भाग न लेने का आदेश दिया गया तथा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को यह अधिकार दे दिया गया कि वह जब उचित समझे सविनय अवज्ञा आन्दोलन को आरम्भ करदे। अत्यन्त विवाद के पश्चात् यह महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुआ। इसके पक्ष में १८७ और विपक्ष में ७१ मत दिये गये। परन्तु किसी भी प्रकार अन्त में इस महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव

1. The Indian Review, Jan 1930

के पास हो जाने से यह स्पष्ट है कि भारत की तात्कालिक विचार-शक्ति उचित मार्ग की ओर अग्रसर हो रही थी।[1]

आन्दोलन—

२६ जनवरी सन् १६३० को पूर्ण स्वराज्य दिवस समस्त देश मे बड़े उत्साह से मनाया गया। इस अवसर पर कांग्रेस की कार्यसमिति द्वारा स्वीकृत स्वराज्य की प्रतिज्ञा को प्रत्येक नगर व गाँव में पढा गया। इस प्रतिज्ञा का आशय इस प्रकार था कि अन्य देशों के निवासियों की भाँति भारतियों को भी स्वाधीनता का, एव अपने विकास के लिये पूर्ण अवसरों की प्राप्ति का अधिकार प्राप्त है; यदि कोई सरकार उनको इन अधिकारों से वञ्चित रखने अथवा उनको मिटाने का प्रयत्न करती है तो जनता को उसे बदलने का अधिकार भी है। अँग्रेजो शासन द्वारा देश के चतुर्मुखी नाश होने के कारण अब उसका अधिक समय तक सहन करना ईश्वर तथा मानवता के प्रति घोर अपराध है, अतः सरकार के साथ सभी सम्बन्ध तोड़ देना एवं अहिंसात्मक उपायों द्वारा स्वराज्य प्राप्त करना हमारा कर्त्तव्य है। देश के असख्य निवासियों ने इस प्रतिज्ञा को बार-बार दोहराया और पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के लिये कांग्रेस द्वारा जारी किये हुए निर्देशों का पालन करने का निश्चय किया। महात्मा गाधी को आन्दोलन आरम्भ करने के पूर्ण अधिकार दे दिये गए और इस प्रकार सघर्ष की पूरी तैयारियाँ हो गईं।

परन्तु आन्दोलन आरम्भ करने से पूर्व महात्मा गान्धी ने लार्ड इरविन को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने वाइसराय को बताया कि यदि पत्र में उल्लिखित माँगों को पूरा न किया गया तो वे साबरमती में नमक-कानून तोड़कर सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ कर देंगे। परन्तु वाइसराय का उत्तर निराशा-जनक था; उन्होंने कहा कि गान्धी जी का प्रस्ताव एक खेद का विषय है और उससे देश में अव्यवस्था तथा अशांति फैल जायगी। अतः अब आन्दोलन आरम्भ करने के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं रह गया था परन्तु फिर भी गान्धी जी ने "यग-इण्डिया" में एक लेख द्वारा वाइसराय को एक बार और चेतावनी दी, परन्तु उसकी प्रतिक्रिया न देखकर उन्होंने १२ मार्च सन् १६३० को अपने आश्रम के साथियों एव गुजरात विद्यापीठ के विद्यार्थियों को साथ लेकर, जिनकी कुल संख्या ७६ थी, अपनी इतिहास-प्रसिद्ध डाडी की यात्रा प्रारम्भ की। डाडी साबरमती से २०० मील दूर समुद्र

1. Author's own book : The Muslim League, its History, Activities and Achievements

के किनारे एक गाँव है। यहाँ पर समुद्र के पानी से नमक बनाकर नमक-कानून भग करने की योजना बनाई गई थी। ५ अप्रैल को समाप्त होने वाली इस यात्रा के उत्साह एव स्वागत आदि के दृश्यों का वर्णन अवर्णनीय है। ६ अप्रैल को गाधीजी तथा उनके अनुयायियों ने नमक-कानून को भग किया। इसके पश्चात् देश के अन्य भागों में हजारों आदमियों ने इस कानून को तोड़ा। जिन स्थानों पर खारा पानी या ऐसी मिट्टी नहीं थी जिससे कि नमक बनाया जा सके वहाँ पर अन्य कानूनों को तोड़ा गया। ६ अप्रैल को इस आन्दोलन को विस्तार देने के लिये महात्मा गान्धी ने घोषणा की कि 'प्रत्येक गाँव में अनियमित रूप से नमक बनाया जाये, मादक पदार्थों, अफीम इत्यादि तथा विदेशी वस्तुओं की दूकानों पर धरना दें, प्रत्येक घर में बूढ़े-जवान सभी मिलकर सूत कातें और उसको बुनने के लिये दें। विदेशी वस्त्र जला दिये जायें और हिन्दू लोग छुआछूत की भावना त्याग दें। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, पारसी और ईसाई सभी एक हो जायें; विद्यार्थी सरकारी स्कूलों एव कालिजों को छोड़दें और सरकारी आफिसों मे काम करने वाले व्यक्ति अपने पद से त्याग-पत्र देकर अपना जीवन देश-हित मे लगाएँ और शीघ्र ही स्वतन्त्रता हमारे द्वार पर आकर हमारा स्वागत करेगी।'

महात्मा गाधी की इस घोषणा की प्रतिक्रिया देश के लगभग सभी प्रांतों मे हुई। कलकत्ता में सार्वजनिक सभाओं में राजद्रोहात्मक साहित्य के प्रवचन से राजद्रोह नियम तोड़ा गया, मध्य प्रदेश में जगलात सम्बन्धी नियम तोड़े गये और अग्रेजी माल का बहिष्कार तथा शराब की दुकानों पर धरना देना तो आम बात हो गई। ४ मई को आधी रात के बाद महात्मा गाधी को बन्दी बनाकर यरवदा जेल ले जाया गया। इससे जनता और भी उत्तेजित हो गई और आन्दोलन वेग पकड़ने लगा। हड़तालें आरम्भ हो गई और अग्रेजी सरकार के विरुद्ध प्रदर्शन तथा धावे होने लगे। सयुक्तप्रात में किसानों ने कर देना बन्द कर दिया, चटगाँव मे लोगों ने सरकारी शस्त्रागार पर लूटमार की और पेशावर मे जनता ने नगर पर अपना अधिकार कर लिया। गाधीजी के पश्चात् अब्बास तैय्यबजी और श्रीमती सरोजिनी नायडू को भी गिरफ्तार कर लिया गया। परन्तु इससे तो आन्दोलन को और भी प्रोत्साहन मिला। काग्रेस की कार्यकारिणी ने अपनी इलाहाबाद की बैठक मे विदेशी वस्तुओं, बैंकों एव बीमा कम्पनियों के बहिष्कार के निश्चय द्वारा इसके क्षेत्र को और भी बढ़ा दिया।

गांधी-इर्विन समझौता—

आन्दोलन की प्रगति के बीच सर तेजबहादुर सप्रू तथा डा० जयकर ने सरकार तथा कांग्रेस के बीच समझौता कराने का प्रयत्न किया परन्तु कांग्रेसी नेताओं की अनिच्छा के कारण यह संभव न हो सका। १२ नवम्बर सन् १६३० को पहिला गोलमेज सम्मेलन लन्दन में आरम्भ हुआ परन्तु कांग्रेस ने इसमें भाग नहीं लिया। इस अवसर पर रैमजे मैकडनल्ड ने सर तेजबहादुर को यह आश्वासन दिया कि यदि भारत का वातावरण शान्त हो गया तो राजनीतिक बन्दियों को मुक्त कर दिया जाना सम्भव है। २५ जनवरी सन् १६३१ को कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यों की मुक्ति का आदेश जारी हुआ और कारागृह से छूटते ही महात्मा गांधी तथा अन्य नेतागण इलाहाबाद में एकत्रित हुए और उन्होंने मैकडानल्ड की घोषणा पर विचार किया। सर तेजबहादुर, श्रीनिवास शास्त्री, नवाब भोपाल तथा डा० जयकर के आग्रह पर महात्मा गांधी ने वायसराय लार्ड इर्विन से वार्तालाप आरम्भ की और परिणाम स्वरूप ५ मार्च सन् १६३१ को एक समझौता हुआ जो गांधी-इर्विन समझौते के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार सरकार ने तो प्रतिबन्धों को हटा लिया और गांधीजी ने कांग्रेस की ओर से सविनय अवज्ञा आन्दोलन को वापिस लेने तथा अगली गोलमेज परिषद् में भाग लेना स्वीकार कर लिया।

आन्दोलन फिर आरम्भ—

सन १६३१ के अप्रैल मास में लार्ड विलिंगडन वाइसराय होकर भारत आये। उन्होंने ६ सप्ताहों में इस आन्दोलन को समाप्त करने की प्रतिज्ञा की थी। अतः आते ही उन्होंने पूर्वाधिकारी द्वारा किये हुए समझौते की शर्तों को तोड़ना शुरू कर दिया। इधर जब गांधीजी दूसरी गोलमेज परिषद् में पहुँचे तो वहाँ पर उन्होंने स्वतन्त्रता के स्थान पर साम्प्रदायिकता के प्रश्न को उभरा हुआ पाया और उनकी अनुपस्थिति में देश में सरकार के दमन चक्र के अंतर्गत कांग्रेस के नेतागण जेल भेज दिये गये। फलस्वरूप, उनके लौटने पर सविनय अवज्ञा आन्दोलन फिर आरम्भ कर दिया गया और इस बार इसका रूप और भी गम्भीर हो गया। सत्याग्रहियों ने हँसते-हँसते सरकार द्वारा दी गई यातनाओं का सामना किया और हजारों व्यक्ति दण्डित एवं बन्दी हुए। फिर भी यह आंदोलन वेगपूर्वक चलता रहा।

भारत में तो सरकार ने इस आन्दोलन को विशेष महत्व नहीं दिया क्योंकि उसके परिणामों के गम्भीर होने की आशा न थी। ऐंग्लोइंडियन पत्रकारों

ने महात्मा गांधी की दंडी यात्रा का बड़ा मजाक उड़ाया। परन्तु आन्दोलन के देशव्यापी हो जाने पर सरकार की आँखें खुलीं और स्थिति को सँभालने के लिये उसने दमन-नीति का आश्रय लिया। लार्ड इर्विन ने नियम जारी किये जिनके अनुसार कांग्रेस संस्था को नियम विरुद्ध घोषित कर दिया गया और अनेकों स्थानों पर कांग्रेस के कार्यकर्ताओं, नेताओं एवं स्वयं-सेवकों को बन्दी कर लिया गया। पुलिस और सेना ने गोली एवं लाठी से प्रदर्शनों का विरोध किया और कारावास की लम्बी सजाएँ तथा भारी जुर्माने एक आम बात हो गये। सभायें भंग की गई, नवयुवक पकड़े गए और उन्हें नाना प्रकार की यातनायें दी गई। परन्तु सरकार ने जितना हिंसात्मक उपायों का प्रयोग किया, उतना ही यह आन्दोलन उग्र रूप धारण करता गया। अनुमान है कि प्रथम बार लगभग ६०,००० हजार तथा दूसरी बार उसके दुगने व्यक्ति बन्दी हुए। लार्ड विलिंगडन ने समाचार-पत्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये और कॉंग्रेस के कार्यालयों में सरकारी ताले लगवाकर उनकी संपत्ति सरकारी कोष मे भिजवा दी। परन्तु यह आन्दोलन निष्प्राण नहीं था।- सरकार की दमन-नीति की उपेक्षा करता हुआ यह ढाई वर्ष तक तो चलता ही रहा।

आंदोलन शांत—

कॉंग्रेस के प्रमुख नेताओं के बन्दी बना लिये जाने से इस आन्दोलन की प्रगति धीमी पड़ गई। देश भर में सैकड़ों व्यक्ति गिरफ्तार हो चुके थे यहाँ तक कि कॉंग्रेस से तनिक भी सम्बन्ध रखने वाला व्यक्ति कारागृह में था। सरकार ने इस बार नग्न बर्बरता का प्रयोग किया, अत्याचार किये, गोलियाँ चलाई, लोगों को शारीरिक यातनायें दीं और गाँवों पर सामूहिक अर्थ दण्ड लगाया तथा किसानों को बे-घरबार कर दिया। लार्ड विलिंगडन कॉंग्रेस को कुचलकर देश मे आतंक की स्थापना करना चाहते थे। इस कारण यह संघर्ष दबे रूप में चलता रहा। अन्त में सन् १६३५ के भारत सरकार अधिनियम के पास हो जाने पर यह आंदोलन शांत हो गया।

गोलमेज सम्मेलन

कारण—

यह हम ऊपर देख चुके हैं कि सविनय अवज्ञा आंदोलन के समय देश की अंग्रेज विरोधी भावना कितनी संघर्षशील हो गई थी। भारतियों ने अब सरकार को यह जता दिया था कि यदि वह मनमानी करेगी तो वे भी चुपचाप बैठे न रहेंगे। देश ने असहयोग की नीति प्रकट रूप से अपनाई थी और

क्रूरतापूर्ण दमन एवं अत्याचारों की उपेक्षा करते हुए आन्दोलन की प्रगति में परिवर्तन न करके जनता ने यह दिखा दिया था कि स्वतन्त्रता की मॉग के पीछे कितना लोकमत है। अतः अँग्रेजों को भारतियों को शात करने के लिये वैधानिक मार्ग में भी कोई कदम उठाना आवश्यक था। परन्तु यह समझना भूल होगी कि केवल तात्कालिक राष्ट्रीय आन्दोलन ने सरकार को गोलमेज परिषद बुलाने को विवश किया। वास्तव में इनका आधार साइमन कमीशन की नियुक्ति में अन्तर्निहित था। ब्रिटिश प्रधान मत्री रैमजे मैकडानल्ड (Ramsay Macdonald) ने यह स्पष्ट रूप से कहा था कि साइमन कमीशन की नियुक्ति के अवसर पर ब्रिटेन के सभी राजनीतिक दल इस बात से सहमत थे कि उसकी रिपोर्ट पर विचार करते समय भारतीय प्रतिनिधियों से भी परामर्श किया जायगा।[1] इस प्रकार गोलमेज सम्मेलन के विचार का प्रारम्भ साइमन कमीशन के साथ ही हो गया था।

कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशित हो जाने के पश्चात् ३१ अक्टूबर सन् १६२६ को वाइसराय लार्ड इरविन ने सरकार की ओर से प्रथम गोलमेज सम्मेलन की घोषणा की। इसका उद्देश्य यह बताया गया कि भारत के सभी राजनीतिक दलों, वर्गों और देशी रियासतों के प्रतिनिधि इसमें एकत्रित होकर देश की समस्याओं पर विचार करेंगे।[2] परन्तु कॉग्रेस ने लाहौर के वार्षिक अधिवेशन (१६ दिस० १६२६) में यह निर्णय किया कि वह इसमें भाग न लेगी। इसलिये प्रथम गोल-मेज सम्मेलन में एक भी कॉग्रेसी प्रतिनिधि उपस्थित नहीं था। इसके विपरीत मुस्लिम लीग एव अन्य राजनीतिक दलों एव हितों के प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित होने के लिये तैयार हो गए।

प्रथम सम्मेलन—

सम्मेलन की बैठकें तीन बार हुईं। प्रथम बार गोलमेज १२ नवम्बर सन् १६३० ई० से लेकर १६ जनवरी सन् १६३१ तक, द्वितीय बार ७ सितम्बर सन् १६३१ से लेकर १ दिसम्बर १६३१ तक और तृतीय बार १७ नवम्बर सन् १६३२ से आरम्भ होकर यह इस वर्ष के बड़े दिन तक हुई। इसके पहिले दिन के अधिवेशन का सभापतित्व स्वय सम्राट ने लार्ड सभा भवन में किया। प्रथम पॉच दिनों तक तो इस विषय पर विवाद हुआ कि भारत के लिये सघीय अथवा एकात्मक दोनों में से किस प्रकार के विधान की स्थापना की जाये। अन्त में इस पर निर्णय करने का कार्य संघीय व्यवस्था कमेटी को

1. Round Table Conference, 12th Nov. 1930--19th Jan. 1931.
2. Dr Rajendra Prasad, India Divided.

सौंप दिया गया। विभिन्न विषयों पर विचार करने के उद्देश्य से पहिले गोलमेज के अवसर पर ही इसकी नौ कमेटियाँ नियुक्त कर दी गई थीं, जो इस प्रकार थीं :—

(१) सघीय व्यवस्था सब कमेटी,
(२) प्रान्तीय ,, ,,
(३) अल्प-सख्यक ,, ,,
(४) वर्मा ,, ,,
(५) उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त सब कमेटी
(६) मताधिकार ,, ,,
(७) सुरक्षा ,, ,,
(८) सरकारी नौकरियाँ ,, ,,
(९) सिन्ध ,, ,,

इनमें से प्रथम सब कमेटी में ही देशी राजाओं का प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण प्रकट हो गया था। बीकानेर के महाराजा ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि भारतवर्ष इग्लैंड से अपना सम्बन्ध अवश्य रखे और उसका स्तर ब्रिटिश कामनवैल्थ में अन्य राज्यों के समान हो। जहाँ तक देश में सघीय शासन की स्थापना का सम्बन्ध था, उन्होंने कहा कि इसमें सम्मिलित होना प्रत्येक राजा की स्वेच्छा पर निर्भर होगा और इसके लिये देशी राज्यों का स्थान ब्रिटिश भारत के साथ बराबरी का होगा। उन्होंने यह भी माँग की कि देशी राज्यों और अंग्रेजी सरकार के बीच जितनी सधियाँ हुई हैं उनको सुरक्षित रक्खा जाये और प्रत्येक आन्तरिक मामलों में किसी भी राजा के प्रभुत्व को किसी प्रकार कम न किया जाये।[1] इस कमेटी की शिफारिशों में भी यह बात जाहिर की गई कि भारतीय सघ में वही देशी रियासतें सम्मिलित होंगी जिनके शासक इस प्रकार की इच्छा रखते हैं। दूसरे शब्दों में इसका आशय यह था कि देशी राजे सघ में सम्मिलित होने या न होने के लिये स्वतन्त्र थे।

इस सम्मेलन के अवसर पर साम्प्रदायिक अभिरक्षणों (Communal Safeguard) के प्रस्तावों पर भी विचार हुआ। यद्यपि इस प्रश्न को सुलझाने के लिए एक अलग कमेटी नियुक्त कर दी गई थी, मुसलमान प्रतिनिधियों ने इसमें भी अपने विचार थोपने का प्रयत्न किया। सर मोहम्मद शफीने

1 Round Table Conference, 12th Nov , 1930—19th Jan. 1931 (Proceedings of the Sub-Committee, Vol I)

यही कहा कि देश में हिन्दू और मुसलमानों के बीच एकता स्थापित होने की कोई संभावना नहीं हैं और कोई नवनिर्मित विधान मुसलमानों द्वारा उस समय तक स्वीकृत नहीं होगा जब तक कि उसमें उनके अधिकारों की पूर्ण सुरक्षा की व्यवस्था नहीं की जायेगी ।[1] मौहम्मद अली जिन्ना ने भी इस बात पर जोर दिया कि मुसलमानों के सहयोग एव सहमत के बिना बनाया गया कोई भी विधान भारत में चौबीस घण्टे भी कार्य न कर सकेगा ।[2] फल यह हुआ कि इस सम्मेलन में मुसलमानों के लिये उचित अभिरक्षणों की माँग को स्वीकार कर लिया गया ।

१९ जनवरी सन् १९३१ को प्रथम गोलमेज का अधिवेशन समाप्त हुआ । भारत के भावी विधान के सम्बन्ध में ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने सरकार की ओर से यह घोषित किया कि भारत सरकार का उत्तरदायित्व केन्द्रीय एवं प्रान्तीय धारा सभाओं पर होना चाहिये, और इसका आयोजन होना चाहिये कि सरकार परिवर्तन काल में अपने आवश्यक कार्यों को करने के साथ-साथ अल्पसख्यकों के अधिकारों और स्वतन्त्रता की रक्षा कर सके । उन्होंने यह भी कहा कि यदि इस बीच में सविनय अवज्ञा आन्दोलन में सलग्न व्यक्ति अपनी कार्यवाहियाँ त्याग देंगे तो उनकी माँगों की पूर्ति का प्रयत्न भी किया जायेगा ।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन—

द्वितीय गोलमेज के अधिवेशन में महात्मा गाधी तथा लार्ड इरविन के बीच समझौता हो जाने के कारण काग्रेस की ओर से गाधीजी ने भी भाग लिया । इस बार भी अग्रेजों की कूटनीति के फलस्वरूप देश की स्वाधीनता का प्रश्न तो दब गया और साम्प्रदायिकता की समस्या ऊपर आ गई । सघ-निर्माण एव साम्प्रदायिकता की समस्या सुलझ न सकी । गांधीजी संघीय-व्यवस्था एवं अल्प-संख्यक कमेटियों के सदस्य भी हुए परन्तु उनकी आशा पूरी न हो सकी और अन्त में उनको इन समस्याओं को सुलझाने में असफल रहने के कारण खेद प्रकट करना पड़ा ।[3] फिर भी उन्होंने साम्प्रदायिकता के प्रश्न को हल करने के लिए एक सुझाव रखा । उन्होंने कहा कि काग्रेस किसी जाति या

1 Ibid
2. Ibid
3 Indian Round Table Conference 7th Sept 1931,--1st Dec. 1931. (Proceedings of the Federal Structure Committee and Minority Committee, Vol. III)

वर्ग विशेष की सस्था नहीं है उसको समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधि समझना चाहिये और उसकी प्रत्येक योजना में अल्पसख्यकों के हितों की रक्षा, मूल अधिकारों की व्यवस्था की जायेगी, सस्कृति, भाषा, लिपि, उद्योग, धर्म और मताधिकार के सम्बन्ध में सभी जातियों के अधिकार समान होंगे; चुनाव क्षेत्र सम्मिलित होगा परन्तु सिन्ध में हिन्दुओं के लिये, आसाम में मुसलमानों के लिये, पजाब और उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त में सिक्खों के लिये और उन सभी प्रान्तों में यहाँ हिन्दू अथवा मुसलमानों की जन-सख्या १५ प्रतिशत से कम होगी वहाँ उनके लिये जन-सख्या के आधार पर सीटें निर्धारित करदी जायेंगी और अछूतों की दशा उनके हित में कड़े कानून बनाकर सुधार दी जायेगी। परन्तु इस सुझाव को सर्वमत प्राप्त न हो सका क्योंकि सम्मेलन में भाग लेने वाले अधिकाश प्रतिनिधि जनता द्वारा चुने हुए व्यक्ति नहीं थे, उन सब को सरकार ने ही नियुक्त किया था।

सर मुहम्मद शफी ने गाधीजी की उपर्युक्त योजना की बड़ी आलोचना की। उन्होंने कहा कि वे सभी सुझाव नेहरू रिपोर्ट में पहिले ही दे दिये गए थे और सम्मेलन में उनका दोहराना आवश्यक नहीं था।[1] आगाखाँ ने भी अपने सहधार्मियों मे इसी प्रकार की विरोधी भावनाओं को जाग्रत करने का प्रयत्न किया। अन्त मे महात्मा गाधी ने प्रधानमन्त्री को ललकारते हुए कहा, मुझे पूर्ण विश्वास है कि हम लोगों को अपने घरों और व्यवसायों से निकाल कर छै हजार मील दूर बुलाकर सम्मेलन का आयोजन इसलिये नहीं किया गया है कि इस देश के लिये विधान बनाने के प्रश्न पर विचार करें प्रत्युक्त इसलिये किया गया है कि साम्प्रदायिकता की समस्या सुलझाई जा सके और न ही ये समस्या सुलझेगी और न देश के लिये कोई विधान बनेगा।[2]

तृतीय गोलमेज सम्मेलन—

सरकार ने साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Award) देकर इस समस्या का अन्त किया। गाधीजी को निराश भारत लौटना पड़ा। तृतीय गोलमेज सम्मेलन में केवल ४६ प्रतिनिधि उपस्थित थे और उनमें काग्रेस का सदस्य एक भी नहीं था। इस अवसर पर भी हिन्दू और मुसलमानों के बीच हितों की रक्षा का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। हिन्दू सघ की योजना मे अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार को और मुसलमान प्रान्तीय सरकारों को सौंपना चाहते

1 Indian R T Conference (Second Session).
2 Ibid

थे ।[1] वे दोनों किसी एक योजना पर सहमत न हो सके और अन्त में, विधान बनाने का कार्य स्वयं अंग्रेजों ने अपने हाथ में ले लिया ।

परिणाम—

गोलमेज सम्मेलनों की असफलता देश के लिये एक लज्जापूर्ण घटना है । इससे लार्ड बरकिन हैड के इस अनुमान की सत्यता प्रकट हो गई कि भारतीय शासन करने के अयोग्य हैं । साम्प्रदायिकतावादियों ने इग्लैंड में भी अपने पारस्परिक मतभेदों को प्रकट करने में सकोच नहीं किया । यह देशभक्तों के लिये एक अत्यन्त दुःख की बात थी । इसने अंग्रेजों को यह कहने का मौका दे दिया कि हिन्दू और मुसलमानों को एक होने का अवसर प्राप्त होने पर भी वे एक न हो सके और इसका दुर्पयोग करते हुए उन्होंने विधान बनाने का कार्य अपने हाथ में ले लिया । वास्तव में महत्वपूर्ण निर्णय गोलमेज सम्मेलनों के अधिवेशनों से पूर्व ही कर लिये गए थे और उनको असफल करने की योजना पहिले ही बना ली गई थी । इन सम्मेलनों की कार्यवाहियों अंग्रेजों की छलपूर्ण कूटनीति को प्रकट करती हैं ।

---

1. R. Coupland : The Indian Problem.

वर्ग विशेष की सस्था नहीं है उसको समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधि समझना चाहिये और उसकी प्रत्येक योजना में अल्पसख्यकों के हितों की रक्षा, मूल अधिकारों की व्यवस्था की जायेगी, सस्कृति, भाषा, लिपि, उद्योग, धर्म और मताधिकार के सम्बन्ध में सभी जातियों के अधिकार समान होंगे; चुनाव क्षेत्र सम्मिलित होगा परन्तु सिन्ध में हिन्दुओं के लिये, आसाम में मुसलमानों के लिये, पजाब और उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त में सिक्खों के लिये और उन सभी प्रान्तों में यहाँ हिन्दू अथवा मुसलमानों की जन-सख्या १५ प्रतिशत से कम होगी वहाँ उनके लिये जन-सख्या के आधार पर सीटें निर्धारित करदी जायेंगी और अछूतों की दशा उनके हित में कड़े कानून बनाकर सुधार दी जायेगी। परन्तु इस सुझाव को सर्वमत प्राप्त न हो सका क्योंकि सम्मेलन में भाग लेने वाले अधिकाश प्रतिनिधि जनता द्वारा चुने हुए व्यक्ति नहीं थे, उन सब को सरकार ने ही नियुक्त किया था।

सर मुहम्मद शफी ने गाधीजी की उपर्युक्त योजना की बड़ी आलोचना की। उन्होंने कहा कि वे सभी सुझाव नेहरू रिपोर्ट में पहिले ही दे दिये गए थे और सम्मेलन में उनका दोहराना आवश्यक नहीं था।[1] आगाखाँ ने भी अपने सहधार्मियों में इसी प्रकार की विरोधी भावनाओं को जाग्रत करने का प्रयत्न किया। अन्त में महात्मा गाधी ने प्रधानमन्त्री को ललकारते हुए कहा, मुझे पूर्ण विश्वास है कि हम लोगों को अपने घरों और व्यवसायों से निकाल कर छै हजार मील दूर बुलाकर सम्मेलन का आयोजन इसलिये नहीं किया गया है कि इस देश के लिये विधान बनाने के प्रश्न पर विचार करें प्रत्युत इसलिये किया गया है कि साम्प्रदायिकता की समस्या सुलझाई जा सके और न ही ये समस्या सुलझेगी और न देश के लिये कोई विधान बनेगा।[2]

तृतीय गोलमेज सम्मेलन—

सरकार ने साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Award) देकर इस समस्या का अन्त किया। गाधीजी को निराश भारत लौटना पड़ा। तृतीय गोलमेज सम्मेलन में केवल ४६ प्रतिनिधि उपस्थित थे और उनमें कांग्रेस का सदस्य एक भी नहीं था। इस अवसर पर भी हिन्दू और मुसलमानों के बीच हितों की रक्षा का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। हिन्दू सघ की योजना में अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार को और मुसलमान प्रान्तीय सरकारों को सौंपना चाहते

1 Indian R T Conference (Second Session).
2 Ibid

थे ।[1] वे दोनों किसी एक योजना पर सहमत न हो सके और अन्त में, विधान बनाने का कार्य स्वयं अंग्रेजों ने अपने हाथ में ले लिया ।

परिणाम—

गोलमेज सम्मेलनों की असफलता देश के लिये एक लज्जापूर्ण घटना है। इससे लार्ड बरकिन हैड के इस अनुमान की सत्यता प्रकट हो गई कि भारतीय शासन करने के अयोग्य हैं। साम्प्रदायिकतावादियों ने इंग्लैंड में भी अपने पारस्परिक मतभेदों को प्रकट करने में सकोच नहीं किया। यह देशभक्तों के लिये एक अत्यन्त दुःख की बात थी। इसने अंग्रेजों को यह कहने का मौका दे दिया कि हिन्दू और मुसलमानों को एक होने का अवसर प्राप्त होने पर भी वे एक न हो सके और इसका दुर्पयोग करते हुए उन्होंने विधान बनाने का कार्य अपने हाथ में ले लिया। वास्तव में महत्वपूर्ण निर्णय गोलमेज सम्मेलनों के अधिवेशनों से पूर्व ही कर लिये गए थे और उनको असफल करने की योजना पहिले ही बना ली गई थी। इन सम्मेलनों की कार्यवाहियों अंग्रेजों की छलपूर्ण कूटनीति को प्रकट करती हैं।

---

1 R. Coupland : The Indian Problem.

अध्याय १५

सन् १९३५ का भारत सरकार अधिनियम और कॉंग्रेसी-मंत्रिमंडल

गोलमेज सम्मेलनों में हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच समझौता न हो सकने के कारण भारत के लिये विधान बनाने का कार्य अंग्रेजों ने स्वय अपने हाथों में ले लिया। सन् १९३५ का अधिनियम देश में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना के मार्ग में द्वितीय मील सूचक चिन्ह था। इसके पहिले सन् १९१९ के भारत सरकार अधिनियम ने प्रान्तों में द्वैध शासन का समावेश करके उत्तरदायी शासन की ओर पहिला कदम उठाया था। नये अधिनियम के अन्तर्गत विधान बनाने के लिये सन् १९३० की साइमन कमीशन की रिपोर्ट, सन् १९३०-३१ के गोलमेज सम्मेलनों के वाद-विवाद, सन् १९३४ के 'ह्वाइट पेपर' (White Paper) और 'ह्वाइट पेपर' के सम्बन्ध में 'सेलेक्ट कमेटी' की रिपोर्ट को आधार बनाया गया था।[1]

विशेषताएँ—

इस अधिनियम की मूलभूत विशेषताएँ तीन थीं—अखिल भारतीय सघ की व्यवस्था, प्रान्तीय स्वायत्तता (Provincial Autonomy) की स्थापना एव उत्तरदायित्व तथा अभिरक्षण (safeguards) का सयुक्तीकरण। नये विधान को सघात्मक रूप देने के लिये जो नियम प्रस्तावित किये गये थे वे कठोर थे। केवल उन्हीं गवर्नरों एव चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों तथा देशी राज्यों को सघ में सम्मिलित करना स्वीकार किया गया था जो स्वय उसमें आने की इच्छा रखते हों। देशी राज्यों को सघ में प्रवेश करने के पश्चात् कम से कम १२ प्रतिनिधि सघीय राज्यमडल (Council of States) में भेजना अनिवार्य था और यह भी निश्चित किया गया कि सघ की घोषणा उस समय तक न की जायगी जब तक कि प्रवेश करने वाले राज्यों की न्यूनतम जनसख्या समस्त

1 V S Krishnaswami The Indian Constitution (Preface)

राज्यों की जनसख्या का अर्द्धांश न होगी। प्रत्येक देशी राज्य के शासक को सघ में सम्मिलित होने के लिये एक प्रवेश-करण पत्र (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर करने थे और सम्राट् द्वारा उनका निरीक्षण एवं स्वीकृति आवश्यक थी। इस प्रवेशकरण-पत्रों में शासकों को उन विषयों का वर्णन करना था जिनके सम्बन्ध में कि वे सघीय धारा सभा को नियम बनाने का अधिकार देने की इच्छा रखते थे और सम्राट् को अपने को यह सतुष्ट करना था कि उनमें उसकी पूर्ण-मान्यताओं तथा अधिनियम की मूल योजना के प्रतिकूल तो कोई शर्त न थी। इन पावन्दियों के अतिरिक्त देशी राज्यों के सम्बन्ध में और भी समस्यायें थीं। उनमें स्थापित शासन-प्रणाली एव सामाजिक सगठन देश में प्रजातन्त्रवादी विधान बनाने के लिये अनुकूल न थे और उनकी न्याय एव आर्थिक व्यवस्था उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तों के विपरीत थीं।[1] विभिन्न राज्यों में शासन-प्रणाली एव कार्य-पद्धति विभिन्न थी। उनका आकार-प्रकार भी समान नहीं था। सक्षेप में, एक सघात्मक राज्य की स्थापना के लिये जितनी वातें आवश्यक हैं उनमें से कोई भी भारतीय राज्यों में नहीं थीं। श्री चिन्तामणि ने ठीक ही कहा था कि सर सेमुअल होर (Sir sameul Hoare) ने भारत के लिये एक सघ की योजना बनाकर उसका बड़ा अपकार किया है।[2] भारतवर्ष की ऐतिहासिक परम्परा सघीय शासन के लिये अनुकूल न थी और न ही उसकी स्थापना के लिये देश के विभिन्न राज्यों में कोई इच्छा थी। संघात्मक राज्य की योजना भारतवासियों पर थोपी गई थी।

इस अधिनियम की द्वितीय एव महत्वपूर्ण विशेषता प्रान्तीय स्वायत्तता (Provincial Autonomy) की स्थापना है। साधारण शब्दों में प्रान्तीय स्वायत्तता का अर्थ ऐसी स्वाधीनता है जिसमें कि प्रान्तों की धारा सभाओं को कुछ विषयों पर नियमादि का एकाधिकार दे दिया गया था और उन विषयों में वे केन्द्रीय धारासभा के नियंत्रण से पूर्णतः स्वतन्त्र थीं; साथ ही प्रान्तीय कार्यकारिणी को गवर्नर के अधीन बना दिया गया था।[3] इस प्रकार प्रान्तीय स्वायत्तता के दो विशेष गुण थे—केन्द्रीय नियन्त्रण से स्वतन्त्रता तथा धारासभा का निर्वाचन।[4] इसमें सन्देह नहीं कि इस अधिनियम ने प्रान्तों में द्वैधशासन को समाप्त कर उनके प्रशासन को उत्तरदायी बनाने की योजना

1. K. T Shah . Federal Structure in India,
2 C Y. Chintamani and M. R Masani . India's Constitution at Work.
3 Report of the Joint Committee on Indian Constitutional Reform Vol. 1 - Part 1(1934)
4 India's Constitution at Work.

द्वारा देश की वैधानिक प्रगति में योग दिया परन्तु सत्य यह है कि प्रान्तीय स्वायत्तता एक धोखा थी। प्रान्तों का शासनाधिकार अब भी गवर्नर के हाथों में था जो सीधा सम्राट् का प्रतिनिधि होता था। विशेष उत्तरदायित्व एव विवेक से कार्य करने की शक्ति द्वारा उसको प्रान्तीय स्वायत्तता को कुचलने के सारे शस्त्र दे दिये गये थे। गवर्नर-जनरल को देश अथवा उसके किसी भाग की शाति एव सवर्धन के सङ्कट को हटाने के लिये प्रान्तीय शासन पर नियत्रण करने का पूर्ण अधिकार दे दिया गया था।[1] शक्तियों का विभाजन सघीय दृष्टि से नहीं हुआ और सघीय धारासभा को यह अधिकार दे दिया गया था कि वह अपने बनाये हुए किसी नियम को प्रान्तों में लागू करने का कार्य प्रान्तीय सरकार अथवा उसके अधिकारियों को सौंप दे। यह पाबन्दी प्रान्तीय स्वायत्तता के सिद्धान्तों के प्रतिकूल थी।

अधिनियम की तीसरी विशेषता—उत्तरदायित्व एव अभिरक्षण— केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकारों को उत्तरदायी बनाने के मार्ग में बाधक थे। गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व एव व्यक्तिगत शक्तियों का क्षेत्र इतना व्यापक था कि उसकी स्थिति सघ के निरकुश शासन के समान हो गई थी। केन्द्र में द्वैध-शासन की स्थापना उत्तरदायी प्रशासन के सिद्धान्तों के विपरीत थी। गवर्नरों को भी अपने अधिकारों एव उत्तरदायित्व द्वारा शक्तियों का एक विस्तृत क्षेत्र मिल गया था। उनकी स्थिति प्रान्तों में वही थी जो कि केन्द्र में गवर्नर जनरल की थी और इन सबके ऊपर ब्रिटिश ससद को भी इन अधिकारियों के कार्यों को नियन्त्रित करने का अधिकार प्राप्त था। वास्तव में अंग्रेजों को आरक्षण एव अभिरक्षणों की अधिक चिन्ता थी।

मुस्लिम प्रभाव—

इस अधिनियम की विशेषताओं पर मुसलमानों की राजनीति का बहुत प्रभाव पड़ा। उनकी माँगें थीं कि प्रान्तों में मुसलमानों के लिये सीटों का आरक्षण किया जाये, उनके लिये पृथक् निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था हो तथा कम मुसलमान आबादी वाले प्रान्तों में उनके लिये बहुसख्यक जातियों की अनुरूपता में सीटें निर्धारित की जायें। इस अधिनियम में साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Award) के द्वारा उनकी इन माँगों की पूर्ति की गई। नए विधान में मुसलमानों के हितों की रक्षा की व्यवस्था करने में आगाखाँ का बहुत हाथ था। माडर्न रिव्यू के अनुसार लन्दन से प्राप्त होने वाली विश्वस्त

1 The Government of India Act 1935 (Part IV-Chapter II, Sections 52 & 54)

एव गुप्त सूचनाओं के आधार पर यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिक निर्णय के समावेश के लिये आगाखाँ ने विशेष प्रयत्न किया था और यह उन्हीं के परिश्रम का परिणाम था।[1] ये माँगें देश के लिये हितकर न थीं और ब्रिटेन की टोरी सरकार ने भी यह स्वीकार किया था कि सन् १६३५ का अधिनियम भारतवासियों की इच्छाओं के विरुद्ध उन पर लादा जा रहा था। स्वय मुसलमान लोग जिनके साथ इस अधिनियम में बहुत पक्षपात किया गया था, इससे पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं थे।[2]

चुनाव की तैयारियाँ—

यह स्वाभाविक था कि उत्तरदायी प्रशासन की स्थापना न करने वाले इस विधान को कांग्रेस पसन्द न करे। परन्तु सरकार ने इसके प्रान्तीय स्वायत्तता वाले भाग को कार्य रूप देने का दृढ निश्चय कर लिया था। अतः सन् १६३६ में चुनाव लड़ने के लिये देश के राजनैतिक दलों की ओर से तैयारियाँ आरम्भ हो गई। इसी वर्ष अप्रैल मास में कांग्रेस की लखनऊ की बैठक में चुनाव लड़े जाने के विषय पर बड़ा वाद-विवाद हुआ और इसके पक्ष में निर्णय हुआ। परन्तु इसके पश्चात् जब पद ग्रहण करने के प्रश्न पर विचार हुआ तो सदस्यों में बड़ा मतभेद था। इस पर डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने यह प्रस्ताव किया कि पद ग्रहण करने का निर्णय चुनावों में सफल होने के पश्चात् किया जाये। यह भी निर्णय किया गया कि भविष्य में कांग्रेस की कार्यसमिति (Working Committee) ससदीय बोर्ड का कार्य करेगी और चुनाव की घोषणा सम्बन्धी पत्रादि रखने का अधिकार भी इसे दे दिया गया। इन चुनावों के घोषणा-पत्र में देश की सामाजिक एवं आर्थिक दशा के सुधार एवं किसानों की दुर्दशा के सम्हालने पर विशेष जोर दिया गया।

कांग्रेस की सफलता—

कांग्रेस इस समय तक देश की अत्यन्त लोकप्रिय संस्था हो चुकी थी। अतः इन चुनावों में उसकी भारी जीत हुई। मद्रास, बम्बई, उत्तर-प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। बगाल, आसाम तथा उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त में कांग्रेस का दल सबसे बड़ा था, यद्यपि कुल सदस्यों के अनुपात में यह अल्पमत में था। मुस्लिम लीग को इन चुनावों में विशेष सफलता नहीं मिली। सरकार द्वारा मुसलमानों को दिये गये ४८२

1. Modern Review : Sept., 1934.
2. Ibid : Sept, 1935

स्थानों में से केवल ५१ स्थान वह प्राप्त कर सकी। समस्त देश में उनके निर्वाचित सदस्यों का अनुपात कुल का २२ प्रतिशत था। इससे प्रकट होता है कि मुस्लिम-लीग अभी मुसलमानों में भी उतनी लोकप्रिय नहीं हुई थी जितनी कि कांग्रेस हिन्दुओं में थी।

पद-ग्राह्यता—

चुनावों में सफलता प्राप्त करने के पश्चात् कांग्रेस के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि पद-ग्रहण किये जायँ अथवा नहीं। इसके सदस्यों में राज्य के उत्तरदायित्व को अधिक से अधिक हाथ में लेने की आकांक्षा बढ़ती जा रही थी। २१ फरवरी सन् १९३७ को लखनऊ जिला कांग्रेस कमेटी ने पद-ग्रहण के पक्ष में अपनी सम्मति प्रस्तुत की। २७ फरवरी को इस विषय पर विचार करने के लिये अखिल भारतीय कांग्रेस की वर्धा में बैठक हुई। परन्तु सदस्यों में मतभेद होने के कारण इसका निर्णय नहीं हो सका। श्री राज-गोपालाचार्य, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद तथा सरदार पटेल का विचार था कि बहुमत का अधिक से अधिक लाभ उठाने तथा कांग्रेस की स्थिति को दृढ़ बनाने के लिये पद-ग्रहण करना आवश्यक है। परन्तु सुभाषचन्द्र बोस, पण्डित जवाहरलाल नेहरू आदि नवयुवक नेता इसके विपक्ष में थे क्योंकि उनको इस प्रकार देश के क्रान्तिकारी उत्साह के भंग हो जाने की आशंका थी। अन्त में, १८ मार्च को देहली की बैठक में कमेटी ने यह प्रस्ताव पास किया कि जिन प्रान्तों में कांग्रेस ने बहुमत प्राप्त किया है वहाँ उसके सदस्य पद-ग्रहण करलें परन्तु उससे पूर्व वे स्थानीय धारासभाओं के कांग्रेसी दलों के नेताओं की सम्मति ले लें और सार्वजनिक रूप से यह घोषणा करें कि गवर्नर अपनी विशेष शक्तियों का हस्तक्षेप के लिये प्रयोग न करेंगे तथा मन्त्रियों द्वारा किये गये परामर्श को नहीं ठुकरायेंगे।[1] मद्रास, बम्बई, उत्तर-प्रदेश, बिहार, मध्य-प्रदेश तथा उड़ीसा आदि बहुमत वाले प्रान्तों में गवर्नरों ने कांग्रेस के नेताओं को मन्त्रिमंडल बनाने के लिये आमन्त्रित किया। परन्तु अपनी विशेष शक्तियों का उपयोग न करने के लिये उन्होंने कोई आश्वासन नहीं दिया। उनका कहना था कि अधिनियम द्वारा दी गई शक्तियों का परित्याग करने की शक्ति उन्हें नहीं मिली थी अतः विधान में संशोधन द्वारा ही ऐसा संभव था। इस पर कांग्रेस के नेताओं ने उन स्थानों पर मंत्रि-मंडल बनाना अस्वीकार कर दिया। शीघ्र ही भारत-राजमंत्री लार्ड जैटलैंड (Lord Zetland) तथा उप-राजमन्त्री आर. ए. बटलर ने अपने वक्तव्य प्रकाशित किये परन्तु उनसे कांग्रेस सन्तुष्ट नहीं

1, Indian Review, August, 1937

हुई। तत्पश्चात् वाइसराय एवं प्रधान-मन्त्री की परिवर्तित घोषणा के फलस्वरूप गाधीजी के नेतृत्व में काग्रेस की कार्यसमिति (Working Committee) की बैठक वर्धा में हुई और उसमें यह विश्वास प्रकट किया गया कि तात्कालिक परिस्थितियों के बीच गवर्नरों के लिये अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग सरल नहीं है। अतः ७ जुलाई को एक प्रस्ताव पास हुआ जिसके अनुसार काग्रेस-जनों को पदग्रहण करने की अनुमति दे दी गई।

कांग्रेस मन्त्रिमण्डल—

वर्धा के इस निर्णय के पश्चात् विभिन्न प्रान्तों में मन्त्रि-मण्डल बनना आरम्भ हो गये। ६ जुलाई सन् १९३७ को डॉ० एन० बी० खरे ने मध्यप्रदेश में काग्रेस का प्रथम मन्त्रिमण्डल बनाया। १५ जुलाई को श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने मद्रास में नया मन्त्रिमण्डल बनाया। बिहार में श्रीकृष्ण सिन्हा, बम्बई में श्री बी०जी० खेर, उत्तर प्रदेश में श्री गोविन्द वल्लभ पन्त तथा उड़ीसा में श्री विश्वनाथ दास द्वारा मन्त्रिमण्डल बनाए गए।[1] इसके पश्चात् उत्तर पश्चिमीय सीमाप्रान्त में भी नई सरकार बन गई और आसाम तथा सिन्ध में सयुक्त मन्त्रिमण्डल (coalition ministries) कार्य करने लगे।

जुलाई सन् १९३७ से लेकर अक्टूबर सन् १९३७ तक काग्रेस-मन्त्रि-मण्डलों ने कार्य किया।[2] इस अल्पकाल को काग्रेसी नेताओं की प्रशासन-योग्यता का परीक्षण करने का आधार बनाना उचित नहीं है क्योंकि आरम्भ में जिन कठिनाइयों का उनको सामना करना पड़ा उन्हें सुलझाना सुगम नहीं था। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि समस्याओं की जटिलता की दृष्टि से उनका कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण था। प्रथम तो, उन्हें बड़े-बड़े प्रान्तों पर शासन करने का पूर्वकाल में कोई अवसर प्राप्त प्राप्त नहीं हुआ था, अतः वे उसका भार सम्भालने में अनभिज्ञ थे। डॉ० पट्टाभि सितारामैय्या ने ठीक ही कहा है कि काग्रेसजनों को विभिन्न प्रकार के राज्यकार्यों का अनुभव था परन्तु इससे पहले उन्होंने ऐसे प्रान्तों पर राज्य नहीं किया था जिनकी जनसख्या इङ्गलैंड के बराबर हो।[3] उनके सामने दूसरी समस्या यह थी कि विभिन्न विभागों के उच्च-पदाधिकारी तथा सेक्रेटरी आदि भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य होने के नाते उनसे घृणा का व्यवहार करते थे। उनकी दशा हिन्दू

1. Indian Review, August, 1937
2. Indian Politics (1936-42)
3. Dr Pattabhi Sitaramayya : The History of the Indian National Congress
4. Ibid

गृह में उस नव-वधू के समान थी जिसे न केवल अपने पति को बल्कि उसके सगे-सम्बन्धियों को भी सतुष्ट रखने का प्रयत्न करना पड़ता है।[4] इसके साथ-साथ जनता को भी काग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनाने के समय से अनेकों आशाएँ हो गई थीं। कृषक, श्रमिक, हरिजन और निर्धन सभी यह सोचते थे कि उनकी स्थिति शीघ्र ही सुधर जायेगी। समाजवादी तथा साम्यवादी दल कृषकों के विद्रोहों को प्रोत्साहन दे रहे थे। ऐसी परिस्थिति में देश के निर्धन वर्गों के लिये शीघ्र ही हितकारी कार्यों के न करने पर काग्रेस की लोकप्रियता के कम होने की सभावना थी। इसके अतिरिक्त यह भी एक समस्या थी कि किस प्रकार सभी प्रान्तों में एक ही प्रकार की नीति अपनाने का प्रयत्न किया जाये। इस कठिनाई को दूर करने के लिये सरदार पटेल, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद और मौलाना अबुल कलाम आजाद की एक उपसमिति बनाई गई और उसको विभिन्न प्रान्तों की नीति में साम्य स्थापित रखने का कार्य सौंप दिया गया।

राजनीतिक बन्दियों को मुक्त कराने का कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण था और चुनाव के घोषणा-पत्र में इसकी प्रतिज्ञा भी की गई थी। २० जुलाई सन् १६३७ को मद्रास के मत्रि-मण्डल ने यूसुफ मेहरअली की सजा को माफ करके उनको छोड़ दिया। अन्य प्रान्तों में भी सन् १६३८ के फरवरी मास तक लगभग सभी बन्दियों को मुक्त कर दिया गया। परन्तु उत्तर-प्रदेश एव विहार में कुछ बन्दियों को मुक्त करने की आज्ञा पर गवर्नरों ने अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग किया। फलस्वरूप १६ फरवरी तक दोनों प्रान्तों के मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये।[1] सौभाग्यवश, शीघ्र ही सद्बुद्धि का उदय हुआ और वाइसराय ने २२ फरवरी को गवर्नरों की भूल को स्वीकार करते हुए एक सन्तोषजनक वक्तव्य निकाला। समझौते की बातचीत आरम्भ होगई और दोनों प्रान्तों के गवर्नरों एव प्रधान-मन्त्रियों के बीच समझौता हुआ जिसके अनुसार राजनीतिक बन्दियों को छोड़ने की माँग स्वीकृत हुई और मन्त्री लोग फिर अपने पदों पर वापिस आगए।[2] यह काग्रेस की अपूर्व विजय थी। बगाल और पजाब के मन्त्रिमण्डलों ने बन्दियों को छोड़ने के लिये कोई कदम नहीं उठाया। इस पर महात्मा गान्धी ने स्वय बगाल की सरकार से आग्रह किया और वहाँ पर भी अनेकों राजनीतिक बदी मुक्त कर दिये गए।[3]

---

1 Indian National Congress Repoit of the General Secretary March, 1931—February—1939
2 Ibid March 1939—Feb, 1940
3 Ibid March 1938—Feb, 1939,

कांग्रेस के मन्त्रित्व काल में नागरिकता के अधिकारों की रक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया। लेखन एव भाषण की स्वतन्त्रता प्रदान की गई। बम्बई की सरकार ने एक ऐसा नियम बनाया जिसके अनुसार वहाँ की जनता को सविनय अवज्ञा आन्दोलन के काल में सरकार द्वारा छीनी गई सम्पति को खरीदकर वापिस लेने का अधिकार मिल गया। विहार में लगभग ७२ पुस्तकों के प्रकाशन पर से रोक उठाली गई और प्रेस को स्वतन्त्र बना दिया गया। उत्तर-पश्चिमीय सीमा प्रान्त में भी लेखन तथा भाषण की स्वतन्त्रता दे दी गई। उत्तर-प्रदेश में अनेकों पुस्तकों एवं संस्थाओं पर से प्रतिबन्ध हटा दिये गये और सरकार द्वारा छीनी हुई सम्पत्ति लौटाने की व्यवस्था की गई। बिहार और उडीसा में भी इसी प्रकार के जनोपयोगी कार्य किये गये।[1] इनके अतिरिक्त शिक्षा, चिकित्सा, एव स्थानीय स्वराज्य में भी प्रगति हुई। मादक-वस्तुओं का पूर्णतः निषेध करने का प्रयत्न किया गया। श्रमिकों एव कृषकों की हीन दशा को सुधारने में भू-राजस्व नीति में सुधार किये गए और सन् १६२६ में भारतीय भूमि-अधिकार नियम (Indian Tenancy Act) पास हुआ। हरिजनों की दशा सुधारने के लिये उनपर से कुछ प्रतिबन्ध हटा दिये गए और कुछ प्रान्तों में जेलों की कार्य-प्रणाली मे भी सुधार हुए।

कांग्रेस के समक्ष उपर्युक्त कठिनाइयों एव कार्य विधि की न्यूनता को ध्यान में रखते हुए तो उसका यह सब कार्य सराहनीय था। यह किसी वर्ग या जाति विशेष के हितों के लिये सीमित नहीं था अपितु इसमें समस्त देश की भलाई का प्रयत्न किया गया था। केवल बम्बई में ही कांग्रेस के तीन प्रयत्नों—निषेध, श्रम-सुधार एवं भू-नियम से जनता को लगभग ७ करोड़ रुपयों का लाभ हुआ।[2] विभिन्न प्रान्तों के तात्कालीन आँकड़ों से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों के प्रयत्नों से देश को बड़ा लाभ हुआ। साम्प्रदायिक झगड़ों एव कृषकों तथा श्रमिकों के असन्तोष के कारण उत्पन्न कानून एव व्यवस्था की अस्त-व्यस्तता के स्थान पर शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना की गई। कांग्रेसी नेताओं ने यह दिखा दिया कि वे केवल आलोचक ही नहीं हैं अपितु उनमें प्रशासन की योग्यता भी है।

मुस्लिम लीग का विरोध—

परन्तु मुस्लिम लीग ने कांग्रेस के कार्यों की निन्दा की। कारण कि कांग्रेस ने अपने बहुमत वाले प्रान्तों में लीग के साथ गठबन्धन कर संयुक्त

1 Indian National Congress Report of the General Secretary, March, 1938 Feb, 1939.

2 Indian National Congress Report of the General Secretary, March, 1939—February, 1940.

मुसलमानों ने काग्रेस के विरुद्ध अनेकों झूठी-सच्ची कहानियाँ (Bull and Cock Stories) लिख डालीं। लीग के दिसम्बर सन् १६३८ के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर सभापतित्व के भाषण में जिन्ना ने वर्धा शिक्षा योजना एव विद्या-मदिर विद्या योजना की तीव्र आलोचना की और कहा कि गाधीजी ने काग्रेस के कुछ आदर्शों को गिरा दिया है और उसे भारतीय सस्कृति के पुनरुत्थान के उद्देश्य द्वारा एक साम्प्रदायिकतावादी सस्था का रूप दे दिया है।[1] सिन्ध मुस्लिम लीग सम्मेलन के अवसर पर उन्होंने कहा कि काग्रेस लीग पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहती है। लीग द्वारा कॉग्रेस को निन्दित करने के उपाय किस प्रकार के थे यह इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। एक बलवे के सम्बन्ध में यह कहा गया कि लगभग ४०० हिन्दू व्यक्तियों ने, जो लाठी, तलवार, भाले तथा अन्य अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थे, "महात्मा गाधी की जय" के नारे लगाते हुए, अचानक ही मुसलमानों की दुकानों पर आक्रमण किया और उनका माल इत्यादि लूट कर ले गये और काग्रेस के प्रतिष्ठित नेता भी इस लूट-मार में सम्मिलित थे। पाठक ऐसी अफवाहों की सत्यता का अनुमान स्वय लगा सकते हैं।[2]

लीग द्वारा काग्रेस पर लगाये गये आरोपों, उसके विरुद्ध फैलाई गई अफवाहों का अधिक वर्णन करना अथवा उनका स्पष्टीकरण करना आवश्यक नहीं है क्योंकि वे सब मिथ्या थे। मुसलमानों में काग्रेस विरोधी भावनाओं को उत्तेजित करने एव उनकी शक्ति को केन्द्रीभूत बनाने के उद्देश्य से ही इन उपायों का प्रयोग किया गया था। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने लीग की शिकायतों के सम्बन्ध मे जजों द्वारा निष्पक्ष जाँच कराने का सुझाव दिया परन्तु उसने मना कर दिया।[3] इससे स्पष्ट है कि लीग के सभी आरोप झूठे थे।

---

1 The Indian Annual Register, July—December, 1938
2 It Shall Never Happen Again Department of Publicity & Information, All India Muslim League
3 Author's own book— The Muslim League, its History, Activities & Achievements

अध्याय १६

मुस्लिम लीग और पाकिस्तान आन्दोलन

लाहौर अधिवेशन—

पाकिस्तान का प्रस्ताव लीग के मार्च सन् १६४० के लाहौर अधिवेशन में पास हुआ। यह इसके पास होने के लिये उपयुक्त अवसर था। वास्तव में इससे पहिले अथवा इसके बाद में यह प्रस्ताव पास नहीं हो सकता था। कांग्रेसी मत्रीमडलों के कार्य-काल (१६३७-३६) में लीग ने इस सस्था की जो तीव्र और निराधार आलोचना की थी वह अब अपनी चरम सीमा पर थी। सन् १६३७ के चुनावों में लीग ने अपनी शक्ति की जॉच कर ली थी और उस समय की अपेक्षा अब लीग की शक्तियाँ अधिक सङ्गठित हो गई थीं। पजाब के सर सिकन्दर हयात खॉ ने, बंगाल के श्री फज्ल-उल-हक ने तथा आसाम के सर मुहम्मद सादुल्ला ने यह घोषणा की (सन् १६३७) कि वे अपने दल के सदस्यों को लीग में सम्मिलित होने का आदेश देंगे और इन मुस्लिम प्रधान मन्त्रियों के इस रुख ने मुस्लिम लीग में नई जान डाल दी।[1] इसके पश्चात् श्री जिन्ना तथा लीग के सदस्यों ने कॉंग्रेस को बदनाम करने का भरसक प्रयत्न किया, उस पर बड़े विचित्र आरोप लगाए। यद्यपि ये सब आरोप बाद में निराधार सिद्ध हो गए तथापि इनसे मुसलमान जनता को सफलतापूर्वक धोखा दिया जा सका। मुस्लिम नेताओं के सहयोग एवं काग्रेस के विरुद्ध विरोध के कारण सन् १६४० में श्री जिन्ना को अपनी स्थिति बड़ी शक्तिशाली महसूस हुई और उन्होंने लाहौर अधिवेशन में पाकिस्तान के प्रस्ताव को पास कराया।

पाकिस्तान एवं इकबाल—

परन्तु पाकिस्तान के विचार को जन्म देने का श्रेय केवल श्री जिन्ना को ही नहीं है। यह तो सर सैयद से लेकर नवाब मोहिसन-उल-मुल्क, नवाब

1 R. Coupland : Indian Politics, 1936-42.

मुसलमानों ने कांग्रेस के विरुद्ध अनेकों झूठी-सच्ची कहानियाँ (Bull and Cook Stories) लिख डालीं। लीग के दिसम्बर सन् १६३८ के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर सभापतित्व के भाषण में जिन्ना ने वर्धा शिक्षा योजना एवं विद्या-मंदिर विद्या योजना की तीव्र आलोचना की और कहा कि गांधीजी ने कांग्रेस के कुछ आदर्शों को गिरा दिया है और उसे भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान के उद्देश्य द्वारा एक साम्प्रदायिकतावादी संस्था का रूप दे दिया है।[1] सिन्ध मुस्लिम लीग सम्मेलन के अवसर पर उन्होंने कहा कि कांग्रेस लीग पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहती है। लीग द्वारा कॉंग्रेस को निन्दित करने के उपाय किस प्रकार के थे यह इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। एक बलवे के सम्बन्ध में यह कहा गया कि लगभग ४०० हिन्दू व्यक्तियों ने, जो लाठी, तलवार, भाले तथा अन्य अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थे, "महात्मा गांधी की जय" के नारे लगाते हुए, अचानक ही मुसलमानों की दुकानों पर आक्रमण किया और उनका माल इत्यादि लूट कर ले गये और कांग्रेस के प्रतिष्ठित नेता भी इस लूट-मार में सम्मिलित थे। पाठक ऐसी अफवाहों की सत्यता का अनुमान स्वयं लगा सकते हैं।[2]

लीग द्वारा कांग्रेस पर लगाये गये आरोपों, उसके विरुद्ध फैलाई गई अफवाहों का अधिक वर्णन करना अथवा उनका स्पष्टीकरण करना आवश्यक नहीं है क्योंकि वे सब मिथ्या थे। मुसलमानों में कांग्रेस विरोधी भावनाओं को उत्तेजित करने एवं उनकी शक्ति को केन्द्रीभूत बनाने के उद्देश्य से ही इन उपायों का प्रयोग किया गया था। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने लीग की शिकायतों के सम्बन्ध मे जजों द्वारा निष्पक्ष जाँच कराने का सुझाव दिया परन्तु उसने मना कर दिया।[3] इससे स्पष्ट है कि लीग के सभी आरोप झूठे थे।

---

1 The Indian Annual Register, July—December, 1938
2 It Shall Never Happen Again Department of Publicity & Information, All India Muslim League
3 Author's own book— The Muslim League, its History,

मुसलमानों के लिये एक निश्चित और पृथक् निवास-क्षेत्र के इच्छुक थे। सन् १९३० और १९३७ के बीच के काल में उनके विचारों में पर्याप्त दृढ़ता पैदा हो गई थी। उन्होंने श्री जिन्ना को लिखा कि मुसलमानों की गरीबी की समस्या इस्लाम धर्म पर आधारित एक नये राज्य के बनने से ही सुलझ सकती है—क्योंकि इस धर्म के नियमों को ठीक प्रकार से लागू करने पर प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-निर्वाह की सुविधाएँ प्राप्त करने का अधिकार मिल जायेगा।[1] इस सम्बन्ध में उन्होंने यह भी लिखा है कि यदि ऐसा नहीं होगा तो भारत में गृह-युद्ध छिड़ जायेगा जिसके लक्षण हिन्दू-मुस्लिम बलवों में दिखाई दे रहे हैं। उनका कहना था कि मुसलमानों के साथ अन्याय हुआ है क्योंकि उन्हे रहने के लिये देश का कोई अलग भाग नहीं दिया गया और ऐसी परिस्थिति में शाति एवं सुरक्षा के लिये भारत का जातीय, धार्मिक एव भावी आधारों पर पुनर्विभाजन आवश्यक है। वास्तव में उन पर अग्रेज राजनीतिज्ञों की छाप लगी हुई थी। स्वय उनके शब्दों से यह प्रकट होता है कि इग्लैंड से लौटते समय लॉर्ड लोथियन (Lord Lothian) ने उनकी पाकिस्तान की योजना की सराहना करते हुए कहा था कि यही भारतीय समस्याओं का एक मात्र सुगम उपाय है।[2] उनके १० नवम्बर सन् १९३७ को श्री जिन्ना को दिये गए गुप्त-पत्र से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि वे मुस्लिम लीग तथा पजाब के 'सघीय दल' को मिलाने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे और इस सम्बन्ध में उन्होंने सर सिकन्दर हयात खाँ से भी बातचीत की थी। इन सब विवरणों से यह प्रकट हो जाता है कि भारतीय मुसलमानों के भाग्य-निर्णय में सर मुहम्मद इकबाल का बड़ा हाथ था। श्री जैड ए. सुलेरी ने सत्य ही कहा है कि मुसलमान बुद्धिजीवियों को पाकिस्तान की माँग की प्रेरणा देने वाले इकबाल ही थे, और यदि कोई व्यक्ति मुसलमानों की तात्कालिक भावनाओं को जानना चाहता है तो उसे इकबाल के पत्रादि का अध्ययन करना चाहिये।[3]

पाकिस्तान की योजनाये—

पाकिस्तान के प्रस्ताव के पास होने से पहिले इसकी अनेकों योजनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। सन् १९३८ में नवाब मुहम्मद शाहनवाज खाँ ने 'ए पंजाबी' नामक पुस्तक लिखी और उसमें भारत के लिये एक प्रसंघि राज्य

1 Letters of Iqbal to Jinnah : Published by Sheikh Mohammad Ashraf.
2 Ibid
3 Z.A. Suleri The Road to Peace And Pakistan

विकार-उल-मुल्क, आगाखाँ, सर मुहम्मद इकबाल आदि मुसलमान नेताओं के पृथकत्व की नीति का ही एक स्वरूप था। सर सैयद अहमद खाँ ने मुसलमानों को सकुचित साम्प्रदायिकतावाद का पाठ पढाया और उनके साथियों तथा पश्चातगामी नेताओं ने इस उपदेश का भरसक प्रचार किया। इसी भावना से प्रेरित होकर आगाखाँ शिमला में लार्ड मिण्टो से प्रतिनिधि-मडल लेकर भेंट करने गए। यही भावना सर मुहम्मद इकबाल के दिसम्बर सन् १६३० में लीग के सभापतित्व-भाषण से प्रकट होती है जिसमें उन्होंने कहा कि धार्मिक दृष्टिकोण से विहीन राष्ट्रीय राजनीति में इस्लाम के आध्यात्मिक आदर्श की सुरक्षा असभव है। उनके इस भाषण के अध्ययन से पाठकों को यह विश्वास हो जायेगा कि वे भी अपने पूर्वजों की भाँति पूर्ण प्रतिक्रियावादी थे।[1] एक सच्चे मुसलमान होने के नाते वे यह नहीं सोच सकते थे कि धर्म और राज-नीति को पृथक् भी किया जा सकता है। उनका कहना था कि यदि राष्ट्रीयता के आधार पर ऐसे शासन की स्थापना की जाये जिसमें इस्लाम के सगठन की व्यवस्था न हो तो वह किसी भी मुसलमान को रुचिकर न होगा।[2] इस प्रकार पाकिस्तान के विचार को सर मुहम्मद इकबाल ने ही उत्पन्न किया। यद्यपि उन्होंने इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट योजना नहीं बनाई तथापि उनके ही विचार को व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञों ने बाद में अपने आग्रह का विषय बनाया। उन्होंने एक बार कहा कि मै पजाब, उत्तर-पश्चिमीय सीमा प्रान्त, सिन्ध तथा बिलोचिस्तान के सगठन द्वारा बना हुआ एक नया प्रान्त देखना चाहता हूँ, स्वशासन चाहे ब्रिटिश साम्राज्य मे मिले अथवा उससे बाहर होकर। उत्तर-पश्चिमीय भारत के मुसलमानों का एक पृथक राज्य में सगठन मुझे उनके भाग्य का अन्तिम निर्णय प्रतीत होता है।[3]

सर मुहम्मद इकबाल एक सुविख्यात कवि थे। उनकी साहित्यिक रचनाओं तथा भावनाओं के प्रदर्शन ने उन्हें बड़ा लोकप्रिय बना दिया था। देश के विभाजन के आन्दोलन को उनसे सयुक्त करना स गत प्रतीत नहीं होता। परन्तु वास्तविक सत्य यही है कि उन्होंने इस देश के विभाजन के लिए बड़ा प्रयत्न किया। भाग्यवश, सन् १६४३ में उनके श्री जिन्ना को लिखे गए पत्र प्रकाशित हो गए और उनके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे

1 Author's own book—The Muslim League its History, Activities & Achievements

2 Presidential Addresses-Allahabad Session 1930, Printed & Published by S Shamsul Hasan,

3 Ibid

मुसलमानों के लिये एक निश्चित और पृथक् निवास-क्षेत्र के इच्छुक थे। सन् १९३० और १९३७ के बीच के काल में उनके विचारों में पर्याप्त दृढता पैदा हो गई थी। उन्होंने श्री जिन्ना को लिखा कि मुसलमानों की गरीबी की समस्या इस्लाम धर्म पर आधारित एक नये राज्य के बनने से ही सुलझ सकती है—क्योंकि इस धर्म के नियमों को ठीक प्रकार से लागू करने पर प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-निर्वाह की सुविधाएँ प्राप्त करने का अधिकार मिल जायेगा।[1] इस सम्बन्ध में उन्होंने यह भी लिखा है कि यदि ऐसा नहीं होगा तो भारत में गृह-युद्ध छिड़ जायेगा जिसके लक्षण हिन्दू-मुस्लिम बलवों में दिखाई दे रहे है। उनका कहना था कि मुसलमानों के साथ अन्याय हुआ है क्योंकि उन्हें रहने के लिये देश का कोई अलग भाग नहीं दिया गया और ऐसी परिस्थिति में शाति एवं सुरक्षा के लिये भारत का जातीय, धार्मिक एव भावी आधारों पर पुनर्विभाजन आवश्यक है। वास्तव में उन पर अग्रेज राजनीतिज्ञों की छाप लगी हुई थी। स्वय उनके शब्दों से यह प्रकट होता है कि इग्लैंड से लौटते समय लॉर्ड लोथियन (Lord Lothian) ने उनकी पाकिस्तान की योजना की सराहना करते हुए कहा था कि यही भारतीय समस्याओं का एक मात्र सुगम उपाय है।[2] उनके १० नवम्बर सन् १९३७ को श्री जिन्ना को दिये गए गुप्त-पत्र से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि वे मुस्लिम लीग तथा पजाब के 'संघीय दल' को मिलाने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे और इस सम्बन्ध में उन्होंने सर सिकन्दर हयात खाँ से भी बातचीत की थी। इन सब विवरणों से यह प्रकट हो जाता है कि भारतीय मुसलमानों के भाग्य-निर्णय में सर मुहम्मद इकबाल का बड़ा हाथ था। श्री जैड ए. सुलेरी ने सत्य ही कहा है कि मुसलमान बुद्धिजीवियों को पाकिस्तान की माँग की प्रेरणा देने वाले इकबाल ही थे, और यदि कोई व्यक्ति मुसलमानों की तात्कालिक भावनाओं को जानना चाहता है तो उसे इकबाल के पत्रादि का अध्ययन करना चाहिये।[3]

पाकिस्तान की योजनायें—

पाकिस्तान के प्रस्ताव के पास होने से पहिले इसकी अनेकों योजनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। सन् १९३८ में नवाब मुहम्मद शाहनवाज खाँ ने 'ए पजाबी' नामक पुस्तक लिखी और उसमें भारत के लिये एक प्रसंघि राज्य

1 Letters of Iqbal to Jinnah Published by Sheikh Mohammad Ashraf.
2. Ibid
3. Z.A. Suleri The Road to Peace And Pakistan

(Confederacy of India) का प्रतिपादन किया ।[1] परन्तु इसमें पूर्ण स्वराज्य अथवा देश के विभाजन की व्याख्या नहीं की गई थी । इसके पश्चात् अलीगढ के दो अध्यापकों सैयद जफरुल हसन तथा मुहम्मद अफजल हुसैन कदरी ने देश को अनेकों स्वतन्त्र राज्यों में बाँटे जाने की योजना बनाई और उनमें पाकिस्तान, बंगाल तथा हिन्दुस्तान के बीच एक ऐसे समझौते का सुझाव दिया जिससे कि मुसलमानों को लाभ पहुँचे ।[2] सन् १६४० में चौधरी रहमतअली ने पाकिस्तान की योजनाओं सहित अनेकों पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं ।[3] उनकी राय यह थी कि पाकिस्तान, बंगिस्तान, तथा उस्मानिस्तान के अतिरिक्त हिन्दुओं के प्रदेश में सात अन्य मुस्लिम राष्ट्रों का निर्माण किया जाये जो सब एक सूत्र में बँधकर 'पाक राष्ट्रमंडल' (Pak Common-wealth) कहलायें । उन्होंने कहा कि भारत का नाम इण्डिया के स्थान पर इन्हीं अक्षरों से बना हुआ, दीनिया होना चाहिये और पाक राष्ट्र-मंडल भी पाकेशिया का एक भाग हो । हैदराबाद के उस्मानियाँ विश्वविद्यालय के भूतपूर्व अध्यापक डॉ० सैयद अब्दुल लतीफ ने इस सम्बन्ध में अपनी पत्रिकायें निकालीं ।[4] उनका सुझाव यह था कि मुसलमानों के लिये भारत को चार और हिन्दुओं के लिये कम से कम ग्यारह मंडलों में बाँटा जाना चाहिये ।[5] सर सैयद हयात खाँ ने भी अपनी पत्रिका "Outline of a Scheme of Indian Federation" प्रकाशित कर एक नई योजना प्रस्तावित करने में भाग लिया । वे भारत के सात टुकड़े देखने के इच्छुक थे । सर अब्दुल हारूँ कमेटी ने भी एक योजना बनाई जिसका आशय यह था कि मुसलमानों का एक राज्य उत्तर-पश्चिम में, दूसरा उत्तर-पूर्व में और तीसरा निजाम के राज्य में बनाया जाये । परन्तु श्री जिन्ना को पसन्द न आने के कारण यह योजना भी रद्द कर दी गई ।[6]

---

1 R Coupland Indian Politics 1936-1942
2 Dr Rajendra Prasad India Divided
3 The Millat of Islam, The Menace of Indianism, The Millat & Mission, The Continent of Dinia etc
4 The Cultural Future of India, A Federation of Cultural Zones for India The Muslim Problem in India,
5 Dr Rajendra Prasad India Divided
6 The Pakistan Issue Being the correspondence between Dr Sayyed Abdul Latif & Mr M A. Jinnah on the one hand and between him & Maulana Abul Kalam Azad, Dr Rajendra Prasad and Pandit Jawahar Lal Nehru on the other, and connected Papers on the Subject of Pakistan, edited by Nawab Dr Nazir Yar Zang, Bar-at-Law.

लाहौर प्रस्ताव

मुस्लिम जनता के इस वातावरण में पाकिस्तान का प्रस्ताव पास होना स्वाभाविक था। मार्च सन १९४० में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का अधिवेशन लाहौर में हुआ और जिन्ना ने सभापति-भाषण में मुसलमानों के लिये पृथक राज्य बनाने के सम्बन्ध में तर्क प्रस्तुत किये। उन्होंने अपने प्रस्ताव में प्रकट किया कि सन् १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की संघ की योजना देश के लिये अनुचित है और भारतीय मुसलमानों को स्वीकार नहीं है। यह माँग की गई कि सरकार भारत के सभी दलों, वर्गों एव जातियों के परामर्श से सभी वैधानिक योजना पर फिर से विचार करे और एक नई योजना बनायें जो मुसलमानों को भी मान्य हो सके। जिन्ना ने इस बात पर जोर दिया कि भारत में वही वैधानिक योजना कार्य कर सकती है जिसमें भौगोलिक दशाओं के आधार पर देश का विभिन्न प्रदेशों में विभाजन हो और जिसके अनुसार मुसलमान उत्तर-पश्चिम तथा पूर्वी भारत में स्वतन्त्र राज्य कायम कर सकें।[1]

इस प्रस्ताव को २३ मार्च सन १९४० को श्री फज्लुल हक ने प्रस्तुत किया। चौधरी खलीकउज्जमा के अनुमोदन के पश्चात् अनेकों उपस्थित प्रतिनिधियों ने इसका समर्थन किया जिनमें केन्द्रीय धारा सभा के सदस्य जफरअलीखा भी थे।[2] यह प्रस्ताव अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे लीग के तात्कालिक उद्देश्य और लक्ष्य भली भाति प्रकट हो जाते हैं। यद्यपि सन् १९४० तक लीग काग्रेस का विरोध करती आ रही थी परन्तु किसी को उसके अन्तिम उद्देश्य का ज्ञान नहीं था। इस प्रस्ताव से यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया और अब इसमें कोई सन्देह नहीं रहा गया कि लीग मुसलमानों के लिये एक अलग राज्य चाहती है। डॉ० अम्बेडकर का कथन सत्य है कि मुसलमानों की पाकिस्तान की यह माँग राजनीतिक व्यवस्था का परिणाम नहीं थी और यह आशा करना भी व्यर्थ था कि वह समय के व्यतीत होने पर समाप्त हो जायगी।[3] लीग ने इससे पहिले भी अनेकों बार मुसलमानों के हितों में माँगें प्रस्तुत की थीं परन्तु उनसे लोगों का अनुमान यही था कि पृथक् निर्वाचन क्षेत्र, सीटों के आरक्षण आदि से वह पृथकत्व की नीति का पालन करना

1 El Hamza : Pakistan A Nation.
2 The Indian Annual Register Jan—June, 1940.
3 B. R Ambedkar Thoughts on Pakistan.

(Confederacy of India) का प्रतिपादन किया।[1] परन्तु इसमें पूर्ण स्वराज्य अथवा देश के विभाजन की व्याख्या नहीं की गई थी। इसके पश्चात् अलीगढ़ के दो अध्यापकों सैयद जफरुल हसन तथा मुहम्मद अफजल हुसैन कदरी ने देश को अनेकों स्वतन्त्र राज्यों में बाँटे जाने की योजना बनाई और उनमें पाकिस्तान, बंगाल तथा हिन्दुस्तान के बीच एक ऐसे समझौते का सुझाव दिया जिससे कि मुसलमानों को लाभ पहुँचे।[2] सन् १९४० में चौधरी रहमतअली ने पाकिस्तान की योजनाओं सहित अनेकों पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं।[3] उनकी राय यह थी कि पाकिस्तान, बंगिस्तान, तथा उस्मानिस्तान के अतिरिक्त हिन्दुओं के प्रदेश में सात अन्य मुस्लिम राष्ट्रों का निर्माण किया जाये जो सब एक सूत्र में बँधकर 'पाक राष्ट्रमंडल' (Pak Common-wealth) कहलायें। उन्होंने कहा कि भारत का नाम इण्डिया के स्थान पर इन्हीं अक्षरों से बना हुआ, दीनिया होना चाहिये और पाक राष्ट्र-मंडल भी पाकेशिया का एक भाग हो। हैदराबाद के उस्मानियाँ विश्वविद्यालय के भूतपूर्व अध्यापक डॉ० सैयद अब्दुल लतीफ ने इस सम्बन्ध में अपनी पत्रिकायें निकालीं।[4] उनका सुझाव यह था कि मुसलमानों के लिये भारत को चार और हिन्दुओं के लिये कम से कम ग्यारह मंडलों में बाँटा जाना चाहिये।[5] सर सैयद हयात खाँ ने भी अपनी पत्रिका "Outline of a Scheme of Indian Federation" प्रकाशित कर एक नई योजना प्रस्तावित करने में भाग लिया। वे भारत के सात टुकड़े देखने के इच्छुक थे। सर अब्दुल हारूँ कमेटी ने भी एक योजना बनाई जिसका आशय यह था कि मुसलमानों का एक राज्य उत्तर-पश्चिम में, दूसरा उत्तर-पूर्व में और तीसरा निजाम के राज्य में बनाया जाये। परन्तु श्री जिन्ना को पसन्द न आने के कारण यह योजना भी रद्द कर दी गई।[6]

---

1. R Coupland Indian Politics 1936–1942
2. Dr Rajendra Prasad India Divided.
3. The Millat of Islam, The Menace of Indianism, The Millat & Mission, The Continent of Dinia etc
4. The Cultural Future of India, A Federation of Cultural Zones for India The Muslim Problem in India,
5. Dr Rajendra Prasad India Divided.
6. The Pakistan Issue Being the correspondence between Dr Sayyed Abdul Latif & Mr M A. Jinnah on the one hand and between him & Maulana Abul Kalam Azad, Dr Rajendra Prasad and Pandit Jawahar Lal Nehru on the other, and connected Papers on the Subject of Pakistan, edited by Nawab Dr Nazir Yar Zang, Bar-at-Law.

लाहौर प्रस्ताव

मुस्लिम जनता के इस वातावरण में पाकिस्तान का प्रस्ताव पास होना स्वाभाविक था। मार्च सन १९४० में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का अधिवेशन लाहौर में हुआ और जिन्ना ने सभापति-भाषण में मुसलमानों के लिये पृथक राज्य बनाने के सम्बन्ध में तर्क प्रस्तुत किये। उन्होंने अपने प्रस्ताव में प्रकट किया कि सन् १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की संघ की योजना देश के लिये अनुचित है और भारतीय मुसलमानों को स्वीकार नहीं है। यह माँग की गई कि सरकार भारत के सभी दलों, वर्गों एव जातियों के परामर्श से सभी वैधानिक योजना पर फिर से विचार करे और एक नई योजना बनायें जो मुसलमानों को भी मान्य हो सके। जिन्ना ने इस बात पर जोर दिया कि भारत में वही वैधानिक योजना कार्य कर सकती है जिसमें भौगोलिक दशाओं के आधार पर देश का विभिन्न प्रदेशों में विभाजन हो और जिसके अनुसार मुसलमान उत्तर-पश्चिम तथा पूर्वी भारत में स्वतन्त्र राज्य कायम कर सकें।[1]

इस प्रस्ताव को २३ मार्च सन १९४० को श्री फज्लुल हक ने प्रस्तुत किया। चौधरी खलीकउज्जमा के अनुमोदन के पश्चात् अनेकों उपस्थित प्रतिनिधियों ने इसका समर्थन किया जिनमें केन्द्रीय धारा सभा के सदस्य जफरअलीखा भी थे।[2] यह प्रस्ताव अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे लीग के तात्कालिक उद्देश्य और लक्ष्य भली भाति प्रकट हो जाते हैं। यद्यपि सन् १९४० तक लीग कांग्रेस का विरोध करती आ रही थी परन्तु किसी को उसके अन्तिम उद्देश्य का ज्ञान नहीं था। इस प्रस्ताव से यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया और अब इसमें कोई सन्देह नहीं रहा गया कि लीग मुसलमानों के लिये एक अलग राज्य चाहती है। डॉ० अम्बेडकर का कथन सत्य है कि मुसलमानों की पाकिस्तान की यह माँग राजनीतिक व्यवस्था का परिणाम नहीं थी और यह आशा करना भी व्यर्थ था कि वह समय के व्यतीत होने पर समाप्त हो जायगी।[3] लीग ने इससे पहिले भी अनेकों बार मुसलमानों के हितों में माँगे प्रस्तुत की थीं परन्तु उनसे लोगों का अनुमान यही था कि पृथक् निर्वाचन क्षेत्र, सीटों के आरक्षण आदि से वह पृथकत्व की नीति का पालन करना

1 El Hamza : Pakistan A Nation
2 The Indian Annual Register Jan—June, 1940.
3 B. R Ambedkar · Thoughts on Pakistan.

(Confederacy of India) का प्रतिपादन किया।[1] परन्तु इसमें पूर्ण स्वराज्य अथवा देश के विभाजन की व्याख्या नहीं की गई थी। इसके पश्चात् अलीगढ़ के दो अध्यापकों सैयद जफरुल हसन तथा मुहम्मद अफजल हुसैन कदरी ने देश को अनेकों स्वतन्त्र राज्यों में बाँटे जाने की योजना बनाई और उनमें पाकिस्तान, बंगाल तथा हिन्दुस्तान के बीच एक ऐसे समझौते का सुझाव दिया जिससे कि मुसलमानों को लाभ पहुँचे।[2] सन् १६४० में चौधरी रहमतअली ने पाकिस्तान की योजनाओं सहित अनेकों पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं।[3] उनकी राय यह थी कि पाकिस्तान, बंगिस्तान, तथा उस्मानिस्तान के अतिरिक्त हिन्दुओं के प्रदेश में सात अन्य मुस्लिम राष्ट्रों का निर्माण किया जाये जो सब एक सूत्र में बँधकर 'पाक राष्ट्रमंडल' (Pak Common-wealth) कहलायें। उन्होंने कहा कि भारत का नाम इण्डिया के स्थान पर इन्हीं अक्षरों से बना हुआ, दीनिया होना चाहिये और पाक राष्ट्र-मंडल भी पाकेशिया का एक भाग हो। हैदराबाद के उस्मानियाँ विश्वविद्यालय के भूतपूर्व अध्यापक डॉ० सैयद अब्दुल लतीफ ने इस सम्बन्ध में अपनी पत्रिकायें निकालीं।[4] उनका सुझाव यह था कि मुसलमानों के लिये भारत को चार और हिन्दुओं के लिये कम से कम ग्यारह मंडलों में बाँटा जाना चाहिये।[5] सर सैयद हयात खाँ ने भी अपनी पत्रिका "Outline of a Scheme of Indian Federation" प्रकाशित कर एक नई योजना प्रस्तावित करने में भाग लिया। वे भारत के सात टुकड़े देखने के इच्छुक थे। सर अब्दुल हारूँ कमेटी ने भी एक योजना बनाई जिसका आशय यह था कि मुसलमानों का एक राज्य उत्तर-पश्चिम में, दूसरा उत्तर-पूर्व में और तीसरा निजाम के राज्य में बनाया जाये। परन्तु श्री जिन्ना को पसन्द न आने के कारण यह योजना भी रद्द कर दी गई।[6]

---

1. B Coupland Indian Politics 1936–1942
2. Dr Rajendra Prasad India Divided.
3. The Millat of Islam, The Menace of Indianism, The Millat & Mission, The Continent of Dinia etc
4. The Cultural Future of India, A Federation of Cultural Zones for India The Muslim Problem in India,
5. Dr Rajendra Prasad India Divided
6. The Pakistan Issue Being the correspondence between Dr Sayyed Abdul Latif & Mr M A. Jinnah on the one hand and between him & Maulana Abul Kalam Azad, Dr Rajendra Prasad and Pandit Jawahar Lal Nehru on the other, and connected Papers on the Subject of Pakistan, edited by Nawab Dr Nazir Yar Zang, Bar-at-Law.

दी गई। यह स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया गया कि मुसलमानी बहुमत वाले प्रदेशों को स्वतन्त्र राज्यों में सगठित करना आवश्यक है। परन्तु स्वतन्त्र राज्यों का भावी स्वरूप क्या होगा, इसका वर्णन नहीं किया गया। अन्त में मुसलमानों की अल्पसख्या वाले प्रदेशों में उचित, प्रभावपूर्ण और आदेशात्मक (Mandatory) अभिरक्षणों की माँग की गई और लीग ने यह स्वीकार किया कि वह स्वय मुसलमानों के क्षेत्र में अल्प-सख्यकों को उसी प्रकार के अधिकार प्रदान करेगी। इस प्रकार स्वतन्त्र राज्यों के निर्माण के साथ-साथ अभिरक्षणों की माँग सयुक्त कर प्रस्ताव को गडबड बना दिया गया।

परिणाम

पाकिस्तान के विचार का मुसलमान जनता में प्रचार किस प्रकार हुआ, इसका पता स्वय जिन्ना के भाषणों में लगता है। कांग्रेस के विरोध के सहारे मुस्लिम नेताओं ने अपने सहधर्मियों में एक अलग निवास-क्षेत्र की माँग को प्रोत्साहित किया। उदाहरणार्थ, जिन्ना ने सन् १६४० के सभापति-भाषण में कहा कि जनवरी सन् १६३६ से युद्ध की घोषणा के काल तक हमें अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, हमारे सामने नागपुर की विद्या-मन्दिर की योजना आई। हमें समस्त भारत में वर्धा-शिक्षा-योजना के लागू होने का भय हुआ और कांग्रेस द्वारा शासित प्रान्तों में हम पर अत्याचार किये गए।[1] उन्होंने यह भी कहा कि कांग्रेस के ढाई वर्ष के शासन-काल से हमने अनेकों शिक्षायें ग्रहण की हैं। अन्य नेताओं ने भी कांग्रेस को हर तरह से बुरा बतलाने का प्रयत्न किया क्योंकि इसी आधार पर मुसलमान देश के विभाजन की माँग कर सकते थे। यह कांग्रेस-विरोधी प्रचार नया नहीं था बल्कि प्रान्तों में इस सस्था के मन्त्रिमण्डल बनने के समय से ही इसकी आलोचना शुरू कर दी गई थी। अल हमजा ने बार-बार अपने लेखों में कांग्रेस तथा महात्मा गाधी की बुराइयाँ कीं; कांग्रेस के प्रशासन को 'बनिया गवर्नमेण्ट' का शीर्षक दिया और गाधीजी के नेतृत्व को तानाशाही बतलाया।[2] उन्होंने यह भी कहा कि वर्धा के पाखण्डियों ने अपनी योजना द्वारा साम्प्रदायिक द्वेष-भाव को बढा कर भारत की सास्कृतिक और जातीय एकता पर आघात किया है; और बनिया राजनीतिज्ञों ने अपनी मक्कारियों तथा युक्तियों द्वारा, ससार की अच्छी जातियों में गिने जाने वाले, हिन्दू, मुसलमान तथा सिक्खों में झगड़े उत्पन्न कर दिये हैं। जातीय पागलपन में कहे गये ये शब्द सर्वथा निन्दनीय हैं। नवाबजादा

1. Ibid
2 El, Hamza Pakistan, A Nation

चाहती है। इतने कदम आगे बढकर लीग यह प्रस्ताव पास करेगी इसकी देश की सामान्य जनता को आशा न थी। अत. श्री जिन्ना के इस प्रस्ताव की बड़ी आलोचना हुई। स्वय कुछ मुसलमान महानुभावों न इसका विरोध किया। विशेषकर सर गुलामहुसैन तथा खान बहादुर अल्लाबक्स ने विभाजन की इस योजना को देश के लिये अहितकर बताया। परन्तु यह सब आलोचनाएँ इस प्रस्ताव के पास होने के बाद में की गई, इससे पहिले नहीं। इनसे श्री जिन्ना के रुख मे कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ और वह पूर्ववत् दृढ बने रहे। यह प्रस्ताव उनकी व्यक्तिगत विषय का सूचक था और इसके पश्चात् लीग तथा मुस्लिम जाति पर उनका प्रभाव और भी अधिक बढ गया। ससार के द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ से ही सरकार ने अस्वदेश भक्त लीग पर अधिक विश्वास करना आरम्भ कर दिया था। इसकी घोषणा के पश्चात्, वाइसराय द्वारा सहायता की माँग करने पर ही श्री जिन्ना को यह अनुभव हुआ कि लीग एक शक्तिशाली सस्था है क्योंकि इससे पहिले तो महात्मा गाधी को ही सहायता लेने के लिये आमन्त्रित किया जाता था और उनकी ओर ध्यान भी नहीं दिया जाता था।[1]

पाकिस्तान के इस प्रस्ताव द्वारा सघ की योजना को अस्वीकार करते हुए, लीग ने अपने पिछले प्रस्तावों को भी रद्द नहीं किया। इसने यह घोषणा की कि केन्द्र मे सघ राज्य की स्थापना मुसलमानों को तनिक भी मान्य नहीं है। अब प्रश्न यह उटता है कि लीग ने सघ-राज्य की स्थापना का विरोध क्यों किया, जब कि इसके प्रमुख नेताओं ने गोलमेल परिषदों में इसके लिये स्वीकृति दे दी थी। कारण यह है, यदि वे सघ की योजना को स्वीकार कर लेते तो उनके स्वतन्त्र राज्य की माँग और पाकिस्तान का प्रस्ताव निरर्थक हो जाता और सघ शासन की स्थापना में मुसलमानों का अस्तित्व नहीं रह सकता था। दूसरे, वाइसराय की १८ अक्टूबर सन् १६३६ की इस घोषणा ने कि सन् १६३५ की वैधानिक योजना पर फिर से विचार किया जायगा लीग को अपनी उपर्युक्त माँगों को प्रस्तुत करने के लिये प्रोत्साहित किया। यदि यह घोषणा नहीं हुई होती तो लीग की हैसियत इस सम्बन्ध में एक प्रार्थी की ही होती। इसके कारण लीग को यह घोषणा करने का अवसर मिला कि बिना मुसलमानों की स्वीकृति के उन पर कोई योजना लागू नहीं की जायगी। इसके अतिरिक्त, इस प्रस्ताव मे देश के अग-भग करने के सिद्धान्त को मान्यता

---

1 The March of A Nation A Collection of the Most Important Speeches of Qaid-i-Azam M A Jinnah by F Akhtar

दी गई। यह स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया गया कि मुसलमानी बहुमत वाले प्रदेशों को स्वतन्त्र राज्यों में सगठित करना आवश्यक है। परन्तु स्वतन्त्र राज्यों का भावी स्वरूप क्या होगा, इसका वर्णन नहीं किया गया। अन्त मे मुसलमानों की अल्पसख्या वाले प्रदेशों में उचित, प्रभावपूर्ण और आदेशात्मक (Mandatory) अभिरक्षणों की मॉग की गई और लीग ने यह स्वीकार किया कि वह स्वय मुसलमानों के क्षेत्र में अल्प-सख्यकों को उसी प्रकार के अधिकार प्रदान करेगी। इस प्रकार स्वतन्त्र राज्यों के निर्माण के साथ-साथ अभिरक्षणों की मॉग सयुक्त कर प्रस्ताव को गडबड बना दिया गया।

परिणाम

पाकिस्तान के विचार का मुसलमान जनता में प्रचार किस प्रकार हुआ, इसका पता स्वय जिन्ना के भाषणों में लगता है। काग्रेस के विरोध के सहारे मुस्लिम नेताओं ने अपने सहधर्मियों में एक अलग निवास-क्षेत्र की मॉग को प्रोत्साहित किया। उदाहरणार्थ, जिन्ना ने सन् १६४० के सभापति-भाषण में कहा कि जनवरी सन् १६३६ से युद्ध की घोषणा के काल तक हमें अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, हमारे सामने नागपुर की विद्या-मन्दिर की योजना आई। हमें समस्त भारत मे वर्धा-शिक्षा-योजना के लागू होने का भय हुआ और कांग्रेस द्वारा शासित प्रान्तों में हम पर अत्याचार किये गए।[1] उन्होंने यह भी कहा कि काग्रेस के ढाई वर्ष के शासन-काल से हमने अनेकों शिक्षायें ग्रहण की हैं। अन्य नेताओं ने भी काग्रेस को हर तरह से बुरा बतलाने का प्रयत्न किया क्योंकि इसी आधार पर मुसलमान देश के विभाजन की मॉग कर सकते थे। यह काग्रेस-विरोधी प्रचार नया नहीं था बल्कि प्रान्तों में इस सस्था के मन्त्रिमण्डल बनने के समय से ही इसकी आलोचना शुरू कर दी गई थी। अल हमजा ने बार-बार अपने लेखों में काग्रेस तथा महात्मा गाधी की बुराइयॉ कीं; काग्रेस के प्रशासन को 'बनिया गवर्नमेण्ट' का शीर्षक दिया और गाधीजी के नेतृत्व को तानाशाही बतलाया।[2] उन्होंने यह भी कहा कि वर्धा के पाखण्डियों ने अपनी योजना द्वारा साम्प्रदायिक द्वेष-भाव को बढा कर भारत की सास्कृतिक और जातीय एकता पर आघात किया है, और बनिया राजनीतिज्ञों ने अपनी मक्कारियों तथा युक्तियों द्वारा, ससार की अच्छी जातियों में गिने जाने वाले, हिन्दू, मुसलमान तथा सिक्खों में झगड़े उत्पन्न कर दिये हैं। जातीय पागलपन में कहे गये ये शब्द सर्वथा निन्दनीय हैं। नवाबजादा

1. Ibid
2 El, Hamza Pakistan, A Nation

लियाकत अलीखाँ कहा करते थे कि हिन्दू-मुसलमानों के बीच झगड़ों का एक कारण हिन्दू जाति की समस्त भारत पर राज्य करने की इच्छा है। नवाब सर एम० युसुफ को भी कांग्रेस में मुसलमानों पर प्रभुत्व स्थापित करने की इच्छा प्रतीत होती थी।[1] सर करीम भाई इब्राहीम को तो कांग्रेस-राज से खास शिकायतें थीं। उनका कहना था कि ढाई वर्ष के शासन-काल में कांग्रेस का दृष्टिकोण पूर्णतः साम्प्रदायिकतावादी रहा है, उसने मुसलमानों को कभी अपना विश्वासपात्र नहीं बनाया और वास्तव में उसका उद्देश्य विद्या-मन्दिर, वन्देमातरम्, वर्धा योजना की आड़ में एक हिन्दू राज्य की स्थापना करना था। परन्तु हमें इन सब आरोपों में सत्यता के निरीक्षण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये सर्वथा मिथ्या थे और केवल पाकिस्तान की माँग को प्रोत्साहन देने के लिये प्रचारित किये गए थे।

इन आरोपों के अतिरिक्त, देश के विभाजन के लक्ष्य को सिद्ध करने के लिये, श्री जिन्ना ने हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक भेद-भाव को उभारने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि ये दोनों पृथक् सामाजिक संगठन हैं और इनके द्वारा एक सामान्य राष्ट्रीयता का उदय केवल स्वप्न है। उन्होंने अपने हिन्दू साथियों पर इस्लाम तथा हिन्दू धर्म के पारस्परिक सम्बन्धों को न समझने का दोषारोपण किया। वे यहाँ तक कहते थे कि हिन्दू तथा मुसलमानों के आदर्श, सामाजिक रीति-रिवाज तथा साहित्य बिल्कुल अलग हैं, वे न परस्पर विवाह करते हैं, न उत्सवों में सम्मिलित होते हैं, उनके जीवन के दृष्टि-कोण भिन्न हैं; उनके महाकाव्य एवं मान्यपुरुष भिन्न हैं, इस प्रकार की दो जातियों को एक सूत्र में बाँधने से असंतोष ही उत्पन्न होगा और इस प्रकार के राज्य की सरकार को अनेकों मुसीबतों और अन्त में बर्बादी का सामना करना पड़ेगा।[2] जिन्ना के साथियों एवं प्रशंसकों ने इस भावना को उत्तेजित करने के लिये रचनाओं की भरमार करदी। जैड० ए० सुलेरी ने अपनी पुस्तक 'दी रोड टू पीस एण्ड पाकिस्तान' (The Road to Peace & Pakistan) में इस द्वि-राष्ट्रीय सिद्धान्त को सिद्ध करने का विशेष प्रयत्न किया। उन्होंने लिखा कि पाकिस्तान की माँग के तीन मुख्य कारण हैं. (१) वे अंग्रेजों के आने से पूर्व भारत के शासक थे, (२) हिन्दुओं के आदर्श उनके प्रतिकूल होने के कारण दोनों का मिलकर रहना असम्भव है और (३) पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से उन्होंने यह अनुभव किया है कि इस्लाम-प्रभुत्व-राज्य में ही उनकी सामाजिक एवं आर्थिक समस्यायें सुलझ सकती हैं। पाकिस्तान के प्रचार के

1. Pakistan, Published by Adabistan
2. The March of A Nation.

लिये मुस्लिम लीग के लेखकों की एक समिति ने जमीलउद्दीन अहमद की देख-रेख में "पाकिस्तान लिट्रेचर सीरीज" निकालना आरम्भ किया जो कश्मीरी बाजार लाहौर के शेख मुहम्मद अशरफ द्वारा प्रकाशित हुई। इस विषय पर लिखने वालों में अलीगढ़ विश्वविद्यालय के भूगोल के रीडर डॉ काजी सईदउद्दीन अहमद का नाम भी उल्लेखनीय है।[1]

जिन्ना ने पाकिस्तान की माँग के लिये मुसलमानों की आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और धार्मिक उन्नति का तर्क भी प्रस्तुत किया; उन्होंने कहा कि विभिन्न दिशाओं में मुसलमानों को उन्नति के अवसर प्रदान करने के लिये उनका एक पृथक् राज्य स्थापित करना अति आवश्यक है। उनके प्रचार का आशय यह था कि एक ओर तो कांग्रेस राज्य अन्यायपूर्ण होने के कारण मुसलमानों के लिये अनुपयुक्त है, दूसरे उनकी उन्नति बिना पाकिस्तान के निर्माण के असम्भव है। इसके अतिरिक्त अपने द्वि-राष्ट्रीय सिद्धान्त द्वारा उन्होंन पाकिस्तान की माँग को बिल्कुल न्यायोचित सिद्ध कर दिया।

कहने का तात्पर्य यह है कि पाकिस्तान के उपर्युक्त प्रस्ताव के पास होन के बहुत पहिले से ही उसका प्रचार-कार्य हो रहा था। हिन्दू मुसलमानों के सम्बन्ध इस समय तक काफी बिगड़ चुके थे और दोनों के बीच बलवे आम बात हो गये थे। सन् १९४० के बाद वैमनस्य की भावना अधिक बढ़ गई और परस्पर विरोध एवं मार-धाड़ का यह क्रम स्वतन्त्रता-प्राप्ति एवं देश-विभाजन की घटना तक अबाधित रूप से चलता रहा।

---

1 For details, author's own book—The Muslim League—its History, Activities & Achievements.

अध्याय १७

द्वितीय महायुद्ध, व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा और क्रिप्स मिशन

द्वितीय महायुद्ध और कांग्रेस—

संसार के द्वितीय महायुद्ध ने देश की लोकप्रिय कांग्रेस सरकारों का अन्त कर दिया। जर्मनी के पोलैंड पर आक्रमण करते ही इंग्लैंड ने उसको अपना युद्ध-सम्बन्धी अन्तिम संदेश भेजा (१ सितम्बर सन् १९३९) और इसके कुछ घंटों पश्चात् वाइसराय ने भारत के इस युद्ध में सम्मिलित होने की घोषणा कर दी। शीघ्र ही रक्षा-सम्बन्धी अध्यादेशों की प्रसारणा की गई और सन् १९३५ के अधिनियम में संशोधन करने के लिये Government of India Amendment Act ग्यारह मिनट में पार्लियामेंट में पास हो गया जिसके अनुसार वाइसराय को नए विधान की धाराओं एवं प्रान्तीय स्वायत्तता में उल्लंघन करने का पूर्ण अधिकार मिल गया।[1] ३ सितम्बर सन् १९३९ 'भारत-रक्षा-अध्यादेश' (Defence of India Ordinance) पास किया गया जिसके द्वारा केन्द्रीय सरकार और भी शक्तिशाली बन गई। इसके अनुसार उसको राजनीतिक सभाओं को भंग करने, बिना वारंट के किसी व्यक्ति को नजरबंद में डालने तथा कानून भंग करने के अपराध में मृत्यु अथवा निर्वासन तक का दंड देने का अधिकार मिल गया।[2] ११ सितम्बर को वाइसराय ने संघ शासन को स्थगित करने की घोषणा करदी। १५ सितम्बर को कांग्रेस की कार्यसमिति ने अपनी एक बैठक की और युद्ध के सम्बन्ध में एक वक्तव्य प्रकाशित किया। इसमें पोलैंड पर जर्मनी द्वारा आक्रमण की निन्दा एवं पीड़ितों के साथ सहानुभूति प्रदर्शित की गई। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कांग्रेस अंग्रेजी साम्राज्यवाद का साथ देना चाहती थी। नाजी जर्मनी द्वारा पीड़ित राष्ट्र के प्रति सहानुभूति दिखाकर भारत अपनी

---

1 R Palme Dutt — India Today
2 Indian Review — October, 1939

बिना इच्छा के युद्ध में घसीट लिये जाने की स्वीकृति नहीं दे रहा था।[1] वास्तव में यह युद्ध देश पर थोपा गया था। परन्तु अंग्रेजों के लिये भारतियों का सहयोग आवश्यक था। अतः कांग्रेस की सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से वाइसराय ने महात्मा गांधी को परस्पर परामर्श करने के लिये आमंत्रित किया। गांधीजी ने इंग्लैंड तथा फ्रांस के प्रति अपनी शुभ कामनाएँ प्रदर्शित कीं लेकिन देश अथवा कॉंग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से उन्होंने अंग्रेजों की सहायता करने के लिये किसी प्रकार का आश्वासन नहीं दिया।

इसके पश्चात् कार्यसमिति की बैठक वर्धा में हुई जिसमें देश के प्रमुख नेता महात्मा गाँधी, पंडित जवाहरलाल नेहरू, सर्व श्री सुभाषचन्द्र बोस, आचार्य नरेन्द्रदेव तथा श्री जयप्रकाश नारायण एकत्रित हुए। मोहम्मदअली जिन्ना को भी इसमें आमन्त्रित किया गया परन्तु उन्होंने आने से मना कर दिया। इस अवसर पर युद्ध के प्रति कॉंग्रेस की नीति के विषय पर गम्भीर विचार किया गया और युद्ध के विरुद्ध एक लम्बा प्रस्ताव पास हुआ। इसमें नाजीवाद तथा फासिज्म की निन्दा की गई और यह प्रकट किया गया कि युद्ध में सम्मिलित होने अथवा निष्पक्ष रहने का निर्णय भारत स्वयं करेगा। कोई विदेशी शक्ति उसके निर्णय को प्रभावित नहीं कर सकेगी और न ही उसके साधनों का किसी साम्राज्यवादी राष्ट्र के हित के लिये शोषण होगा। समिति ने इस प्रस्ताव में यह अनुरोध किया कि ब्रिटिश सरकार स्पष्ट शब्दों में युद्ध के उद्देश्यों पर प्रकाश डाले तथा यह बतलाये कि उन्हें भारत में किस प्रकार लागू किया जायगा। साथ ही यह भी प्रकट किया गया कि यदि साम्राज्यवादी उद्देश्यों एवं प्रयोजनों के लिये युद्ध लड़ा जा रहा है तो भारत उससे कोई सम्बन्ध न रखेगा अन्यथा प्रजातन्त्र अथवा उस पर आधारित व्यवस्था के प्रति उसकी विशेष रुचि होगी।

दूसरी ओर, सरकार ने इस बात पर जोर दिया कि भारत के लिये युद्ध में भाग लेना अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय सेना के उच्च पदाधिकारियों ने यह घोषणा की कि भारत पर शत्रुओं के आक्रमण की सम्भावना है अतः उसकी रक्षा के उपाय करना चाहिए। भारतियों को स्वतन्त्रता देने तथा युद्ध में भाग लेने अथवा न लेने के निर्णय के सम्बन्ध में वाइसराय तथा भारत-सचिव के वक्तव्य अस्पष्ट एवं संदिग्ध थे। कॉंग्रेस उनकी गोल-मोल बातों से संतुष्ट नहीं थी। वह यथार्थ में स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये उत्सुक थी।

1. Indian National Congress Report of the General Secretary : March—1939, Feb 1940.

इसलिये उसने आग्रह किया कि पिछली घोषणाओं की टिप्पणियों के स्थान पर सरकार कुछ वास्तविक कार्य करे।[1] उदाहरणार्थ, सरकार इस प्रकार की घोषणा करती थी कि "सन् १६१७ की घोषणा से हमारी इच्छाएँ प्रकट होती हैं।" काँग्रेस इस प्रकार के कूटनीतिपूर्ण वक्तव्यों से उकता गई थी और उसकी देश के लिये स्वराज्य की लालसा दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। सरकार के इस प्रकार के व्यवहार के कारण काग्रेस का प्रान्तीय सस्थाओं में कार्य करना कठिन हो गया। उसके और सरकार के दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर था। वर्धा के उपर्युक्त प्रस्ताव के प्रत्युत्तर में सरकार की घोषणा बड़ी निराशा-जनक थी और गान्धीजी ने भी कहा कि कॉंग्रेस रोटी माँगती थी परन्तु उसे पत्थर दिये गये। अतः २२ अक्टूबर सन् १६३६ को पुन कार्यसमिति की बैठक वर्धा के स्थान पर हुई और यह निश्चय किया गया कि विभिन्न प्रान्तों के मन्त्रिमडल शीघ्रातिशीघ्र अपने पद से त्याग-पत्र दे दें। दूसरे दिन कॉंग्रेस-मन्त्रिमडलों की ससदीय उप-समिति ने भी यह आज्ञा दी कि अक्टूबर मास के अन्त तक सभी प्रान्तों में त्याग पत्र दे दिये जायें। इन आदेशों की प्रति-क्रिया शीघ्र ही हुई। मद्रास से आरम्भ होकर, एक-एक करके सभी प्रान्तों में त्यागपत्र दे दिये गए और सन् १६३५ के भारत-सरकार अधिनियम के अनु-सार गवर्नरों ने कार्यभार सँभाल लिया।

युद्ध और मुस्लिम-लीग—

मुस्लिम-लीग इस महायुद्ध में अँग्रेजों का साथ देन के लिये तैयार थी परन्तु वह इसके बदले में अपनी कुछ माँगों की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील थी। मोहम्मदअली जिन्ना एवं उनके साथी अन्य मुस्लिम नेतागण प्रारम्भ से ही कॉंग्रेस-मन्त्रिमडलों के विरोधी थे, यह हम ऊपर बतला चुके हैं। भारत के लिये प्रजातन्त्र की स्थापना उनके आदर्शों के विपरीत थी। अत महायुद्ध के आरम्भ होने पर १७ अक्टूबर सन् १६३६ को लीग ने वाइसराय की युद्ध-सम्बन्धी घोषणा के प्रति सतोष प्रकट करते हुए एक लम्बा-चौड़ा प्रस्ताव पास किया। इसके अनुसार जिन्ना को वाइसराय के कुछ विषयों के स्पष्टीकरण के पश्चात् युद्ध में मुसलमानों के सहयोग के प्रति आश्वासन देने का कार्य सौंप दिया गया। कॉंग्रेस-मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र दे देने के पश्चात् यह आशा की जाती थी कि देश में साम्प्रदायिक विरोध कुछ कम हो जायगा और देश की आन्तरिक समस्याओं के लिये एक अनुकूल वातावरण की सृष्टि हो

1 Ibid
2 Indian Review Nov, 1939.

जायगी। कॉंग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने अपने नये प्रस्ताव में यह स्पष्ट कर दिया था कि स्वतन्त्र भारत में अल्पसंख्यकों के हितों को पूर्ण सुरक्षा प्रदान की जायगी और अब वह एक संविधान-सभा के निर्माण की मॉग द्वारा उत्तरदायी शासन की स्थापना तथा साम्प्रदायिकता के विनाश के लक्ष्यों को सिद्ध करना चाहती थी। परन्तु इसी बीच जिन्ना ने २२ दिसम्बर सन् १६३६ के दिन "मुक्ति-दिवस" मनाने की घोषणा द्वारा देश को अचंभे में डाल दिया। कॉंग्रेसी-मन्त्रिमण्डलों के त्याग पत्र पर प्रसन्नता व्यक्त करने के लिये इसको मनाये जाने की योजना थी।

इस दिन देश के सभी प्रमुख स्थानों मे लीग द्वारा सभाओं के सगठन एव उनमें कॉंग्रेस के ढाई वर्ष के शासन की आलोचना एव उसकी समाप्ति पर हर्ष प्रकट करने का आयोजन किया गया। मुसलमानों का यह कहना था कि कांग्रेस ने अपने प्रशासन काल में मुस्लिम संस्कृति, धर्म, सामाजिक रूढ़ियां, राजनीतिक एव आर्थिक अधिकारों को कुचलने का पूर्ण प्रयत्न किया।[1] अतः उस निरकुश शासन के अन्त हो जाने पर वे हर्षित थे। जिन्ना के इस रुख न देश-हित के लिये हिन्दू-मुस्लिम एकता को और भी असभव बना दिया।

व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा—

कॉंग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र ने भारत की राजनीति को एक नई दिशा में मोड़ दिया। यह ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति के विरुद्ध विच्छेद का स्पष्ट प्रमाण था। साथ ही, इससे कुछ लोगों का यह भ्रम भी दूर हो गया कि कांग्रेस केवल उच्च पदों एव शक्तियों की अभिलाषी है। लोगों को विश्वास हो गया कि विदेशी सत्ता से भारत को स्वतन्त्र करन के लिये ही वह इतना त्याग कर रही है। इस घटना के फलस्वरूप उत्पन्न राजनीतिक उत्तेजना को शान्त करने के लिये भारत-सचिव तथा सर सेमुअल होर (Sir Samual Hoar) ने ब्रिटिश ससद में अपने वक्तव्य दिये। परन्तु यथार्थ में वे वाइसराय की घोषणा से भिन्न नहीं थे, केवल उनकी भाषा अधिक सभ्यतापूर्ण थी। इस पर वाइसराय न गाधीजी, कॉंग्रेस के अध्यक्ष तथा जिन्ना को परामर्श करने के लिये आमन्त्रित किया। उन्होंने कहा कि वे अपने पिछले वक्तव्य में कुछ सशोधन करना चाहते थे और वह यह कि युद्ध के लिये एक नई सलाहकार-समिति बनाने के स्थान पर वे अपनी कार्यकारिणी में ही देश के लोकप्रिय

---

1. Indian National Congress Report of the General Secretaries March, 1939–February, 1940.

इसलिये उसने आग्रह किया कि पिछली घोषणाओं की टिप्पणियों के स्थान पर सरकार कुछ वास्तविक कार्य करे।[1] उदाहरणार्थ, सरकार इस प्रकार की घोषणा करती थी कि "सन् १६१७ की घोषणा से हमारी इच्छाएँ प्रकट होती हैं।" कॉंग्रेस इस प्रकार के कूटनीतिपूर्ण वक्तव्यों स उकता गई थी और उसकी देश के लिये स्वराज्य की लालसा दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। सरकार के इस प्रकार के व्यवहार के कारण कांग्रेस का प्रान्तीय सस्थाओं में कार्य करना कठिन हो गया। उसके और सरकार के दृष्टिकोण में बडा अन्तर था। वर्धा के उपर्युक्त प्रस्ताव के प्रत्युत्तर में सरकार की घोषणा बड़ी निराशा-जनक थी और गान्धीजी ने भी कहा कि कॉंग्रेस रोटी मॉंगती थी परन्तु उसे पत्थर दिये गये। अतः २२ अक्टूबर सन् १६३६ को पुन कार्यसमिति की बैठक वर्धा के स्थान पर हुई और यह निश्चय किया गया कि विभिन्न प्रान्तों के मन्त्रिमडल शीघ्रातिशीघ्र अपने पद से त्याग-पत्र दे दें। दूसरे दिन कॉंग्रेस-मन्त्रिमडलों की ससदीय उप-समिति ने भी यह आज्ञा दी कि अक्टूबर मास के अन्त तक सभी प्रान्तों में त्याग पत्र दे दिये जायें। इन आदेशा की प्रतिक्रिया शीघ्र ही हुई। मद्रास से आरम्भ होकर, एक-एक करके सभी प्रान्तों में त्यागपत्र दे दिये गए और सन् १६३५ के भारत-सरकार अधिनियम के अनुसार गवर्नरों ने कार्यभार सँभाल लिया।

युद्ध और मुस्लिम-लीग—

मुस्लिम-लीग इस महायुद्ध में अँग्रेजों का साथ देन के लिये तैयार थी परन्तु वह इसके बदले में अपनी कुछ मॉंगों की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील थी। मोहम्मदअली जिन्ना एव उनके साथी अन्य मुस्लिम नेतागण प्रारम्भ से ही कॉंग्रेस-मन्त्रिमडलों के विरोधी थे, यह हम ऊपर बतला चुके हैं। भारत के लिये प्रजातन्त्र की स्थापना उनके आदर्शों के विपरीत थी। अत महायुद्ध के आरम्भ होने पर १७ अक्तूबर सन् १६३६ को लीग ने वाइसराय की युद्ध-सम्बन्धी घोषणा के प्रति सतोष प्रकट करते हुए एक लम्बा-चौड़ा प्रस्ताव पास किया। इसके अनुसार जिन्ना को वाइसराय के कुछ विषयों के स्पष्टीकरण के पश्चात् युद्ध में मुसलमानों के सहयोग के प्रति आश्वासन देने का कार्य सौंप दिया गया। कॉंग्रेस-मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र दे देने के पश्चात् यह आशा की जाती थी कि देश में साम्प्रदायिक विरोध कुछ कम हो जायगा और देश की आन्तरिक समस्याओं के लिये एक अनुकूल वातावरण की सृष्टि हो

---

1 Ibid
2 Indian Review Nov, 1939

जायगी। कॉंग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने अपने नये प्रस्ताव में यह स्पष्ट कर दिया था कि स्वतन्त्र भारत में अल्पसंख्यकों के हितों को पूर्ण सुरक्षा प्रदान की जायगी और अब वह एक संविधान-सभा के निर्माण की माँग द्वारा उत्तरदायी शासन की स्थापना तथा साम्प्रदायिकता के विनाश के लक्ष्यों को सिद्ध करना चाहती थी। परन्तु इसी बीच जिन्ना ने २२ दिसम्बर सन् १९३९ के दिन "मुक्ति-दिवस" मनाने की घोषणा द्वारा देश को अचम्भे में डाल दिया। कॉंग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के त्याग पत्र पर प्रसन्नता व्यक्त करने के लिये इसको मनाये जाने की योजना थी।

इस दिन देश के सभी प्रमुख स्थानों में लीग द्वारा सभाओं के संगठन एवं उनमें कॉंग्रेस के ढाई वर्ष के शासन की आलोचना एवं उसकी समाप्ति पर हर्ष प्रकट करने का आयोजन किया गया। मुसलमानों का यह कहना था कि कांग्रेस ने अपने प्रशासन काल में मुस्लिम संस्कृति, धर्म, सामाजिक रूढियां, राजनीतिक एवं आर्थिक अधिकारों को कुचलने का पूर्ण प्रयत्न किया।[1] अतः उस निरंकुश शासन के अन्त हो जाने पर वे हर्षित थे। जिन्ना के इस रुख ने देश-हित के लिये हिन्दू-मुस्लिम एकता को और भी असंभव बना दिया।

व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा—

कॉंग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र ने भारत की राजनीति को एक नई दिशा में मोड़ दिया। यह ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति के विरुद्ध विच्छेद का स्पष्ट प्रमाण था। साथ ही, इससे कुछ लोगों का यह भ्रम भी दूर हो गया कि कांग्रेस केवल उच्च पदों एवं शक्तियों की अभिलाषी है। लोगों को विश्वास हो गया कि विदेशी सत्ता से भारत को स्वतन्त्र करने के लिये ही वह इतना त्याग कर रही है। इस घटना के फलस्वरूप उत्पन्न राजनीतिक उत्तेजना को शान्त करने के लिये भारत सचिव तथा सर सेमुअल होर (Sir Samual Hoar) ने ब्रिटिश संसद में अनेक वक्तव्य दिये। परन्तु यथार्थ में वे वाइसराय की घोषणा से भिन्न नहीं थे, केवल उनकी भाषा अधिक सभ्यतापूर्ण थी। इस पर वाइसराय ने गांधीजी, कॉंग्रेस के अध्यक्ष तथा जिन्ना को परामर्श करने के लिये आमन्त्रित किया। उन्होंने कहा कि वे अपने पिछले वक्तव्य में कुछ संशोधन करना चाहते थे और वह यह कि युद्ध के लिये एक नई सलाहकार-समिति बनाने के स्थान पर वे अपनी कार्यकारिणी में ही देश के लोकप्रिय

1. Indian National Congress Report of the General Secretaries March, 1939-February, 1940.

इसलिये उसने आग्रह किया कि पिछली घोषणाओं की टिप्पणियों के स्थान पर सरकार कुछ वास्तविक कार्य करे।[1] उदाहरणार्थ, सरकार इस प्रकार की घोषणा करती थी कि "सन् १९१७ की घोषणा से हमारी इच्छाएँ प्रकट होती हैं।" कॉंग्रेस इस प्रकार के कूटनीतिपूर्ण वक्तव्यों स उकता गई थी और उसकी देश के लिये स्वराज्य की लालसा दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। सरकार के इस प्रकार के व्यवहार के कारण कांग्रेस का प्रान्तीय संस्थाओं में कार्य करना कठिन हो गया। उसके और सरकार के दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर था। वर्धा के उपर्युक्त प्रस्ताव के प्रत्युत्तर में सरकार की घोषणा बड़ी निराशाजनक थी और गान्धीजी ने भी कहा कि कॉंग्रेस रोटी माँगती थी परन्तु उसे पत्थर दिये गये। अतः २२ अक्टूबर सन् १९३९ को पुन कार्यसमिति की बैठक वर्धा के स्थान पर हुई और यह निश्चय किया गया कि विभिन्न प्रान्तों के मन्त्रिमडल शीघ्रातिशीघ्र अपने पद से त्याग-पत्र दे दें। दूसरे दिन कांग्रेस-मन्त्रिमडलों की ससदीय उप-समिति ने भी यह आज्ञा दी कि अक्टूबर मास के अन्त तक सभी प्रान्तों में त्याग पत्र दे दिये जायँ। इन आदेशों की प्रतिक्रिया शीघ्र ही हुई। मद्रास से आरम्भ होकर, एक-एक करके सभी प्रान्तों में त्यागपत्र दे दिये गए और सन् १९३५ के भारत-सरकार अधिनियम के अनुसार गवर्नरों ने कार्यभार सँभाल लिया।

युद्ध और मुस्लिम-लीग—

मुस्लिम-लीग इस महायुद्ध में अँग्रेजों का साथ देने के लिये तैयार थी परन्तु वह इसके बदले में अपनी कुछ माँगों की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील थी। मोहम्मदअली जिन्ना एव उनके साथी अन्य मुस्लिम नेतागण प्रारम्भ से ही कॉंग्रेस-मन्त्रिमडलों के विरोधी थे, यह हम ऊपर बतला चुके हैं। भारत के लिये प्रजातत्र की स्थापना उनके आदर्शों के विपरीत थी। अत. महायुद्ध के आरम्भ होने पर १७ अक्तूबर सन् १९३९ को लीग ने वाइसराय की युद्ध-सम्बन्धी घोषणा के प्रति सतोष प्रकट करते हुए एक लम्बा-चौड़ा प्रस्ताव पास किया। इसके अनुसार जिन्ना को वाइसराय के कुछ विषयों के स्पष्टीकरण के पश्चात् युद्ध में मुसलमानों के सहयोग के प्रति आश्वासन देने का कार्य सौंप दिया गया। कॉंग्रेस-मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र दे देने के पश्चात् यह आशा की जाती थी कि देश में साम्प्रदायिक विरोध कुछ कम हो जायगा और देश की आन्तरिक समस्याओं के लिये एक अनुकूल वातावरण की सृष्टि हो

1 Ibid
2 Indian Review Nov, 1939

शोचनीय स्थिति के समय में, वाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक अस्तव्यस्तता से सुरक्षित रहने के लिये, सशस्त्र शक्ति के उपयोग को वर्जित कर, कांग्रेस अपने लक्ष्य की सिद्धि करेगी ।[1] परन्तु इस अवसर पर गाधीजी के अहिंसात्मक आन्दोलन के कार्यक्रम को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया गया ।

जुलाई के प्रथम सप्ताह में कार्यकारी समिति देहली में एकत्रित हुई । विश्वव्यापी सकट को ध्यान में रखते हुए भारत की राजनीतिक दशा सुधारने के विषय पर घोर वाद-विवाद हुआ और समिति ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें यह मॉग की गई कि (१) ग्रेट ब्रिटेन भारत को पूर्णतः स्वतन्त्र कर दे और (२) देश में एक केन्द्रीय अस्थायी सरकार की स्थापना हो जो केन्द्रीय धारासभा के निर्वाचित सदस्यों के प्रति उत्तरदायी हो । कार्य समिति ने यह भी घोषणा की कि इन मॉगों के पूरा हो जाने पर वह देश की रक्षा भलीभॉति कर सकेगी ।[2] गाधीजी, पडित जवाहरलाल नेहरू आदि इस प्रस्ताव के विरोधी थे क्योंकि उनका विचार था कि यदि इसे स्वीकार कर लिया गया तो अहिंसात्मक आन्दोलन का कार्यक्रम निरर्थक हो जायेगा । परन्तु युद्ध की प्रगति और सरकार से प्रत्युत्तर न मिलने पर यह स्पष्ट हो गया कि वह अपनी साम्राज्यवादी व्यवस्था की सुरक्षा में प्रयत्नशील है और चाहे परिणाम कुछ भी हो अभी वह भारतियों को परतन्त्र रखने की भूल को जारी रखेगी । ऐसी परिस्थिति में अखिल भारतीय कॉग्रेस कमेटी की बैठक जुलाई मास में पूना में हुई । इसने कार्य समिति द्वारा दिल्ली में पास किये गए प्रस्ताव का अनुमोदन किया । इसके पश्चात् ८ अगस्त को वाइसराय ने अपने वक्तव्य में कार्यकारिणी के विस्तार एव सलाहकार समिति की स्थापना की इच्छा प्रकट करते हुए यह बतलाया कि सरकार भारत की शाति एव सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व किसी ऐसे शासन को सौंपना नहीं चाहती जिससे देश के सभी दल सहमत न हों ।

अगस्त १८ को कार्य समिति ने वार्धा में एक बैठक की और अपने प्रस्ताव में सरकार की साम्प्रदायिकतावादी नीति की आलोचना की । यह स्पष्ट था कि सरकार अब भी तलवार के जोर से भारत पर अपना अधिकार स्थापित रखना चाहती थी । इस बैठक के पश्चात् कॉग्रेस दल के सैकड़ों व्यक्तियों की गिरफ्तारी से इस बात में तनिक भी सदेह नहीं रह गया । अब कॉग्रेस के सामने यह परिस्थिति आ गई कि या तो वह अपने अस्तित्व को

1 Indian National Congress Report of the General Secretaries March, 1940–October, 1946.
2. Ibid.

नेताओं को सम्मिलित करेंगे, बशर्ते कॉंग्रेस और जिन्ना परस्पर सहमत हो सकें। कॉंग्रेस की ओर से डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने स्वतन्त्रता के मार्ग में साम्प्रदायिकता का रोड़ा अटकाने के लिये वाइसराय को मुँहतोड़ जवाब दिया। १६ नवम्बर १६३६ को कार्यसमिति ने अलाहाबाद की बैठक में उनके उत्तर की सराहना कर देश के लिये एक संविधान सभा के निर्माण के लिये आग्रह किया।

मार्च १६ तथा २० सन् १६४० को काग्रेस का ५३ वॉ अधिवेशन बिहार में रामनगर के स्थान पर हुआ। अत्यधिक वर्षा के कारण कार्यवाहियाँ सुगमता पूर्वक न हो सकीं। प्रकृति की अठखेलियों के बावजूद इस संस्था की प्रगति रुक न सकी। श्री जवाहरलाल ने सत्याग्रह का प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसका आशय यह था कि सरकार ने अपने साम्राज्य की सुरक्षा एवं शक्ति-वर्धन के लिये ही युद्ध में भाग लेना स्वीकार किया है, अत. काग्रेस तथा उससे प्रभावित व्यक्तिगण, जन अथवा धन से, किसी भी प्रकार उसकी सहायता नहीं करेंगे। आचार्य कृपलानी द्वारा अनुमोदन के पश्चात् यह प्रस्ताव विधि-पूर्वक पास हो गया। इस अवसर पर गान्धीजी ने अपने व्याख्यानों द्वारा रचनात्मक कार्यक्रम के महत्व पर प्रकाश डाला तथा अहिंसात्मक आन्दोलन के साथ उसके घनिष्ट सम्बन्ध पर जोर दिया। कॉंग्रेस की बैठक समाप्त हो जाने के पश्चात् उन्होंने देश में आने वाले स्वतन्त्रता संग्राम के लिये तैयारियाँ आरम्भ करदीं। अपने 'हरिजन पत्र' द्वारा उन्होंने कॉंग्रेस की प्रत्येक कमेटी को 'सत्याग्रह कमेटी' में बदल जाने का आदेश दिया और उनको रचनात्मक कार्यों की वृद्धि के लिये प्रोत्साहन दिया।

इसके पश्चात् अप्रैल मास में कार्यकारिणी समिति की बैठक वर्धा मे हुई और इस समय देश की राजनीतिक प्रगति पर विचार किया गया। समिति ने प्रान्तीय कमेटियों की सत्याग्रह के मार्ग में उन्नति के लिये प्रशंसा की और यह सुझाव दिया कि कॉंग्रेस कार्यकारिणी के वे सदस्य भी सत्याग्रह की शपथ न लें जो अनुशासन सहित कार्य न कर सकें। जून मे इस समिति की बैठक फिर हुई। यूरुप मे महायुद्ध की स्थिति दिन प्रतिदिन भयंकर होती जा रही थी और उसके फलस्वरूप भारत मे भी असन्तोष एव भय की मात्रा बढ़ रही थी। गाधीजी ने सलाह दी कि विदेशी आक्रमण की सम्भावना तथा आन्तरिक अव्यवस्था की इस बाढ़ी मे देश मे अहिंसात्मक आन्दोलन की सृष्टि करना उचित रहेगा। अत कार्यकारिणी समिति ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें प्रकट किया गया कि देश की इस

शोचनीय स्थिति के समय में, बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक अस्तव्यस्तता से सुरक्षित रहने के लिये, सशस्त्र शक्ति के उपयोग को वर्जित कर, कांग्रेस अपने लक्ष्य की सिद्धि करेगी।[1] परन्तु इस अवसर पर गाधीजी के अहिंसात्मक आन्दोलन के कार्यक्रम को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया गया।

जुलाई के प्रथम सप्ताह में कार्यकारी समिति देहली में एकत्रित हुई। विश्वव्यापी सकट को ध्यान में रखते हुए भारत की राजनीतिक दशा सुधारने के विषय पर घोर वाद-विवाद हुआ और समिति ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें यह मॉग की गई कि (१) ग्रेट ब्रिटेन भारत को पूर्णतः स्वतन्त्र कर दे और (२) देश में एक केन्द्रीय अस्थायी सरकार की स्थापना हो जो केन्द्रीय धारासभा के निर्वाचित सदस्यों के प्रति उत्तरदायी हो। कार्य समिति ने यह भी घोषणा की कि इन मॉगों के पूरा हो जाने पर वह देश की रक्षा भलीभॉति कर सकेगी।[2] गाधीजी, पंडित जवाहरलाल नेहरू आदि इस प्रस्ताव के विरोधी थे क्योंकि उनका विचार था कि यदि इसे स्वीकार कर लिया गया तो अहिंसात्मक आन्दोलन का कार्यक्रम निरर्थक हो जायेगा। परन्तु युद्ध की प्रगति और सरकार से प्रत्युत्तर न मिलने पर यह स्पष्ट हो गया कि वह अपनी साम्राज्यवादी व्यवस्था की सुरक्षा में प्रयत्नशील है और चाहे परिणाम कुछ भी हो अभी वह भारतियों को परतन्त्र रखने की भूल को जारी रखेगी। ऐसी परिस्थिति में अखिल भारतीय कॉग्रेस कमेटी की बैठक जुलाई मास में पूना में हुई। इसने कार्य समिति द्वारा दिल्ली में पास किये गए प्रस्ताव का अनुमोदन किया। इसके पश्चात् ८ अगस्त को वाइसराय ने अपने वक्तव्य में कार्यकारिणी के विस्तार एवं सलाहकार समिति की स्थापना की इच्छा प्रकट करते हुए यह बतलाया कि सरकार भारत की शाति एव सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व किसी ऐसे शासन को सौंपना नहीं चाहती जिससे देश के सभी दल सहमत न हों।

अगस्त १८ को कार्य समिति ने वार्धा में एक बैठक की और अपने प्रस्ताव में सरकार की साम्प्रदायिकतावादी नीति की आलोचना की। यह स्पष्ट था कि सरकार अब भी तलवार के जोर से भारत पर अपना अधिकार स्थापित रखना चाहती थी। इस बैठक के पश्चात् कांग्रेस दल के सैकड़ों व्यक्तियों की गिरफ्तारी से इस बात में तनिक भी सदेह नहीं रह गया। अब कॉग्रेस के सामने यह परिस्थिति आ गई कि या तो वह अपने अस्तित्व को

---

1 Indian National Congress Report of the General Secretaries March, 1940–October, 1946
2 Ibid.

मिटने दे अथवा अपने स्वराज्य प्राप्ति के आदर्श को त्याग दे। परन्तु अपने लक्ष्य को त्यागना इस सस्था के लिये सभव नहीं था, अत. स्वतन्त्रता सग्राम के लिये तैयारियाँ आरम्भ हो गई ।

१५ सितम्बर को अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी की बम्बई में बैठक बुलाई गई। इस समय देश का वातावरण बड़ा अशात था। महायुद्ध को आरम्भ हुए एक वर्ष से भी अधिक समय व्यतीत हो चुका था और भारत को बिना उसकी मर्जी के युद्ध में घसीट लिये जाने पर भी उसकी राजनीतिक दासता के बन्धनों मे तनिक भी ढील नहीं दी जा रही थी। नेतागण हतोत्साह हो रहे थे, उनके हृदयों में सरकार के प्रति विरोध की अग्नि धधक रही थी परन्तु फिर भी वे शातिपूर्ण उपायों से काम लेना चाहते थे। परन्तु सरकार समझौते के प्रत्येक निवेदन को ठुकरा रही थी। अत. उनके पास डटकर सग्राम करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह गया। महात्मा गाँधी इस सग्राम का नेतृत्व करने के लिये अधिक उपयुक्त थे। इसलिये काग्रेस की आशायें उन पर ही केन्द्रित हो गई ।

परन्तु अखिल-भारतीय-काग्रेस समिति द्वारा पूना में अनुमोदित कार्य-समिति का दिल्ली का प्रस्ताव गाधीजी के मार्ग मे बाधक था। अत इसे समिति ने पहिले रद्द कर काग्रेस की नीति को उसी रूप में कर दिया जिसमें कि वह रामगढ के अधिवेशन से पहिले थी। एक नया प्रस्ताव पास किया गया जिसमें महात्मा गाधी से यह प्रार्थना की गई कि राष्ट्र के इस विपत्तिकाल में वे अपनी इच्छानुसार काँग्रेस का मार्ग-प्रदर्शन करें। यह भी प्रकट किया गया कि अग्रेजी जाति के प्रति वैमनस्य के कारण काग्रेस यह कदम नहीं उठा रही है बल्कि भारतियों के सम्मान एव स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये वह ऐसा करने के लिये बाध्य है। गाधीजी ने इस अवसर पर अपने दो महत्वपूर्ण भाषणों में भावी सग्राम के क्षेत्र का विस्तारपूर्वक वर्णन किया तथा इस विशाल कार्य का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने के कारणों की व्याख्या की। अपनी कार्यवाही आरम्भ करने से पूर्व उन्होंने वाइसराय से भेंट की। परन्तु कोई सतोषजनक परिणाम न निकलने के कारण उन्होंने बम्बई में पास किये गए प्रस्ताव के अनुसार प्रयत्न विरोध की नीति का पालन करने का निश्चय किया। १२ अक्टूबर को उन्होंने कार्यसमिति के सम्मुख अपनी योजना प्रस्तुत की और उसकी स्वीकृति प्राप्त होने पर व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ कर दिया।

आन्दोलन का श्रीगणेश—

आन्दोलन का श्रीगणेश श्री विनोबाभावे से किया गया। भाषण की स्वाधीनता के प्रश्न को लेकर सत्याग्रह करना था। अतः १७ अक्टूबर को उन्होंने वार्धा से ७ मील दूर पोनार नामक गाँव में एक भाषण दिया जिसमें उन्होंने जनता से युद्ध में किसी भी प्रकार से अंग्रेजी सरकार की सहायता न करने को कहा। उन्होंने सरल भाषा में लोगों को यह समझाने का प्रयत्न किया कि भारत को उसकी इच्छा के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित किया गया है तथा उसे युद्ध सम्बन्ध में अपनी स्वतन्त्र नीति को निर्धारित करने और एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना द्वारा अपनी रक्षा करने से रोककर सरकार ने घोर अन्याय किया है; ब्रिटेन बार-बार यह घोषणा कर रहा है कि प्रजातन्त्र की रक्षा के लिये युद्ध किया जा रहा है परन्तु वही अधिकार भारतियों को नहीं दिया गया है।

सरकार के प्रतिबन्ध के कारण इस भाषण का कुछ अंश ही समाचार पत्रों में प्रकाशित हो सका। समस्त देश के जिला न्यायाधीशों ने प्रेसों को इसे प्रकाशित न करने का आदेश दिया। चार दिन तक विनोबा भावे अपना युद्ध विरोधी प्रचार करते रहे। पाँचवें दिन (२१ अक्टूबर) उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और वर्धा में मुकदमे की कार्यवाही के पश्चात् तीन माह के लिये जेल भेज दिया गया। महात्मा गाधी को भी "हरिजन" के सम्पादन के सम्बन्ध मे चेतावनी दी गई और उन्होंने "हरिजन" तथा दो साप्ताहिकों "हरिजन सेवक" एव "हरिजन बन्धु" का प्रकाशन स्थगित कर दिया[1] क्योंकि देश का मार्ग-प्रदर्शन करने के लिये उनका कारावास के बन्धन से बचे रहना अति आवश्यक था।

विनोबा भावे के बन्दी होने के पश्चात् पंडित जवाहरलाल नेहरू को अपने निवास स्थान इलाहाबाद में ६ नवम्बर से सत्याग्रह करने का कार्य सौंपा गया। इस निर्णय की आम जनता को खबर नहीं दी गई। परन्तु सरकार अपनी योजना के अनुसार कार्य कर रही थी। ३१ अक्टूबर को सेवाग्राम से लौटते समय उनको भी गिरफ्तार कर लिया गया। उनकी गिरफ्तारी से समस्त देश में उत्तेजना की लहर फैल गई। जगह-जगह पर सरकार के विरुद्ध प्रदर्शन हुए, हड़तालें हुईं और विश्वविद्यालयों, कालेजों तथा स्कूलों में विद्यार्थियों ने उनकी मुक्ति के लिये आग्रह किया। गोरखपुर के

1. Ibid

न्यायाधीश ने उन्हे चार वर्ष के कारावास का दण्ड दिया, परन्तु अपने संक्षिप्त एव प्रभावपूर्ण वक्तव्य में उन्होंने अंग्रेजी सरकार की युद्ध-सम्बन्धी नीति की तीव्र आलोचना की।

इसके पश्चात कार्य समिति की वैठक वार्धा मे हुई। इसके सदस्यों एव महात्मा गाधी ने अत्यन्त वाद-विवाद के पश्चात् सत्याग्रह का एक नया तरीका निकाला। अपने आश्रम के एक व्यक्ति को गांधीजी ने यह आदेश दिया कि वह सेवाग्राम से युद्ध-विरोधी नारे लगाता हुआ चलना आरम्भ करे और वन्दी होन तक यह कार्य करता रहे। दूसरे दिन उसे भी गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया। इस प्रकार आन्दोलन का प्रथम भाग हो गया।

आन्दोलन का द्वितीय चरण महात्मा गाधी द्वारा आदेशों के प्रकाशन से आरम्भ हुआ। प्रान्तीय काग्रेस कौंसिलों, धारा-सभाओं के सदस्यों एव अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी को व्यक्तिगत सत्याग्रह के सम्बन्ध मे आदेश देते हुए गाधीजी ने घोषणा की कि सत्याग्रही अपनी कार्यवाही आरम्भ करन से पूर्व इसके समय एव स्थान की सूचना जिला न्यायाधीश को अवश्य दें, नगरों में सार्वजनिक सभायें न की जायें, सत्याग्रही युद्ध-विरोधी नारे लगाते हुए सड़कों पर चलें और ये नारे प्रान्तीय भाषाओं में अनुवादित कर लिये जायें, आन्दोलन व्यक्तिगत रूप से किया जाये, सारा कार्यक्रम एक माह में समाप्त कर दिया जाये तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन के आरम्भ होने पर समस्त प्रदर्शनों को वन्द कर दिया जाये। इन आदेशों को जारी करने का मुख्य उद्देश्य आन्दोलन को व्यक्तिगत स्वरूप एव प्रतिनिधित्व प्रदान करना था।

इस वार सत्याग्रह का आरम्भ गुजरात में श्री वल्लभभाई पटेल द्वारा हुआ। १७ नवम्बर को उन्होंने जिला न्यायाधीश को यह सूचना दी कि वे दूसरे दिन युद्ध-विरोधी नारे लगायेंगे परतु दूसरे दिन तड़के ही वे गिरफ्तार कर लिये गए और उनके पश्चात् कार्य समिति के अन्य सदस्य, भूतपूर्व प्रधानमत्री तथा मन्त्री आदि अनेकों काग्रेसी वन्दी वना लिये गए। दिसम्बर मास के अन्त में महात्मा गाधी ने इस आन्दोलन को कुछ समय के लिये स्थगित कर दिया। परन्तु फिर भी सरकार ने ३० दिसम्बर को काग्रेस के सभापति मौलाना अब्दुल कलाम आजाद को गिरफ्तार कर भारी असतोष उत्पन्न कर दिया। इस पर गाधीजी ने द्वितीय वार सत्याग्रहियों के लिये आदेश जारी किये कि मौलाना साहव के पश्चात् कोई सत्याग्रह न करे, जेल

से छूटने पर सत्याग्रही फिर अपना आन्दोलन आरम्भ करदे; वे किसी से भी आर्थिक सहायता की आशा न करें; कोई भी स्वतन्त्र व्यक्ति बिना उनकी आज्ञा के सत्याग्रह आरम्भ न करे और यदि वे बन्दी बना लिए जायें तो कॉग्रेस के सदस्य शान्त रहें, प्रत्येक अपना नेता हो और अपने अन्त करण की प्रेरणा के अनुसार या तो सत्याग्रह में भाग ले अथवा देश के लिये रचनात्मक कार्य करे। फलस्वरूप आन्दोलन दिन प्रतिदिन तेजी से बढ़ने लगा। १० जनवरी सन् १६४१ को गाधीजी ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया कि जिन सत्याग्रहियों को कारावास के स्थान पर अर्थ दण्ड दिया जाये वे उसे अवश्य दे दें। इससे पहिले काग्रेस के सदस्य जुर्माने नहीं देते थे और एक राष्ट्रीय गान के गाने पर ही उनकी चल अथवा अचल सम्पत्ति बेच दी जाती थी।[1] यद्यपि इस वक्तव्य के फलस्वरूप सरकार की ओर से जुर्मानों की सख्या बढ़ गई परन्तु देश की राजनीतिक प्रगति में इससे कोई बाधा नहीं पड़ी।

सन् १६४१ के दिसम्बर मास में सरकार ने कार्य-समिति के सदस्यों को मुक्त कर दिया। शीघ्र ही वे बारदोली में सम्मिलित हुए और उन्होंने अपनी अनुपस्थित में हुए देश में परिवर्तनों का निरीक्षण किया। उन्होंने फिर एक युद्ध-विरोधी प्रस्ताव पास किया और घोषणा की कि दास रहते हुए भी भारत उस अग्रेजी साम्राज्यवाद की सहायता नहीं करेगा जो वास्तव में नाजीवाद अथवा फासिज्म से भिन्न नहीं है। परन्तु इस बार गाधीजी तथा कार्य समिति में मतभेद उत्पन्न हो गया। गाधीजी अपनी अहिंसात्मक नीति के कारण किसी भी शर्त पर युद्ध मे भाग लेने की स्वीकृति नहीं दे सकते थे जब कि कार्य समिति के सदस्यों की इच्छा थी कि यदि भारत स्वतन्त्र कर दिया जाये तो वह युद्ध में उचित भाग अवश्य ले। इस पर गाधीजी ने सितम्बर सन् १६४० के प्रस्ताव द्वारा दी गई जिम्मेदारियों को त्याग दिया।

गांधी जी के नेतृत्व के बिना कार्य-समिति के लिये आन्दोलन चलाना कठिन था। साथ ही कुछ अन्य घटनाओं ने भी व्यक्तिगत सत्याग्रह को स्थगित करने के लिये बाध्य किया। आसाम, बगाल तथा विजगापट्टम में जापानियों के आक्रमण निरन्तर हो रहे थे—भारत की स्थिति खतरे में थी। विचार यह था कि यदि सत्याग्रह के फलस्वरूप देश के नेता पुन: जेलों में भेज दिये गये तो युद्ध की विभीषिका का सामना करने के लिये देश नेतृत्व-हीन हो जायगा और उस समय अनेकों अत्याचार संभव होंगे। अंग्रेजी सरकार स्वच्छन्द निरकुशता स्थापित किए हुए थी और प्रशासन मे भ्रष्टाचार

1. Ibid

एव अकर्मण्यता बढ रहे थे। ऐसी दशा में युद्ध के कारण उत्पन्न सकट से एक राष्ट्रीय-सरकार ही देश की रक्षा कर सकती थी। अतः कार्य-समिति ने इस आन्दोलन को स्थगित कर दिया।

इस प्रकार व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन पूरे चौदह महीनों (सितम्बर १६४०—दिसम्बर सन् १६४१) तक चलता रहा। इसकी प्रगति सराहनीय विधि से हुई और गाधीजी को इस अवसर पर समस्त प्रान्तों से अनुशासनपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। इसका उद्देश्य भी सीमित था। यह इस आन्दोलन का आशय नहीं था कि भारत को युद्ध म भाग लेन से रोका जाये परन्तु उसकी विना इच्छा के उसके नाम पर युद्ध करने के विरुद्ध यह एक नैतिक विरोध था। यह सत्य है कि इसके फलस्वरूप न तो अँग्रेजों से भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता के अधिकार मिल सके और न महायुद्ध ही प्रजातन्त्र एव स्वाधीनता की सुरक्षा का युद्ध बन सका। परन्तु ये इसके उद्देश्य भी नहीं थे। इसके परिणामस्वरूप भारतियों को भाषण की स्वाधीनता एव सरकार की युद्ध-नीति की आलोचना करने का अधिकार अवश्य मिल गया। आन्दोलन के प्रारम्भ में ही भारतिय इस साम्राज्यवादी युद्ध को जनता के युद्ध का रूप देने से निराश थे। अत अपने सम्मान एव कुछ प्रारम्भिक अधिकारों की रक्षा ही उनका आशय था जो इस आन्दोलन से पूरा हो गया।

सरकार की दमन-नीति ने इस बीच में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में विभिन्न रूप धारण किया और कभी-कभी तो वह एक जिले से दूसरे जिले में भी भिन्न थी। उत्तर प्रदेश में लोगों को नारे लगाने, सूचनायें प्रकाशित करने, बाँटने अथवा तत्सम्बन्धी पत्रादि रखने, पण्डित जवाहरलाल नेहरू के गोरखपुर के वक्तव्य को प्रचार करने अथवा गिरफ्तार व्यक्तियों को हार पहिनाने पर ही बन्दी बना लिया गया। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के निवासियों को इस सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता थी। तामिलनाड, आन्ध्र, केरल, बिहार, मध्यप्रदेश आदि प्रान्तों में युद्धविरोधी नारे लगाने वाले अथवा भाषण देने वाले व्यक्तियों को गिरफ्तार नहीं किया गया। उनको गान्धीजी ने एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते हुए युद्ध विरोधी प्रचार करने का आदेश दिया। मद्रास प्रेसीडेन्सी में सरकार ने अत्यन्त कठोरता से कार्य किया। युद्ध के लिये धन एकत्रित करने के लिये निर्धन व्यक्तियों के बैल तक खोल लिये गए। इस आन्दोलन काल में लगभग २३,२२३ सत्याग्रही गिरफ्तार हुए और लगभग ५,४२, ७७५) रुपये जुर्माने के रूप में वसूल किये गए।[1]

---

1 Indian National Congress Report of the General Secretaries March, 1940–October, 1946

क्रिप्स मिशन—

व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित करने के पश्चात् कांग्रेस ने देश की आत्म-निर्भरता एव आत्म-रक्षा के उपायों का प्रयोग आरम्भ किया। नाना स्थानों पर स्वय-सेवकों के सगठन स्थापित किये गये, सैनिक शिक्षा के केन्द्र खोले गए जिसमें लोगों को हवाई आक्रमण से वचाव तथा घायलों की परिचर्या आदि की शिक्षा दी गई। परन्तु महायुद्ध की उत्तरोत्तर बढती हुई भीषणता से देश में बड़ी व्याकुलता छाई हुई थी। मित्र राष्ट्रों को अनेकों स्थानों पर पराजय का सामना करना पड़ा था। अमरीका तथा इग्लैंड के बुद्धिजीवी भारत के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित कर रहे थे। भारत इग्लैंड को युद्ध में पर्याप्त सहायता दे सकता था परन्तु वह बेडियों में जकड़ा हुआ था। यद्यपि युद्ध में अनेकों भारतीय सलग्न थे, तथापि और भी सहायता लेने के लिये भारतियों में यथेष्ट उत्साह का संचार करना आवश्यक था। भारतियों की स्वाधीनता की मॉग इतनी न्यायपूर्ण थी कि अमरीका अथवा अन्य किसी देश में उसके खडन से अँग्रेज लोग अपनी नीति के औचित्य की पुष्टि नहीं कर सकते थे। जापान द्वारा भारत पर आक्रमण का भय वास्तविक था। उन्होंने मलाया तथा सिंगापुर पर अधिकार कर लिया था और आस्ट्रेलिया, तथा ईस्टइण्डीज में अपने आक्रमण आरम्भ कर दिये थे। मार्च के महीने मे भारत पर आक्रमण की आशका थी। यद्यपि सरकार को लीग का सहयोग प्राप्त था तथापि उससे सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। लीग युद्ध में भाग लेने के बदले में बहुत-कुछ चाहती थी और ऐसी स्थिति भी आ गई थी कि उसने सरकार के साथ पूर्ण रूप मे सहयोग न करने की धमकी भी दे रखी थी।[1] अप्रेल सन् १६४१ मे लीग के मद्रास अधिवेशन के अवसर पर श्री जिन्ना ने कहा कि यदि सरकार लीग का पूर्ण सहयोग चाहती है तो सारी बातें स्पष्ट रूप से करे।[2] कांग्रेस और लीग के इस प्रकार के रुख के कारण अँग्रेजों की स्थिति बड़ी विचित्र हो गई थी।

इधर विदेशों में भी भारतीय स्वतन्त्रता के प्रति आवाज उठने लगी। २३ जनवरी सन् १६४१ को जापानियों द्वारा न्यू गाइना तथा सोलोमन द्वीप समूह पर अधिकार कर लेने पर आस्ट्रेलिया के युद्ध-मंत्री जे. बीसले (J. Beasley) ने ग्रेट ब्रिटेन का ध्यान जापानी खतरे की ओर आकर्षित

---

1. The Modern Review : October, 1941,
2, The March of a Nation.

रते हुए भारत की सुरक्षा का उपाय करने को कहा। २२ मार्च सन् १६४२ ो चीन के मार्शल च्यांग, (Marshal chiang) ने भारत की स्वाधीनता के लिये अंग्रेजों पर जोर डाला। २२ फर्वरी को अमरीका के प्रेसीडेण्ट रूजवैल्ट चर्चिल के (Sept 1941) वक्तव्य को सशोधित करते हुए यह घोषणा की कि "अटलांटिक चार्टर" सारे संसार के लिये समान रूप से लागू होगा। आस्ट्रेलिया के विदेश मन्त्री ने भी भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिये सहानुभूति का प्रदर्शन किया। इस प्रकार इन तीन परिस्थितियों— महायुद्ध की प्रगति, भारतियों के असंतोष एवं विदेशों के आग्रह—ने सरकार को देश की स्वाधीनता की ओर कदम उठाने के लिये विवश किया।

क्रिप्स योजना—

११ मार्च सन् १६४२ को इंग्लैंड के प्रधानमन्त्री ने कामन्स सभा में एक वक्तव्य दिया कि शीघ्र ही सर स्टैफोर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) मन्त्रि-मंडल द्वारा बनाई हुई भारत के विधान की योजना पर देश के नेताओं से परामर्श करने के लिये भारत आयेंगे।[1] सर स्टेफोर्ड क्रिप्स इस समय इंग्लैंड के प्रमुख कूटनीतिज्ञों में गिने जाते थे, वे लार्ड प्रिवी सील होने के साथ-साथ 'ब्रिटिश वॉर कैबिनेट' के सदस्य भी थे। २३ मार्च को वे भारत आये और अपना कार्य आरम्भ कर दिया।[2] वह अपने साथ मन्त्रिमंडल द्वारा बनाई हुई जो योजना भारत में लाये वह उन्हीं के नाम से क्रिप्स योजना कहलाती है।

इस योजना के अनुसार भारत को औपनिवेशिक स्तर देने तथा उसको संयुक्त राज्य से सम्बन्ध रखने का निर्णय किया गया। भारत को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों के साथ समान अधिकार देने की व्यवस्था की गई। इसका मुख्य आशय यह था कि युद्ध के समाप्त होते ही देश में एक निर्वाचित समिति बनाई जायेगी जिसको देश के लिये संविधान बनाने का अधिकार दिया जायेगा और देशी राज्यों को भी उसमें प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होगा। संविधान के तैयार हो जाने पर उसके लागू होने से पहिले कुछ शर्तों को पूरा करना होगा। ब्रिटिश भारत के प्रत्येक प्रान्त को यह अधिकार दिया गया कि वह नये संविधान को स्वीकार न करके अपनी संवैधानिक स्थिति को कायम रख सकेगा अथवा यदि बाद में सम्मिलित होना चाहे तो यह भी सम्भव होगा। सम्राट् की सरकार तथा इस संविधान-सभा के

1 Parliamentary Debates (Hansard) House of Commons Official Report Contents., Wednesday 5th March 1947

2 The Indian Review April, 1942.

बीच सन्धि होगी जिसमें अंग्रेजों द्वारा भारतियों को प्रशासन के उत्तरदायित्व के हस्तान्तरण के सम्बन्ध में चर्चा होगी। साथ ही सम्राट् द्वारा अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के वचनों का पालन भी इसी सन्धि में किया जायेगा। देशी राज्यों के लिये पिछली सन्धियों को दोहराना आवश्यक होगा। चाहे वे नए संविधान को स्वीकार करें अथवा नहीं।

संविधान-सभा के निर्माण के लिये इस योजना में, युद्ध की समाप्ति के पश्चात्, चुनावों की व्यवस्था की गई। यह निश्चय किया गया कि प्रान्तीय धारा सभाओं के निचले सदन पृथक् निर्वाचन क्षेत्र की हैसियत से अनुपाती प्रतिनिधान (Proportional Representation) के आधार पर संविधान सभा के लिये प्रतिनिधि भेजेंगे। देशी राज्यों को भी अपनी जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होगा। नये संविधान के निर्माण तक के अंतरिम काल में शासन-भार संभालने का उत्तरदायित्व सरकार पर ही छोड़ा गया। परन्तु इस बीच में देश के सैनिक, नैतिक एवं भौतिक साधनों के संगठन का कार्य भारत सरकार एवं देश की जनता के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर करता गया। इस योजना में सरकार ने देश के सभी राजनैतिक दलों, वर्गों एवं हितों को एक सर्व-मान्य समझौते पर पहुँचने के लिये आमन्त्रित किया।

उपर्युक्त योजना सहित भारत में आने पर, सर स्टैफोर्ड क्रिप्स ने अत्यंत संलग्नता से कार्य करना आरम्भ कर दिया। २३ मार्च को प्रेस सम्मेलन से भेंट कर वे तीसरे दिन मौलाना अबुल कलाम आजाद तथा श्री जिन्ना से मिले। २७ मार्च को उन्होंने महात्मा गांधी से परामर्श किया और २६ मार्च को इस योजना को प्रकाशन के लिये प्रेस को दे दिया। ३० मार्च को उन्होंने इस योजना को समझाने के लिये रेडियो द्वारा भाषण भी दिया। २ अप्रैल को उन्होंने अपने इंग्लैंड वापिस जाने की तारीख को स्थगित करने की घोषणा की। १० अप्रैल को कांग्रेस के साथ सन्धि-वार्ता भंग हो जाने पर दूसरे दिन उन्होंने देश को अपना अन्तिम संदेश प्रदान किया।[1]

अपने विभिन्न वार्तालापों में सर क्रिप्स ने देशवासियों को अपनी योजना के विभिन्न अंगों को समझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने यह बतलाया कि ब्रिटिश कॉमनवैल्थ में सम्मिलित होने के लिए भारत पूर्णतः स्वतन्त्र होगा। उन्होंने भारतियों को विश्वास दिलाया कि नये संविधान के बनने के पश्चात् वह शीघ्र ही देश में लागू कर दिया जायेगा परन्तु विभिन्न प्रान्त

1. Indian Review April, 1942

उसमें सम्मिलित होने अथवा न होने के लिये स्वतन्त्र होंगे। उन्होंने यह भी कहा कि अन्तरिम काल के प्रशासन में गवर्नर-जनरल अपनी कार्यकारिणी में भारतियों को सम्मिलित करने का प्रयत्न करेगा किन्तु राज्यकार्यों के समस्त विषयों पर अन्तिम निर्णय उसी का होगा।[1]

क्रिप्स योजना के विवरण एवं स्पष्टीकरण के पश्चात् उसका मूल्यांकन करना वाञ्छनीय है। वास्तव में संविधान-सभा पर अल्पसंख्यकों के प्रति सम्राट के वचनों के पालन की रोक लगा कर उसकी शक्तियाँ बहुत कम करदी गई थीं। सर विजयप्रसाद ने ठीक ही कहा है कि अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के स्पष्टीकरण के बिना स्वशासन की गति में बाधा पड़ना स्वाभाविक था।[2] इसके अतिरिक्त नये संविधान में प्रान्तों को सम्मिलित न होने का अधिकार देने का तात्पर्य मुसलमानों को अलग घर बनाने की प्रेरणा थी। संविधान-सभा के निर्माण में पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र एवं सीटों के आरक्षण द्वारा उसके महत्त्व को बहुत कम कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त देशी राज्यों की स्थिति पर इस योजना में पूर्ण रूप से प्रकाश नहीं डाला गया था।

भारतवासियों पर प्रभाव—

इसलिये आरम्भ से ही इस योजना की सफलता की आशा नहीं थी। पहिली अप्रैल को ही सिक्खों और हिन्दू-महासभा ने इसे ठुकरा दिया। मुस्लिम लीग को वास्तव में यह योजना रुचिकर लगनी चाहिये थी क्योंकि यह उनके अनुकूल थी। परन्तु जिन्ना एक कुशल कूटनीतिज्ञ थे। उन्होंने ४ अप्रैल को भाषण देते हुए कहा कि इस योजना में पाकिस्तान की माँग को अंश रूप में ही स्वीकार किया गया है।[3] लीग ने एक प्रस्ताव द्वारा यह घोषणा करदी कि वह मार्च सन १६४० में पास किए गए प्रस्ताव में वर्णित पाकिस्तान की योजना के अतिरिक्त कोई अन्य योजना स्वीकार नहीं करेगी।

२ अप्रैल को कांग्रेस की कार्य समिति ने भी इस योजना की अस्वीकृति का प्रस्ताव पास करके क्रिप्स महोदय के पास भेज दिया[1] और यह १० अप्रैल को प्रकाशित हुआ। कांग्रेस इस योजना से इस कारण असंतुष्ट थी कि इसमें भारत की स्वतन्त्रता के प्रश्न को भविष्य के लिये टाल दिया गया था और उसमें आत्मीय सत्ता के स्थापन के अधिकार (Self-determination)

1. Indian Review April, 1942
2 Sir Bijoy Prasad Parliamentary Government in India
3 The March of a Nation

को मान्यता नहीं दी गई थी।[1] प्रान्तों एवं देशी रियासतों को नये सविधान में भाग लेने की स्वतन्त्रता देने वाली धारायें काग्रेस की योजना के अनुकूल नहीं थीं और न संविधान-सभा के निर्माण की व्यवस्था ही उपयुक्त थी। काग्रेस देश की वर्तमान परिस्थिति में ही सशोधन चाहती थी। इन कारणों से उसने इस योजना को अगीकार करने से मना कर दिया।

काग्रेस के इस प्रस्ताव के पास होने के पश्चात् मौलाना अबुलकलाम आजाद तथा क्रिप्स महोदय में पत्र-व्यवहार आरम्भ हुआ। मौलाना साहब ने यह स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया कि काग्रेस इस योजना को इसी शर्त पर स्वीकार कर सकती है कि राष्ट्रीय सरकार की इसी समय स्थापना की जाये, न कि भविष्य में।[2] परन्तु क्रिप्स ने इसे स्वीकार न किया और इस वार्तालाप के भग हो जाने पर ११ अप्रेल को उन्होंने योजना को वापिस लेने की घोषणा करदी।

इस प्रकार क्रिप्स-मिशन आया और चला गया। समझौते की शर्तें प्रस्तावित की गईं और वापिस ले ली गईं। परन्तु इस समस्त घटना ने भारतीय राजनीति को अप्रभावित न छोड़ा। इसके कारण महात्मा गाधी तथा काग्रेस में अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिये दृढता उत्पन्न हो गई। जिन्ना और मुस्लिम-लीग को पाकिस्तान की मॉग के लिए प्रोत्साहन मिला; श्री राजगोपालाचार्य तथा उनके साथियों का मद्रास में काग्रेस से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया और देश के अन्य राजनीतिक दलों मे निराशा का सचार हो गया।[3]

---

1. Indian National Congress. March 1940 to Sept 1946, Being the Resolutions passed by the Congress, the All India Congress Committee and the Working Committee
2. The Making of Indian Constitution, Congress-Cripps Correspondence
3 Sir Bijoy Prasad · Parliamentary Government in India

को मान्यता नहीं दी गई थी।[1] प्रान्तों एवं देशी रियासतों को नये संविधान में भाग लेने की स्वतन्त्रता देने वाली धारायें कांग्रेस की योजना के अनुकूल नहीं थीं और न संविधान-सभा के निर्माण की व्यवस्था ही उपयुक्त थी। कांग्रेस देश की वर्त्तमान परिस्थिति में ही संशोधन चाहती थी। इन कारणों से उसने इस योजना को अंगीकार करने से मना कर दिया।

कांग्रेस के इस प्रस्ताव के पास होने के पश्चात् मौलाना अबुलकलाम आजाद तथा क्रिप्स महोदय में पत्र-व्यवहार आरम्भ हुआ। मौलाना साहब ने यह स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया कि कांग्रेस इस योजना को इसी शर्त पर स्वीकार कर सकती है कि राष्ट्रीय सरकार की इसी समय स्थापना की जाये, न कि भविष्य में।[2] परन्तु क्रिप्स ने इसे स्वीकार न किया और इस वार्तालाप के भंग हो जाने पर ११ अप्रेल को उन्होंने योजना को वापिस लेने की घोषणा करदी।

इस प्रकार क्रिप्स-मिशन आया और चला गया। समझौते की शर्तें प्रस्तावित की गई और वापिस ले ली गई। परन्तु इस समस्त घटना ने भारतीय राजनीति को अप्रभावित न छोड़ा। इसके कारण महात्मा गांधी तथा कांग्रेस में अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिये दृढ़ता उत्पन्न हो गई। जिन्ना और मुस्लिम-लीग को पाकिस्तान की मांग के लिए प्रोत्साहन मिला; श्री राजगोपालाचार्य तथा उनके साथियों का मद्रास में कांग्रेस से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया और देश के अन्य राजनीतिक दलों में निराशा का संचार हो गया।[3]

---

1. Indian National Congress March 1940 to Sept 1946, Being the Resolutions passed by the Congress, the All India Congress Committee and the Working Committee.
2. The Making of Indian Constitution, Congress-Cripps Correspondence.
3. Sir Bijoy Prasad: Parliamentary Government in India.

अध्याय १८

'भारत छोड़ो' आन्दोलन

आन्दोलन के कारण—

क्रिप्स मिशन की असफलता से भारतीय राजनीति के क्षितिज पर अंधकार छा गया गांधीजी को इससे अत्यंत दुःख हुआ और उन्हें यह आभास होने लगा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद, नाजीवाद तथा फासिज्म में कोई अन्तर नहीं है। क्रिप्स मिशन के सुझाव भी गांधीजी को देश के लिये लाभकारी नहीं लगे क्योंकि उनमें भविष्य में सुधार करने की योजना थी, वे पूर्णत खोखले और महत्वहीन थे। उन्होंने क्रिप्स महोदय से कहा कि ये बड़े खेद की बात है कि इस तरह के सुझाव एक ऐसे व्यक्ति द्वारा दिये जा रहे हैं जिसकी उदारता में भारत को पूर्ण विश्वास है। कार्यसमिति के समक्ष भी गांधीजी ने इनकी आलोचना की परन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि यदि कार्यसमिति उनको किसी भी रूप में स्वीकार करे तो वे उसका विरोध नहीं करेंगे।

गांधीजी को ठेस पहुँचाने वाली एक घटना और भी थी। जापान दिन प्रति दिन पूर्व में अंग्रेजी उपनिवेशों में विजयी हो रहा था और उसने विद्युत् गति से हांगकांग, सिंगापुर, मलाया और बर्मा पर अधिकार कर लिया था। हांगकांग में जापानियों से टक्कर अवश्य ली गई परन्तु अन्य स्थानों पर उनका मुकाबला नहीं किया गया। अत जापानियों द्वारा अधिकृत हो जाने पर इन प्रदेशों में भारतियों की स्थिति बड़ी चिन्ताजनक हो गई। अंग्रेजों ने तो अपनी बुद्धि और साधनों का प्रयोग कर इन स्थानों को छोड़ दिया और भारतियों को देशी जनता तथा जापानियों का सामना करने के लिये रहने दिया। वे अब न उन स्थानों पर रह सकते थे और न छोड़ सकते थे। भागने के समस्त मार्गों एवं सुविधाओं पर गोरों ने अधिकार कर रक्खा था। भारत में इससे बड़ी उत्तेजना उत्पन्न हुई और सरकार का विरोध किया गया। तब

कहीं इन स्थानों में उनको थोड़ी सुविधाएँ दी गईं और वह भी घृणा-युक्त ढग से। गोरों के लिये तो एक अच्छी सुनिर्मित सड़क थी जिस पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर खाने-पीने और आराम करने का प्रवन्ध था और भारतियों के लिये दूसरी सड़कें थीं जिन पर किसी प्रकार की सुविधा न थी। उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता था, उनके स्त्री एव बच्चों का घोर अपमान होता था; वे मर कर सड़कों के किनारे गिर जाते थे, उनकी दाह-क्रिया तक का कोई प्रवन्ध न था। भारत की सीमाओं पर आने तक बलवान स्त्री-पुरुष भी जर्जर हो गए। उनकी दुर्दशा में कोई कसर नहीं रह गई थी। इस प्रकार जापानियों द्वारा बर्मा, मलाया तथा सिंगापुर पर सुगमता से विजय, इन स्थानों के गोरे शासकों की कायरता और कर्त्तव्यहीनता एव आत्म-रक्षा के अवसर पर जाति-विभेद की नीति के प्रयोग ने, महात्मा गाधी की आँखें खोल दीं। सारा भारत चौकन्ना हो गया। उसके लिये इन घटनाओं का सदेश स्पष्ट था। जापान के निरन्तर बढते हुए आक्रमणों से भारत का आकाश भी युद्ध-मेघों से घिरा हुआ था। यदि उस पर कोई आक्रमण होता तो उसकी रक्षा करना अग्रेजों का कर्त्तव्य था। भारतीय निःशस्त्र थे। परन्तु जिस प्रकार अग्रेजों ने मलाया, बर्मा आदि में भारतियों को धोखा और अपनी अयोग्यता का परिचय दिया था, वही दशा भारत की भी हो सकती थी। सरकार के इस सभावित व्यवहार ने भारतवासियों को अपनी रक्षा के लिये एक निर्दिष्ट योजना बनाने को विवश किया।

इधर भारत में भी जनता में असन्तोष उत्पन्न करने वाली अनेकों परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं। काग्रेस ने आत्म-रक्षा एव आत्म-निर्भरता के लिये देश में रचनात्मक कार्यों की सृष्टि करने का कार्यक्रम आरम्भ किया परन्तु सरकार की अर्थ नीति के कारण वह सफल नहीं हो रहा था। वस्तुओं के भाव दिन प्रति दिन ऊँचे चढ रहे थे, भोजन की सामग्रियों एव वस्त्रों का अकाल-सा पड़ रहा था और सरकार की निषेधात्मक नीति के कारण बहुत से लोग विशेषकर बगाल और उड़ीसा में—समुद्रों के किनारे बसे हुए थे। हजारों व्यक्ति बे-घरबार कर दिये गए थे; पुलिस के अत्याचारों का उन्हें सामना करना पड़ता था, सेना उन्हें परेशान करती थी और सरकारी अफसर भी पुलिस और सेना का साथ देते थे। लोगों से बलपूर्वक महायुद्ध के लिये चन्दा वसूल किया जाता था। चोरबाजारी पर कोई नियन्त्रण नहीं था और रिश्वतखोरी का बोल-बाला था। इन सब कारणों से भारतियों में घोर निराशा छाई हुई थी और नेतागण भी विक्षुब्ध थे। यह उनका कर्त्तव्य था कि यदि वे विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा नहीं कर

सकें तो कम से कम इन आपत्तियों से तो छुटकारा दिलायें। गाधीजी ने यह कार्य-भार अपने ऊपर लिया। अपने हरिजन पत्र द्वारा उन्होंने भारतियों को आशा बँधाने का प्रयत्न किया। उन्हें अब यह दृढ निश्चय हो गया कि भारत मे अंग्रेजी शासन के अन्त के पश्चात् ही देश की दशा सुधर सकती है। अत उन्होंने अंग्रेजों से भारत छोड़ने के लिये आग्रह आरम्भ कर दिया।

आन्दोलन का श्रीगणेश—

भारतीय राजनीति की इस पृष्ठ-भूमि में, कांग्रेस की कार्यसमिति और अखिल भारतीय समिति की बैठक अप्रैल सन् १६४२ में इलाहाबाद के स्थान पर हुई। क्रिप्स मिशन के सुझावों के बहिष्कार तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के बदलने से भारतीय वातावरण में भी एक नया परिवर्तन हो गया था। यह आवश्यक हो गया कि भारत भी अपनी स्वाधीनता प्राप्ति के लिये कोई कदम उठाये अन्यथा उसके लिये एक निष्क्रिय दर्शक का स्तर निश्चित था। कांग्रेस इस अवसर पर किंकर्त्तव्य विमूढ़ थी। गाधीजी इन बैठकों में उपस्थित नहीं थे और वे जान-बूझकर इनसे अलग रहे। परन्तु उन्होंने वर्धा से एक आलेख भेजा जिसमें उन्होंने देश की तात्कालिक परिस्थति पर अपने विचार सग्रहीत किये थे। इस आलेख की मुख्य बातें ये थीं :—

(१) क्रिप्स मिशन के सुझावों द्वारा ब्रिटेन ने अपने साम्राज्यवादी कार्यक्रम का नग्न प्रदर्शन कर दिया है,

(२) ब्रिटेन भारत की रक्षा करने में असमर्थ है,

(३) ब्रिटेन तथा भारत के हितों मे निरन्तर सघर्ष रहा है,

(४) जापान की शत्रुता भारत से नहीं बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य से है,

(५) महायुद्ध में भारत को सम्मिलित करना अंग्रेजों की कूटनीति है,

(६) अँग्रेजों को शीघ्रातिशीघ्र भारत को छोड़ देना चाहिये जिससे कि वह अपनी रक्षा करने की सामर्थ्य बढा सके। उनका यह तर्क झूँठा है कि वे देशी राजाओं तथा अल्प-सख्यकों के हितों की रक्षा के लिये देश में शासन कर रहे हैं। वास्तव में ये विभेद उन्हीं के द्वारा बनाये हुए हैं, और

(७) भारत की जापान अथवा किसी अन्य राष्ट्र से शत्रुता नहीं है परन्तु फिर भी यदि जापान भारत पर आक्रमण करेगा तो वह अहिंसात्मक असहयोग द्वारा उसका सामना करेगा।

वास्तव में गाधीजी ठीक ही समझते थे कि भारत के लिये जापानी आक्रमण का भय, अँग्रेजों द्वारा उस पर अधिकार होने के कारण है। उस समय देश में अँग्रेजों के विरुद्ध भावनायें इतनी प्रबल थीं कि भारतीय जापानी आक्रमण द्वारा अंग्रेजों से मुक्त हो जाने की इच्छा करते थे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति की इस प्रकार की आशा भ्रमपूर्ण थी परन्तु भारतीय जनता का एक बहुत बड़ा भाग इस स्वप्न में लीन था। गाधीजी ने देशवासियों की इस निःसहाय अवस्था पर विचार किया और वे इस नतीजे पर पहुँचे कि भारतियों के हितों की रक्षा तभी हो सकती है जब कि अग्रेज लोग शातिपूर्ण उपायों से इस देश को छोड़ दें।

इस आलेख से, कार्य-समिति को विचार करने के लिये पर्याप्त सामग्री मिल गई। इसके सदस्यों ने प्रत्येक दृष्टिकोण से इस पर विचार किया। जापानियों तथा अग्रेजों से किये गये प्रस्तावों पर विशेष प्रकाश डाला गया और अन्त में यह निश्चित हुआ कि कार्यसमिति का युद्ध के प्रति रुख गाधी जी से भिन्न होते हुए भी बहुत से मामलों पर दोनों सहमत थे। अतः गाधीजी के आलेख को कार्य-समिति ने एक प्रस्ताव का रूप दे दिया और अखिल-भारतीय काग्रेस समिति से इसको स्वीकार कर लेने की सिफारिश की। इस प्रस्ताव के वर्णनीय अश निम्नाकित हैं :—

(१) क्रिप्स मिशन के सुझावों ने देश में बड़ा असन्तोष उत्पन्न कर दिया है। इससे भारतियों की आँखें खुल गई हैं,

(२) भारत को महायुद्ध में बिना उसकी अनुमति के घसीटा गया है। उसे किसी राष्ट्र से शत्रुता नहीं है यद्यपि नाजीवाद तथा फासिज्म से उतनी ही घृणा है जितनी कि साम्राज्यवाद से।

(३) भारत की वर्तमान सेना अँग्रेजी सेना का ही एक अंकुर है जो भारतियों को दासता में बाँधे रखने के उद्देश्य से सगठित की गई है।

(४) यदि भारत को स्वतन्त्र कर दिया जावेगा तो वह अपनी नीति स्वयं निर्धारित करेगा और युद्ध-ग्रस्त राष्ट्रों से सहानुभूति रखते हुए भी युद्ध में भाग नहीं लेगा। यदि युद्ध करना भी पड़ेगा तो वह एक स्वतन्त्र देश की भाँति अपनी रक्षा के लिये युद्ध करेगा न कि दूसरों पर अधिकार करने के लिये।

(५) भारत अपने बल के द्वारा ही स्वतन्त्रता प्राप्त करेगा और उसी के आधार पर उसकी रक्षा करेगा। केवल भारत के हितों के लिये ही नहीं

बल्कि ब्रिटेन की भलाई और संसार की शांति के लिये यह आवश्यक है कि अंग्रेज भारत पर से अपना अधिकार हटा लें।

(६) यह भूठ है कि भारत किसी विदेशी राष्ट्र के हस्तक्षेप से स्वतन्त्रता सुगमता से प्राप्त कर सकेगा। यदि कोई विदेशी शक्ति उस पर आक्रमण करेगी तो वह उसका विरोध करेगा परन्तु अहिंसात्मक असहयोग द्वारा, क्योंकि अंग्रेजों ने देश को अपनी रक्षा स्वयं करने के योग्य नहीं रखा है। जिन स्थानों पर अंग्रेजी सेनाओं एवं विदेशी आक्रमणकारियों के बीच संघर्ष होगा, वहाँ भारतीय बीच में हस्तक्षेप न कर अंग्रेजों के साथ असहयोग का परिचय देंगे।

इन प्रस्तावों के अतिरिक्त दो अन्य प्रस्ताव भी पास किए गए जिनमें से एक में विदेशियों द्वारा अधिकृत प्रदेशों में भारतीयों की दुर्दशा, एवं भारत की ब्रिटिश सरकार की उनके प्रति उदासीनता, जाति-विभेद और दुर्व्यवहार का वर्णन किया गया। और दूसरे में, अंग्रेजी और आस्ट्रेलियन सेनाओं द्वारा भारतीय स्त्रियों पर किये गये अत्याचारों की आलोचना की गई। परन्तु सरकार ने इन प्रस्तावों की सूचना मिलते ही उनके प्रकाशन पर रोक लगादी। कार्यसमिति की बैठक के पश्चात् अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई और उसने इन प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया। परन्तु उसकी कार्यवाही समाप्त होने के दो दिन बाद पुलिस ने इसके कार्यालय पर धावा बोल दिया और इन प्रस्तावों के अतिरिक्त गांधीजी के आलेख तथा अन्य कागजात एवं छापने की मशीनें आदि ले गई।

महायुद्ध के आरम्भ होने पर गांधीजी की इच्छा कुछ शर्तों पर इंग्लैंड की नैतिक सहायता करने की थी परन्तु अब उन्हीं से 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पाकर अनेकों भारतीयों को बड़ा आश्चर्य हुआ। परन्तु यथार्थ में यह न भूलना चाहिये कि उनके इन दो परस्पर विरोधी प्रवचनों के बीच के काल की अनेकों घटनाओं ने सरकार की नीति तथा उसके प्रति भारतीयों की प्रतिक्रिया ने, उनको मित्र राष्ट्र-संघ का प्रतिपक्षी बना दिया था। अब वे यह सोचने लगे कि मित्र-राष्ट्र-संघ का पल्ला भारी है और वे अवश्य विजयी हो जायँगे। परन्तु उन्हें उनके युद्ध में भाग लेने का कोई नैतिक आधार प्रतीत नहीं होता था और यदि आधार न्यायपूर्ण अथवा नैतिक नहीं था, तो इन अगणित मनुष्यों का संहार क्यों? यह प्रश्न अब गांधीजी के मस्तिष्क में उठने लगा था। दूसरे देशों के लोगों में युद्ध के लिये उत्साह था, देश पर बलि हो जाने की चाह थी। परन्तु भारत में साधारण जनता भय से जकड़ी

हुई थी। मित्र-राष्ट्र-संघ की विजयों से उन पर पाला सा पड़ जाता था और शत्रुओं की विजयों से उन्हें गुप्त संतोष होता था। इस प्रकार भारतियों के मनोवेग एक गलत दिशा की ओर बढ रहे थे। गांधीजी पर इसकी प्रतिक्रिया अत्यंत शीघ्र और उचित हुई। उन्होंने अंग्रेजों के सामने भारत को पूर्णत छोड़ने की मॉग रक्खी, क्योंकि अब इसीसे देश का उद्धार हो सकता था।

गान्धीजी की इस मॉग ने भारतियों में एक नये उत्साह का संचार कर दिया। वे नैराश्य के गर्त से निकल आये और शीघ्र ही यह मॉग समस्त भारतीय-जन की मॉग हो गई। परन्तु अभी बहुत से व्यक्ति ऐसे थे जिनको गांधी जी की इस नीति की उत्तमता और प्रभावोत्पादकता पर संदेह था और एँग्लो-इण्डियन, ब्रिटिश तथा अमेरिकन पत्रकारों ने तो इसकी बड़ी आलोचना की। उन्होंने एक स्वर से यह कहा कि गान्धी जी अँग्रेजों के संकट-काल में भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति का अवसर बनाना चाहते हैं; यदि भारत से मित्र-राष्ट्र संघ की फौजें हटाली गईं तो वह शीघ्र ही किसी विदेशी आक्रमण का शिकार हो जायगा और उसके विरुद्ध किसी भी प्रकार का अहिंसात्मक विरोध निरी मूर्खता होगी। कुछ पत्रकारों ने इसे असंभव और कुछ ने हिन्दू-मुस्लिम द्वेष-भाव को जन्म देने वाली बतलाया। परन्तु गान्धी जी इन आलोचनाओं को ठण्डे दिमाग से सुनते रहे और संयत रूप से 'हरिजन' के कालमों में उन्होंने इन आलोचनाओं के विरुद्ध अपने तर्क प्रस्तुत किये। उनका कहना था कि भारत और इङ्गलैंड दोनों के हितों के लिये यह मॉग उपयुक्त है। जहाँ तक भारत पर विदेशी आक्रमण का प्रश्न है उन्होंने कहा कि स्वतन्त्र हो जाने पर उसकी किसी राष्ट्र से शत्रुता न होने के कारण यह असंभव होगा और यदि कोई आक्रमण हुआ भी तो भारत इस योग्य होगा कि अपनी रक्षा कर सके। हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद-भाव के लिये उन्होंने यह तर्क रक्खा कि अँग्रेजी शासन में ही वे निरन्तर बढ रहे हैं और उसके अन्त हो जाने पर उनमें समझौता अवश्य हो जायगा। साथ ही, गान्धी जी ने अपनी उपर्युक्त मॉग की कमी को भी स्वीकार किया और इसलिये उन्होंने भारतियों को यह आदेश दिया कि जब तक महायुद्ध समाप्त न हो जाये वे अँग्रेजी सेनाओं के एकदम हटा लिये जाने अथवा हवाई अड्डों को छोडने के लिये आग्रह न करें।

भारत छोड़ो प्रस्ताव—

परन्तु अभी तक परिस्थितियाँ ऐसी थीं जिससे यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता था कि अँग्रेज किसी भी प्रकार भारत को छोडने वाले नहीं हैं। इसलिए गाँधी जी 'हरिजन' में आलोचनाओं का प्रतिवाद करने के साथ-साथ भार-

तियों को आगामी संघर्ष के लिए तैयार रहने को आगाह करते रहे। वे बड़े आशावादी थे, अतः अब भी उनकी धारणा यह थी कि अँग्रेज उनकी माँग को अत्यन्त न्यायपूर्णता के कारण उसे स्वीकार कर लेंगे। परन्तु अब वे उसकी अधिक प्रतीक्षा करने वाले नहीं थे। उन्होंने भारतियों को यह अनुमति देदी कि यदि अँग्रेज लोग स्वय भारत को नहीं छोड़े तो वे आग से खेलने के लिये तैयार हो जायें और अपने अहिंसात्मक-विरोध द्वारा उनको भारत छोड़ने के लिए बाध्य करें। भारत की नीति अब स्पष्ट थी और 'भारत छोड़ो' के शब्दों में उसका पूर्ण समावेश हो गया था। इसके लिये वह कोई समझौता करने के लिये तैयार नहीं था और न प्रतीक्षा ही करने का प्रश्न था।

जुलाई सन् १९४२ में वर्धा में कार्य-समिति की बैठक हुई और इस अवसर पर गाँधी जी की 'भारत-छोड़ो' माँग की उपयुक्तता, इसके प्रति दिए गए तर्कों एव इसकी विदेशों में प्रतिक्रिया, पर विचार किया गया। सेवाग्राम में, निरन्तर बहुत दिनों तक, यह समिति गान्धीजी के सुझावों के अग-प्रत्यगों पर विचार करती रही और अन्त में उसने 'भारत-छोड़ो' प्रस्ताव पास कर दिया, जिसके कार्यरूप में आने से पहले अखिल-भारतीय-काग्रेस-समिति की स्वीकृति लेना आवश्यक थी।

वर्धा की उपर्युक्त बैठक के पश्चात् कार्य-समिति के सदस्य अपने-अपने प्रान्तों को लौट गए और वहाँ उन्होंने जनता को 'भारत-छोड़ो' प्रस्ताव की मुख्य बातों को समझाने का प्रयत्न किया। महात्मा गाधी ने 'हरिजन' में अपने लेखों द्वारा इस पर प्रकाश डाला। वास्तव में उन्होंने कार्य-समिति के समक्ष इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में जो भाषण दिए और हरिजन में जो लेख प्रकाशित किए, वही आगामी सघर्ष की तैयारियाँ थीं। कोई शस्त्रादि का प्रबन्ध नहीं किया गया था। भारत की तैयारियाँ सभी दिमागी थीं। जनता के पास लड़ने के लिए कोई कार्यक्रम नहीं था। स्वय नेताओं ने इसके लिए कोई सुव्यवस्थित योजना नहीं बनाई थी। अलबत्ता, लोगों ने यह जरूर समझ लिया था कि अँग्रेजों से किसी प्रकार का सग्राम करना है और इस सग्राम में अहिंसात्मक नीति का प्रयोग किया जायगा। पजाब, आसाम, सिन्ध और बगाल आदि प्रान्तों में तो इस विषय की चर्चा भी नहीं थी।

घटनायें—

कार्य-समिति की बैठक के पन्द्रह दिन के बाद अखिल-भारतीय-काग्रेस समिति बम्बई में एकत्रित हुई। इसके सदस्यों ने सेवाग्राम में पास किये गये

प्रस्ताव का समर्थन किया और भारतियों को गान्धीजी के साथ सहयोग करने का आदेश दिया। इस प्रस्ताव में कांग्रेस ने अँग्रेजों से शीघ्र ही भारत छोड़ने की माँग की। उनसे यह प्रस्ताव किया गया कि संघर्ष को बचाने के लिये यही ठीक होगा कि वे अब भी अपनी गलती मानकर सच्चाई के मार्ग पर चलें। यह प्रस्ताव युद्ध का चैलेंज नहीं था प्रत्युत अँग्रेजों के लिये संधिवार्ता का द्वार खुला हुआ था। गांधीजी, कांग्रेस के अध्यक्ष तथा पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अँग्रेजों से भारत को साम्राज्यवादी योजनाओं से विमुक्त करने की प्रार्थना की और वचन दिया कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने पर भारत भी मित्रराष्ट्र-संघ द्वारा घोषित उद्देश्यों के लिए उनकी सहायता करेगा। परन्तु, ये सब प्रार्थनायें निरर्थक सिद्ध हुईं। अन्त में, गान्धीजी के भाषण के पश्चात् कांग्रेस-समिति भंग हो गई। भाषण देते हुए गान्धीजी ने कहा कि संघर्ष आरम्भ करने से पहले मैं वाइसराय को एक पत्र लिखूँगा और उसके उत्तर की प्रतीक्षा करूँगा।

परन्तु यह पत्र लिखने भी न पाया था कि दिन निकलने से बहुत पूर्व ही पुलिस, जब कि सारा बम्बई सो रहा था, गांधीजी तथा कार्यसमिति के निवास-स्थानों पर पहुँच गई और उनको बन्दी बना लिया। इससे पूर्व नगर के समस्त टेलीफूनों के तार काट दिये गए थे। पुलिस ने बड़ी शीघ्रतापूर्वक यह कार्य किया जिससे कहीं भीड़ एकत्रित होकर उत्पात न मचाये। इन सब को गुप्त रूप से अज्ञात स्थानों पर भेज दिया गया।

सुबह होने पर गांधीजी तथा कार्यसमिति के सदस्यों की गिरफ्तारी, (अगस्त ६) के फलस्वरूप जनता में उत्तेजना की लहर फैल गई। उसके उद्वेग की सीमा न रही और अनेकों स्थान पर मार-धाड़ और लूट-मार हुई। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के सदस्य इन घटनाओं के सही विवरण एकत्रित करने में संलग्न हो गए। एक ओर तो सरकार द्वारा आक्रमक नीति के प्रयोग ने जनता को अचम्भे में डाल दिया, दूसरी ओर जनता ने भी कुछ समय के लिये सरकार को हतोत्साहित कर दिया। सरकार अब विद्रोहियों को दण्ड देने की ही इच्छुक नहीं थी अपितु कांग्रेस को सदा के लिये कुचल देने पर उतारू हो गई थी। परन्तु भारतियों ने किस प्रकार अपनी वीरता का परिचय दिया, कितनी मुसीबतों में उन्होंने अंग्रेजों को भारत से निकालने के प्रण का पालन किया, किस प्रकार उन्हें अंग्रेजों के दमन-चक्र का सामना करना पड़ा, इस सब का वर्णन तो इस विषय की एक पृथक् पुस्तक में ही हो सकता है।

इन गिरफ्तारियों के पश्चात् सरकार ने अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के सभी सदस्यों (२०० से ऊपर) को बन्दी बनाने की आज्ञा दी। परन्तु यह कार्य बम्बई सरकार की सामार्थ्य से बाहर था। इसलिये विभिन्न प्रान्तों की सरकारों को यह आदेश दिया गया कि वे अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के सदस्यों को बम्बई से लौटने पर अपने-अपने प्रान्तों में बन्दी बना लें। सभी प्रान्तों में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति और प्रान्तीय कांग्रेस समितियों को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया और केवल बम्बई ही में ९ अगस्त के दिन कांग्रेस के १५० कार्यकर्त्ता गिरफ्तार कर लिये गये। समस्त भारत में हुई गिरफ्तारियों की सख्या हजारों तक पहुँच गई। 'भारतीय-रक्षा-नियम' के अन्तर्गत पुलिस चाहे जिसे पकड़ कर ले जाती थी। फलस्वरूप थोड़े दिनों में सारे जेल भर गये और नये जेल (Camp Jail) बनाये गये। पुलिस के धन्धे का यह एक अमूल्य साधन बन गया।

गिरफ्तारियों के साथ-साथ प्रेस की बारी आई। उसका गला बिल्कुल घोंट दिया गया। ११ अगस्त को सरकार ने प्रेस के लिये एक विज्ञप्ति (Communique) प्रकाशित की जिसके अनुसार उन पर नये प्रतिबन्ध लगा दिये गये और प्रेस-निरीक्षकों को विस्तृत अधिकार मिल गए। अब प्रेस उन्हीं व्यक्तियों से सम्बन्धित सूचनायें प्रकाशित कर सकते थे जिनके नामों की स्वीकृति उन्हें जिला न्यायाधीश से मिल जाती थी। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के समक्ष भाषण देते हुए गांधीजी ने कहा था कि अपमान सहने के स्थान पर प्रेसों को अपना कार्य ही बन्द कर देना चाहिये। प्रेस के मालिकों ने उनके इस आदेश का पालन किया और लगभग ९६ समाचार-पत्र छपना बन्द हो गए। इस प्रतिबन्ध से संघर्ष की प्रगति में बाधा अवश्य आ गई परन्तु वह रुक न सका।

सरकार भी यह भलीभाँति जानती थी कि गिरफ्तारियों और प्रेस-प्रतिबन्धों से संघर्ष रुकेगा नहीं। अतः उसने एक नियमित और क्रमपूर्ण आतंक के राज्य की स्थापना कर दी। ९ अगस्त के दिन से ही उसने बर्बरता का प्रयोग आरम्भ कर दिया। अश्रु गैस का प्रयोग किया गया, लाठी द्वारा आक्रमण हुये और अनेकों स्थानों पर गोली का प्रयोग हुआ। जब संघर्ष की लहर शहरों से गाँवों में फैलने लगी तब सरकार ने भी अपने दमन-चक्र का विस्तार बढ़ा दिया। अब भी अगर किसी को सन्देह था कि ब्रिटिश राज पाशविक शक्ति पर आधारित है, तो वह सदेह दूर कर दिया गया। यह तो निश्चित नहीं है कि कितने व्यक्ति इस संघर्ष में मारे गए, परन्तु उनकी संख्या

१५००० से कम नहीं थी। जो लोग घायल हुए उनकी सख्या अगणित थी। इस वार सरकार की दमन-नीति का सबसे जघन्य और हृदय-द्रावक कार्य भारतीय स्त्रियों के प्रति दुर्व्यवहार था। पुलिस कर्मचारियों एवं सेना के अधिकारियों द्वारा ८-६ वर्ष की अवस्था की लड़कियों से लेकर ६० वर्ष तक की वृद्धा स्त्रियों के मान का अपहरण किया गया। गाँवों पर सम्मिलित रूप से भारी जुर्माने लगाये गये, उनको जला दिया गया और उनके निवासियों को प्रत्येक सभव तरीके से अपमान किया गया। मिदनापुर, मैसूर, पटना, पूना, नागपुरऔर अन्य नगरों में जनता पर जो अत्याचार किये गए उनका वर्णन इन सीमित पृष्ठों में करना असभव है।

इस नेतृत्व-हीन सघर्ष में हमारे देश के विद्यार्थियों ने वडा सराहनीय कार्य किया। उनकी वीरता अमर रहेगी। नेताओं की गिरफ्तारी के पश्चात् देश की हीन दशा ने उनमें उत्तेजना की अग्नि प्रज्वलित कर दी और उन्होंने जनता को मार्ग-प्रदर्शन करने के लिये, कॉलेजों एवं स्कूलों को छोड़ने में समय नष्ट नहीं किया। छात्र और छात्राओं ने समान रूप से सड़कों पर प्रदर्शन किये। पुलिस के अत्याचार सहे और अनेकों को जान से हाथ धोना पड़ा। हजारों विद्यार्थी वन्दी वना लिये गए। सरकार ने उनको इस सघर्ष में भाग लेने से रोकने का वडा प्रयत्न किया परन्तु असफल रही। इस सघर्ष-काल में अनेकों विश्वविद्यालय एव कॉलेज वन्द पड़े रहे।

देश के श्रमिकों ने भी इस आन्दोलन में महत्वपूर्ण भाग लिया। इससे पूर्व आन्दोलन में श्रमिकों ने कभी भी इतना योग नहीं दिया था। अहमदावाद और गुजरात की लगभग १०० मिलों का तीन महीने से भी अधिक समय तक वन्द पडे रहना, राजनैतिक संग्राम के समस्त इतिहास में अद्वितीय घटना है। सरकार ने श्रमिकों में फूट पैदा करके अथवा मिल-मालिकों को गिरफ्तार करके मिलों को फिर से चलाने के जितने प्रयत्न किये सभी निष्फल रहे। टाटा की फैक्टरियों में हड़तालें हुईं। मद्रास में 'वकिंघम और कर्नाटक मिल्स' वहुत दिनों तक वन्द पड़ी रही। इनके अतिरिक्त वरौदा, इन्दौर, नागपुर तथा दिल्ली में भी मिल-कर्मचारियों ने हड़तालें कीं। इस समय में लगभग २½ करोड गज सूती कपड़े और उतने ही ऊनी कपड़े के क्रय की हानि हुई।

इस आन्दोलन की वडी विशेषता यह थी कि इसमें देशी राज्यों ने भी योग दिया। इन राज्यों की जनता ने अपने प्रतिनिधियों द्वारा अपने शासकों से यह प्रार्थना की कि वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद से सम्बन्ध तोड़कर जनता का शासन स्थापित करें। ट्रावनकोर, वरौदा, इन्दौर, ग्वालियर और उदयपुर आदि राज्यों में प्रजा-मण्डलों ने प्रस्ताव पास किये और प्रार्थना

-सहित शासकों के पास भेजे। प्रथम बार इस प्रकार ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के बीच का भेद दूर हुआ। दोनों स्थानों की जनता सामान्य शत्रु का सामना करने के लिये खड़ी हो गई और वीरतापूर्वक अंग्रेजों के अत्याचारों का सामना किया।

परिणाम—

यह आन्दोलन देशव्यापी और सर्व साधारण का आन्दोलन था। यद्यपि देश के नेता गिरफ्तार कर लिये गये थे तथापि जनता सरकार की मूर्खतापूर्ण दमन-नीति और अत्याचारों का उचित उत्तर दे रही थी। आवागमन के साधनों को बड़ा नुकसान पहुँचाया गया। डाक और तार के सम्बन्ध तोड़ दिये गये और कहीं-कहीं पर तो प्रशासन की व्यवस्था को ही ठप कर दिया। सरकार द्वारा दमन इतना विस्तृत और विभिन्न प्रकार का था कि इसके सामने सन् १८५७ में किये गए अत्याचार भी नगण्य थे। दूसरे, इस आन्दोलन-काल में भारत का कोई भी भाग दमन-चक्र से नहीं बच सका। चाहे कुछ भी हो, संसार को इसकी खबर भी न लगी। सरकार ने इसकी सूचनाओं को बाहर जाने से रोकने के सारे साधन प्रयोग कर लिये थे। परन्तु फिर भी अँग्रेजों के शत्रुओं के प्रयत्नों से भारतियों की दुर्दशा की खबर विदेशों में फैल ही गई। जापानी तथा नाजी रेडियो द्वारा ब्रिटेन तथा अमरीका की जनता को भारत में किये जाने वाले अत्याचारों का कुछ ज्ञान अवश्य हो गया।

परन्तु एक नई घटना ने भारतीय राजनीति की स्थिति को बदल दिया। १० फरवरी १९४३ को महात्मा गांधी ने २१ दिन के लिये उपवास आरम्भ कर दिया। सरकार को यह सूचना प्रकाशित करनी पड़ी और इससे सारे देश में काफी हलचल हो गई। उपवास रखने से पूर्व उन्होंने वाइसराय लार्ड लिनलियगो से पत्र-व्यवहार किया जिसमें उन्होंने अपनी इस नीति के कारणों का वर्णन किया तथा सरकार को अपनी दमन-नीति को वापिस लेने की चेतावनी दी। परन्तु वाइसराय ने समझौते की कोई आशा प्रकट न की। इस घटना के फलस्वरूप देश में फिर आन्दोलन उठ खड़ा हुआ और सरकार का दमन और भी विनाशकारी हो गया। मसजिदों और मन्दिरों में गांधीजी के लिये प्रार्थनायें की गई। आदरणीय महानुभावों ने सरकार से गांधीजी की मांग मानने के लिये आग्रह किया परन्तु निष्फल रहे। अन्त में ६ मई १९४५ को गांधीजी का स्वास्थ्य खराब होने के कारण छोड़ दिया गया और भारतीय राजनीति के दृश्य पर फिर कुछ समय के लिए पर्दा पड़ गया।

अध्याय १६

नेता सुभाषचन्द्र बोस और आजाद हिन्द फौज

बोस से पूर्व आजाद हिन्द फौज—

मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिये महत्वपूर्ण कार्य करने वाले नेता सुभाषचन्द्र बोस का नाम आजाद हिन्द फौज के सम्बन्ध में अधिक प्रसिद्ध है। उन्होंने इस फौज में एक नई जान डाली और बर्मा में स्वतन्त्र सरकार की स्थापना की। परन्तु विदेशी सहायता से भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त करने की योजना बहुत पुरानी थी और नेताजी से भी पहिले अनेकों देशभक्तों ने अन्य देशों में जाकर स्वदेश के उद्धार का प्रयत्न किया था। उन्होंने केवल प्रचार का कार्य ही नहीं किया अपितु आतंकवादी संस्थाओं के केन्द्रों की भी स्थापना की। श्री हरदयाल, राजा महेन्द्रप्रतापसिंह, रासबिहारी घोष आदि ने दूसरे देशों में जाकर बड़े महत्वपूर्ण कार्य किये। उनसे भी पहिले विनायक सावरकर ने इंग्लैंड तथा फ्रांस में भारतियों की सहायतार्थ महत्वपूर्ण प्रचार-कार्य किया। इस प्रकार विदेशों में स्थापित संस्थाओं में गदर पार्टी, 'द इण्डिया लीग आफ अमेरिका', 'द इण्डियन ऐसोशियेशन आफ लन्दन' तथा 'इण्डिया होम रूल सोसाइटी' के नाम उल्लेखनीय हैं।

सन् १६४१ में योरप में महायुद्ध की स्थिति बड़ी भयंकर हो गई थी और उसके एशिया में फैलने की पूर्ण संभावना हो गई थी। ८ दिसम्बर को जापान ने अमरीका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर इस भय को प्रत्यक्ष कर दिया। अब भारत अपनी रक्षा करने में असमर्थ था। उसके पास सशस्त्र शक्ति इतनी नहीं थी कि वह किसी विदेशी आक्रमणकारी का मुकाबला कर सके। देश में युद्ध सामग्री का अभाव था और विदेशी सरकार उसकी रक्षा का प्रबन्ध नहीं कर सकती थी। मानवशक्ति की कमी नहीं थी परन्तु वैज्ञानिक प्रगति के इस युग में युद्ध-सामग्री के बिना युद्ध में सफलता प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

जापान द्वारा युद्ध की घोषणा के पश्चात् शीघ्र ही उसकी फौजें मलाया प्रायद्वीप के इर्द-गिर्द छा गई और सिंगापुर में भी उन्होंने प्रवेश आरम्भ कर दिया। कोटाबार्स के हवाई अड्डे पर आक्रमण कर उन्होंने अंग्रेजों के अनेकों हवाई जहाज नष्ट कर दिये। अँग्रेजी हवाई जहाजों ने भी इस हमले का मुकाबला किया परन्तु अन्त में उन्हें दक्षिण की ओर भागना पड़ा। अन्य स्थानों पर भी अंग्रेजी सेनाएँ अपनी दुर्बलता का परिचय दे रही थीं। वास्तव में उनके पास युद्ध-सामग्री ले जाने वाली फौजी मोटर गाड़ियों (Tanks) की कमी थी जबकि जापानियों के पास इनकी संख्या काफी थी। इन्हीं मोटर गाड़ियों की सहायता से जापानियों ने मलाया पर आक्रमण किया और शीघ्र ही वे पीनांग तक पहुँच गए। पीनाँग को अंग्रेजों ने बड़ी बुरी दशा में छोड़ा। सिंगापुर के लिये अंग्रेजों का विचार था कि वे छः महीनों तक शत्रुओं का मुकाबला करेंगे परन्तु इसे जीतने में जापानी सेनाओं ने मुश्किल से एक हफ्ते से अधिक समय लिया। आस्ट्रेलिया निवासियों ने सिंगापुर में जापानियों से युद्ध भी किया, परन्तु अंग्रेजों को भागते देख उन्हें भी समर्पण करना पड़ा। १४ फर्वरी सन् १९४२ को अंग्रेजों ने जापानियों को यह सूचना भेजी कि वे कुछ शर्तों के साथ उनसे युद्ध-बन्द करना चाहते हैं परन्तु उनके कमांडर इन-चीफ यमाशीटा ने बिना किसी शर्त या पाबन्दी के अंग्रेजों से आत्म-समर्पण करने को कहा। फलस्वरूप, १५ फर्वरी को सिंगापुर अंग्रेजों के हाथ से निकल गया।

ऐसी परिस्थिति में, श्रीरासबिहारी घोष—जिनको भारत से निर्वासित कर दिया गया था और जापान में रहते हुए लगभग पच्चीस वर्ष हो गए थे—जापानी 'इम्पीरियल स्टॉफ' से मिले और भारत को स्वतन्त्र करने के उद्देश्य से अँग्रेजों के विरुद्ध लड़ने की मन्त्रणा की। आरम्भ में तो जापानी उनके इस प्रस्ताव पर सहमत नहीं हुए परन्तु उनका परस्पर मतभेद दूर होने पर 'इम्पीरियल स्टाफ' के अधिकारीगण विदेशों में भारतियों की सहायता प्राप्त करने की सम्भावना के विचार से इसके लिये राजी हो गये। उधर युद्ध आरम्भ होने से पहले कैप्टेन मोहनसिंह ने मलाया में अँग्रेजों से सम्पर्क स्थापित किया और उनके साथ समझौता किया। १६ फरवरी सन् १९४२ को सिंगापुर में एक विशाल सभा हुई जिसमें लगभग ४०,००० भारतीय कैदी उपस्थित थे। ब्रिटिश सेनाओं की ओर से कर्नल हन्ट (Connel Hunt) ने यह घोषित किया कि वे उनको जापानी सरकार के प्रतिनिधि के सुपुर्द कर रहे हैं। उन्होंने भारतियों को यह आदेश भी दिया कि वे भविष्य में मेजर फ्यूजीवारा की आज्ञाओं का पालन करें। वास्तव में इस समय आस्ट्रेलियन और अँग्रेज भी जापानियों के

कैदी थे, वे धोखे से इस चंगुल से निकल आये। वन्दी होने के लिये तो केवल भारतियों को ही चुना गया। उनके इस व्यवहार से स्थानीय सेनाओं में परस्पर वफादारी और मित्रता का अन्त हो गया। मेजर फ्यूजीवारा ने उधर यह घोषणा करदी कि भारतीय जापानियों की ओर से स्वतन्त्र हैं और उन्हें कैप्टिन मोहन-सिंह के हवाले कर दिया। कैप्टिन मोहनसिंह वास्तव में इन भारतियों के नेता थे और जापानियों से भी उन पर स्वतन्त्र अधिकार मिल जाने पर, उन्होंने अपने भाषण में कहा कि वे भारत की स्वतन्त्रता का सग्राम करने के लिये एक आजाद हिन्द फौज का सगठन करना चाहते हैं। इससे सभा में उपस्थित सभी भारतियों में खुशी की लहर फैल गई। इसके पश्चात् शीघ्र ही आजाद हिन्द फौज की भर्ती के लिये डेरे खुल गये और हर जगह से भारतीय कैदी उनमें प्रवेश करने लगे। लैफ्टीनैण्ट कर्नल एन०एस० गिल तथा रासविहारी घोष ने भी इस दिशा में विशेष प्रयत्न किया और इन तीनों के प्रयत्न से सन् १९४२ के अन्त तक मलाया और बर्मा में एक आजाद हिन्द फौज वनकर तैयार हो गई।

मार्च सन् १९४२ में रासविहारी घोष जापान में थे। इस माह के अन्त में (२८-३०) टोकियो में उनकी अध्यक्षता में एक वड़ा सम्मेलन हुआ और इस अवसर पर यह निश्चय किया गया कि—

(१) भारतीय अफसरों की अधीनता में एक आजाद हिन्द फौज बनाई जायेगी। इसका उद्देश्य भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त करना होगा।

(२) साथ ही स्वतन्त्रता-सग्राम के कार्य को चलाने के लिए एक 'भारतीय स्वतन्त्रता लीग' की स्थापना होगी, जोकि जापानियों से हर प्रकार की मदद मॉगने और उसके प्रयोग का सचालन करेगी।

(३) भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर उसका शासन जनता के प्रति-निधियों के हाथों में सौंप दिया जायगा, और

(४) स्वतन्त्रता के आन्दोलन को सुचारु रूप से चलाने के लिये बैंकाक में भारतियों की एक सभा का आयोजन किया जायगा।

फलस्वरूप, बैंकाक में भारतियों की एक विशाल सभा हुई और इस अवसर पर भारतियों के सहयोग की सुनिश्चितता पर मनन करने के पश्चात् आजाद हिन्द फौज का कार्य सुगमतापूर्वक चलने लगा। सुभाषचन्द्र वोस इस समय जर्मनी में थे। इनको भी बुलाने का प्रबन्ध किया गया। इधर कैप्टेन मोहनसिंह तथा रासविहारी घोष भारत की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्न कर रहे

थे, उधर नेताजी भी जर्मनी में इसी कार्य में सलग्न थे। महायुद्ध के प्रारम्भ होने पर उन्हें भारत में विना किसी अभियोग के वन्दीगृह में डाल दिया गया था। परन्तु भारत के उद्धार के लिये यह समय उपयुक्त देखकर सर्वश्री वोस ने जेल से छुटकारा पाने के लिए अनशन-व्रत आरम्भ कर दिया। सरकार ने उन्हें वन्दीगृह से मुक्त कर दिया किन्तु उनके कलकत्ता के निवास स्थान में, पुलिस की निगरानी में नजरवन्द कर दिया।

सुभापचन्द्र वोस—

सुभाषचन्द्र बोस एक जन्मजात नेता थे। आरम्भ में ही उन्होंने प्रोफेसर (Oaten) ओयटन के दुर्व्यवहार के प्रति आवाज उठाकर अपने नेतृत्व का परिचय दे दिया था। ओटन महोदय भारतियों को सदा घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे और उनके विरुद्ध निराधार वातें कहा करते थे। श्री वोस को यह सहन नहीं हुआ और उन्होंने उनका विरोध किया। इस पर उन्हें कठोर दण्ड का भागी होना पड़ा और उनके सहपाठियों में इसकी प्रतिक्रिया 'ओयटन' शब्द को क्रिया में प्रयोग द्वारा हुई। उदाहरणस्वरूप, किसी व्यक्ति को दण्ड देने की चेतावनी में कहा जाता था कि "तुमको ओयटन की सजा दी जायगी" (You will be Oatenised)। विश्वविद्यालय की परीक्षा पास करने के पश्चात् वे इङ्गलैंड गये और भारतीय सिविल सर्विस की प्रतियोगिता में उत्तीर्ण हुए। स्वदेश लौटने पर उन्हें तात्कालिक राजनीतिक वातावरण ने अत्यन्त प्रभावित किया। महात्मा गान्धी के असहयोग आन्दोलन के आरम्भ होने पर वे भी अपनी सरकारी नौकरी छोड़कर उसमें सम्मिलित हो गए। इस प्रकार का त्याग असाधारण था। इसके पश्चात् उन्होंने देश-सेवा ही अपने जीवन का उद्देश्य वना लिया और भारत के स्वाधीनता-सग्राम में सलग्न हो गये। उनमें चार गुण विशेप थे—(१) देश-भक्ति, (२) लक्ष्य के प्रति दृढता, (३) सगठन की योग्यता और (४) राजनीतिक बुद्धिमत्ता और स्पष्टवादिता। नौकरी छोड़ना, और स्वास्थ्य की चिंता न करते हुए विदेशी शासन का विरोध करना उनकी देश-भक्ति की भावना के द्योतक हैं। अपने त्याग के कारण ही वे दो वार अखिल भारतीय काग्रेस के सभापति निर्वाचित हुए। द्वितीय वार महात्मा गान्धी ने उनके सभापतित्व का वड़ा विरोध किया क्योंकि वे श्री सीतारामैया को काग्रेस का सभापति वनाना चाहते थे। परन्तु नवयुवकों की भावनायें श्री वोस की ओर केन्द्रित थीं, अतः चुनाव में उन्हीं की विजय हुई। सभापति निर्वाचित हो जाने पर उन्होंने यह अनुभव किया कि उनके कारण काग्रेस की नीति में वाधा पड़ रही है। अत

उन्होंने सभापति के पद से त्याग-पत्र दे दिया। यह भी उनके देश-प्रेम का दृष्टान्त है। उन्होंने कहा कि यदि मैं कांग्रेस का सभापति न रहूँ तो इससे क्या अन्तर पड़ेगा, मेरी सेवायें तो सदा कांग्रेस और देश के लिये रहेंगी ...... एक सैनिक के रूप में भी देश की पर्याप्त सेवा की जा सकती है। गान्धीजी को एक पत्र में (३१ मार्च सन् १६३६) उन्होंने लिखा कि "यदि स्वयं को मिटाने से भी देश के उत्थान को योग मिल सकता हो तो आपको निश्चय-पूर्वक विश्वास दिलाता हूँ कि मैं ऐसा करने के लिये सहर्ष तैयार रहूँगा। ...... मेरा विचार है कि मेरा देश-प्रेम मुझे आत्म-परित्याग की आज्ञा दे सकता है।"

सन् १६४१ में भारत की राजनीतिक परिस्थितियों ने नेताजी को देश छोड़ने के लिए विवश किया। उन्होंने कांग्रेस को अंग्रेजों से भारत छोड़ने का प्रस्ताव करने की मन्त्रणा दी परन्तु इसके सदस्यों ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसलिये नेताजी ने विदेशों की सहायता से भारत की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्न करने की योजना बनाई। इस सम्बन्ध में उन्होंने इतिहास से शिक्षा ग्रहण की। अमेरिका ने स्वय अपनी स्वाधीनता के लिये इंग्लैंड से युद्ध किया था और गैरी बाल्डी ने भी इटली की स्वतन्त्रता के लिये अंग्रेजों की सहायता ली थी। नेताजी को भारत के लिये भी यही मार्ग सबसे उपयुक्त प्रतीत हुआ और उन्होंने विदेशों में जाने का निश्चय किया।

एक पठान, जियाउद्दीन के भेष में श्री बोस अपने घर से चले और पहिले पेशावर पहुँचे। वहाँ से वे अधिकतर पैदल चलते हुए काबुल गये और वहाँ उन्होंने रूसियों से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया। परन्तु वे इस कार्य में सफल न हुए क्योंकि रूसी उस समय अंग्रेजों से समझौते की बातचीत कर रहे थे और नेताजी की सहायता कर वे अपनी नीति में परिवर्तन करना नहीं चाहते थे।

इसके अतिरिक्त, कुछ वर्ष पूर्व रूस की सांस्कृतिक समिति ने नेताजी को रूस आने के लिये आमन्त्रित किया था। परन्तु बीमार होने के कारण वे न जा सके थे। कदाचित् इस कारण से वे कुछ अप्रसन्न हो गए थे। रूस से मैत्री न कर सकने के कारण नेताजी ने विरोधी पक्ष से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। वे मास्को होते हुए बर्लिन पहुँच गए और वहाँ हिटलर से मिले। हिटलर ने अपनी पुस्तक "मीन कैम्फ" (Mein kampf) में भारतियों का जो तिरस्कार किया था, उसके लिये उन्होंने तर्क देने को कहा।

थे, उधर नेताजी भी जर्मनी में इसी कार्य में सलग्न थे। महायुद्ध के प्रारम्भ होने पर उन्हें भारत में बिना किसी अभियोग के बन्दीगृह में डाल दिया गया था। परन्तु भारत के उद्धार के लिये यह समय उपयुक्त देखकर सर्वश्री बोस ने जेल से छुटकारा पाने के लिए अनशन-व्रत आरम्भ कर दिया। सरकार ने उन्हें बन्दीगृह से मुक्त कर दिया किन्तु उनके कलकत्ता के निवास स्थान में, पुलिस की निगरानी में नजरबन्द कर दिया।

सुभाषचन्द्र बोस—

सुभाषचन्द्र बोस एक जन्मजात नेता थे। आरम्भ में ही उन्होंने प्रोफेसर (Oaten) ओयटन के दुर्व्यवहार के प्रति आवाज उठाकर अपने नेतृत्व का परिचय दे दिया था। ओटन महोदय भारतियों को सदा घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे और उनके विरुद्ध निराधार बातें कहा करते थे। श्री बोस को यह सहन नहीं हुआ और उन्होंने उनका विरोध किया। इस पर उन्हें कठोर दण्ड का भागी होना पड़ा और उनके सहपाठियों में इसकी प्रतिक्रिया 'ओयटन' शब्द को क्रिया में प्रयोग द्वारा हुई। उदाहरणस्वरूप, किसी व्यक्ति को दण्ड देने की चेतावनी में कहा जाता था कि "तुमको ओयटन की सजा दी जायगी" (You will be Oatenised)। विश्वविद्यालय की परीक्षा पास करने के पश्चात् वे इङ्गलैंड गये और भारतीय सिविल सर्विस की प्रतियोगिता में उत्तीर्ण हुए। स्वदेश लौटने पर उन्हें तात्कालिक राजनीतिक वातावरण ने अत्यन्त प्रभावित किया। महात्मा गान्धी के असहयोग आन्दोलन के आरम्भ होने पर वे भी अपनी सरकारी नौकरी छोड़कर उसमें सम्मिलित हो गए। इस प्रकार का त्याग असाधारण था। इसके पश्चात् उन्होंने देश-सेवा ही अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया और भारत के स्वाधीनता-सग्राम में सलग्न हो गये। उनमें चार गुण विशेष थे—(१) देश-भक्ति, (२) लक्ष्य के प्रति दृढता, (३) सगठन की योग्यता और (४) राजनीतिक बुद्धिमत्ता और स्पष्टवादिता। नौकरी छोड़ना, और स्वास्थ्य की चिंता न करते हुए विदेशी शासन का विरोध करना उनकी देश-भक्ति की भावना के द्योतक हैं। अपने त्याग के कारण ही वे दो बार अखिल भारतीय काग्रेस के सभापति निर्वाचित हुए। द्वितीय बार महात्मा गान्धी ने उनके सभापतित्व का बड़ा विरोध किया क्योंकि वे श्री सीतारामैया को काग्रेस का सभापति बनाना चाहते थे। परन्तु नवयुवकों की भावनायें श्री बोस की ओर केन्द्रित थीं, अत. चुनाव में उन्हीं की विजय हुई। सभापति निर्वाचित हो जाने पर उन्होंने यह अनुभव किया कि उनके कारण काग्रेस की नीति में बाधा पड़ रही है। अत

५ जुलाई को उन्होंने नगरपालिका के भवन के सामने आजाद हिन्द फौज का निरीक्षण किया। उन्होंने एक भाषण भी दिया और सैनिकों को उनके कर्त्तव्यों के प्रति आगाह करते हुए बतलाया कि उनका नारा 'चलो दिल्ली, दिल्ली चलो' होना चाहिये। ६ जुलाई को जापान के जनरल हिडेकी तोजो (General Tojo) के साथ फिर आजाद हिन्द फौज का निरीक्षण किया गया। श्री तोजो ने अपने भाषण में भारतियों को विश्वास दिलाया (अ) जापानी भारत से प्रादेशिक, सैनिक अथवा आर्थिक, किसी भी प्रकार के लाभ की आशा नहीं करते हैं, (आ) भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता दी जायगी और (इ) वे भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में यथाशक्ति सहायता देंगे। ६ जुलाई को आजाद हिन्द फौज की परेड हुई। इस अवसर पर सिंगापुर, मलाया और चीन के अनेकों व्यक्ति उपस्थित थे और भारतियों की सख्या भी ६० लाख से अधिक थी। सैनिकों ने बड़े उत्साह का प्रदर्शन किया। इस प्रकार श्री बोस के नेतृत्व में आजाद हिन्द फौज ने बड़ी उन्नति की और उसका सगटन अधिक दृढ हो गया। नेताजी में जाति-पाति की भावना नहीं थी। उनके आदेशों का सैनिकों पर अत्यन्त प्रभाव पड़ता था और उनकी प्रतिक्रिया भी शीघ्र होती थी।

बर्मा में आने के पश्चात् नेताजी ने जापानी सशस्त्र सेनाओं के कमाडर-इन-चीफ लैफ्टीनैन्ट जनरल कवावे के माध्यम से जापानी अधिकारियों से फिर वार्ता आरम्भ कर दी। उन्होंने इस बात पर हट किया कि जापानी, भारत पर आक्रमण करने में आजाद हिन्द फौज की पूरी सहायता करें। उनकी योजना यह थी कि फौज में सैनिकों की सख्या कम होते हुए भी वे बर्मा में स्थापित हुई स्वतन्त्र भारत की अस्थायी सरकार की सहायता से भारत में घुस पड़े और इसके पश्चात् जितनी सैनिक शक्ति की आवश्यकता पड़े, वह जापान द्वारा दी जाये। जापान की सरकार ने नेताजी की योजना को स्वीकार कर लिया और इसकी सफलता के उद्देश्य से अनेकों स्थानों पर मोर्चाबन्दी की गई।[1] आजाद हिन्द फौज का युद्ध आरम्भ हुआ परन्तु उसे सफलता न मिली। स्थानाभाव के कारण युद्ध की घटनाओं का विवरण असभव है, केवल आजाद हिन्द फौज की असफलता के कारणों पर प्रकाश डालना पर्याप्त है।

असफलता के कारण—

प्रथम, जापानियों की बगाल और आसाम में असफलता के कारण आजाद-हिन्द फौज के सैनिक अपने लक्ष्य में सफल न हो सके। भारत की

1. Arakan, Kaladan, Haka, Falan, Kohima & Imphal.

अन्त में, उसे स्वीकार करना पड़ा कि जो कुछ उसने भारतियों के लिए लिखा वह गलत था।

किन्तु हिटलर को रूस और अफ्रीका के युद्धों में अपनी योजना के अनुसार सफलता नहीं मिल रही थी। इसलिए उसने श्री सुभाषचन्द्र की जापान जाने की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। वे आबिदहसन और स्वामी के साथ, जो बाद में आजाद हिन्द फौज के मेजर नियुक्त हुए, एक पनडुब्बी में जापान के लिए रवाना हो गए। शत्रुओं के भय के कारण उन्हें बहुधा रात्रि में यात्रा करनी पड़ती थी और दिन में वे लोग समुद्र की तलहटी में रहते थे। इस प्रकार से उन्हें जापान पहुँचने में तीन महीने लग गए। यहाँ आकर वे रासबिहारी घोष से मिले और आजाद हिन्द फौज की प्रगति के सम्बन्ध में परामर्श किया। यह फौज इस समय तक काफी उन्नति कर चुकी थी। तत्पश्चात् वे जापान के 'इम्पीरियल स्टाफ' तथा 'सैनिक हैड-क्वार्टर्स' के अधिकारियों से मिले और उनसे भारतीय स्वतन्त्रता के राष्ट्रीय आन्दोलन में योग देने के लिए आग्रह किया।

बोस और आजाद हिन्द फौज—

२१ जून सन् १६४३ को नेताजी ने भारतियों को रेडियो द्वारा सवाद भेजा जिसमें उन्होंने आदेश दिया कि उन्हें ब्रिटिश साम्राज्यवाद से किसी प्रकार के समझौते की आशा नहीं रखना चाहिए। उन्होंने कहा कि अंग्रेजों एव उनके साथियों द्वारा सदा के लिए भारत छोड़ देने पर ही देश को स्वतन्त्रता मिल सकती है और स्वाधीनता के इच्छुक लोगों को युद्ध करने तथा इसकी कीमत अपने रक्त से देने के लिए तैयार रहना चाहिए। २ जुलाई को वे जापान से सिंगापुर पहुँच गए। यहाँ उन्होंने आजाद हिन्द फौज के उच्च पदाधिकारियों से भेंट की और दो दिन बाद भारतियों की एक सभा में भाषण दिया। 'भारतीय स्वतन्त्रता लीग' के प्रतिनिधि एव दक्षिणी-पूर्वी एशिया के मान्य नेताओं ने इस सभा में भाग लिया। सभा के आरम्भ होने पर रासबिहारी घोष ने श्री सुभाषचन्द्र बोस का उपस्थित जनों से परिचय कराया और उन्हें आजाद हिन्द फौज का नेतृत्व प्रदान किया। नेताजी के खड़े होने पर लोगों ने उनका बड़ा अभिवादन किया और कई मिनटों तक तालियाँ बजाते रहे। नेताजी ने विश्वास दिलाया कि आजाद हिन्द फौज और भारतीय स्वतन्त्रता लीग के नेता की हैसियत से वे उसका यथाशक्ति मार्ग प्रदर्शन करेंगे।

५ जुलाई को उन्होंने नगरपालिका के भवन के सामने आजाद हिन्द फौज का निरीक्षण किया। उन्होंने एक भाषण भी दिया और सैनिकों को उनके कर्त्तव्यों के प्रति आगाह करते हुए बतलाया कि उनका नारा 'चलो दिल्ली, दिल्ली चलो' होना चाहिये। ६ जुलाई को जापान के जनरल हिडेकी तोजो (General Tojo) के साथ फिर आजाद हिन्द फौज का निरीक्षण किया गया। श्री तोजो ने अपने भाषण में भारतियों को विश्वास दिलाया (अ) जापानी भारत से प्रादेशिक, सैनिक अथवा आर्थिक, किसी भी प्रकार के लाभ की आशा नहीं करते हैं, (आ) भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता दी जायगी और (इ) वे भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में यथाशक्ति सहायता देंगे। ९ जुलाई को आजाद हिन्द फौज की परेड हुई। इस अवसर पर सिंगापुर, मलाया और चीन के अनेकों व्यक्ति उपस्थित थे और भारतियों की संख्या भी ६० लाख से अधिक थी। सैनिकों ने बड़े उत्साह का प्रदर्शन किया। इस प्रकार श्री बोस के नेतृत्व में आजाद हिन्द फौज ने बड़ी उन्नति की और उसका सगठन अधिक दृढ हो गया। नेताजी में जाति-पाति की भावना नहीं थी। उनके आदेशों का सैनिकों पर अत्यन्त प्रभाव पड़ता था और उनकी प्रतिक्रिया भी शीघ्र होती थी।

वर्मा में आने के पश्चात् नेताजी ने जापानी सशस्त्र सेनाओं के कमाडर-इन-चीफ लैफ्टीनैन्ट जनरल कवावे के माध्यम से जापानी अधिकारियों से फिर वार्ता आरम्भ कर दी। उन्होंने इस बात पर हट किया कि जापानी, भारत पर आक्रमण करने में आजाद हिन्द फौज की पूरी सहायता करें। उनकी योजना यह थी कि फौज में सैनिकों की सख्या कम होते हुए भी वे वर्मा में स्थापित हुई स्वतन्त्र भारत की अस्थायी सरकार की सहायता से भारत में घुस पड़े और इसके पश्चात् जितनी सैनिक शक्ति की आवश्यकता पड़े, वह जापान द्वारा दी जाये। जापान की सरकार ने नेताजी की योजना को स्वीकार कर लिया और इसकी सफलता के उद्देश्य से अनेकों स्थानों पर मोर्चाबन्दी की गई।[1] आजाद हिन्द फौज का युद्ध आरम्भ हुआ परन्तु उसे सफलता न मिली। स्थानाभाव के कारण युद्ध की घटनाओं का विवरण असभव है, केवल आजाद हिन्द फौज की असफलता के कारणों पर प्रकाश डालना पर्याप्त है।

असफलता के कारण—

प्रथम, जापानियों की वगाल और आसाम में असफलता के कारण आजाद-हिन्द फौज के सैनिक अपने लक्ष्य में सफल न [illegible]। भारत की

1. Arakan, Kaladan, Haka, Falan, [illegible] mphal.

सैनिक स्थिति भी इस समय ऐसी थी कि जापानी सेनाओं का बर्मा की ओर से आक्रमण में विजय प्राप्त करना कठिन था। आसाम में आजाद-हिन्द फौज का केवल एक ही डिवीजन था, चटगाँव में केवल एक ही ब्रिगेड और बगाल में दो डिवीजन से भी कम सेना थी। राजनीतिक क्षेत्र में भारतियों में इस समय बड़ा असन्तोष छाया हुआ था। यदि इस बीच में जापानी भारत में आगे बढ़ गए होते तो आजाद-हिन्द फौज को सफलता अवश्य मिल जाती। जापानियों के न बढ़ने से उनके शत्रुओं को अपनी तैयारी करने के लिये समय मिल गया और उनकी सफलता की सम्भावना भी खत्म हो गई। यदि नेताजी सन् १९४२ के बीच में आगये होते तो अवश्य ही इस युद्ध का क्रम बदल जाता।

दूसरे, जापानियों ने भी कैप्टेन मोहनसिंह पर पूरा विश्वास नहीं किया और इसीलिये उन्होंने सन् १९४२–४३ में आजाद-हिन्द फौज के सैनिकों की वृद्धि में योग नहीं दिया। सन् १९४२ में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन जोरों पर चल रहा था। यदि कोई विदेशी आक्रमण इस समय में होता तो उसका परिणाम भारत के लिये अच्छा ही निकलता। परन्तु मोहनसिंह को पर्याप्त सहायता न मिलने के कारण यह सम्भव नहीं हो सका।

तीसरे, कैप्टेन मोहनसिंह का उतावलापन भी आजाद-हिन्द फौज की असफलता का एक कारण बना। वह सच्चे देश-भक्त थे। इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु उनकी युद्ध-नीति अधिक कुशल नहीं रही। इस फौज के कुछ अधिकारी इस आन्दोलन को समाप्त करना चाहते थे और इस कारण मोहनसिंह को गलत राय देते थे। इसी कारण मोहनसिंह ने अपने आक्रमण में उपयुक्त अवसर का प्रयोग नहीं किया और असफल रहे।

चौथे, पहिली आजाद-हिन्द फौज के सगठन में काफी समय लग गया था क्योंकि इसमे भर्ती स्वेच्छा पर आधारित की गई थी, न कि बल प्रयोग पर। लोगों को बलपूर्वक सैनिक नहीं बनाया गया। इसलिये, शक्ति के अपर्याप्त होने के कारण वादविवाद एव विचार की आवश्यकता हुई जिसमें और भी समय नष्ट हुआ। इधर अंग्रेजों को उसके विरुद्ध तैयारी करने का अवसर मिल गया।

पाँचवें, आजाद-हिन्द फौज में सशस्त्र सैनिकों की सख्या कम थी। जापानियों को इस सेना की सामर्थ्य पर विश्वास नहीं था। उनका विचार था कि उनके ही द्वारा अंग्रेजों से स्वतन्त्र किये गये भारतीय फिर

ब्रिटेन से किस प्रकार टक्कर ले सकते थे। उन्होंने भारत की राष्ट्रीय विचार-धारा को ठीक प्रकार नहीं समझा था। इसीलिये उन्होंने एक विशाल सेना बनाने की सम्मति नहीं दी। उनका यह भी ख्याल था कि यदि वे एक विशाल सेना के संगठन में योग देंगे तो वही सेना कभी उनकी भी शत्रु बन सकती थी।

अन्त में, जापानियों के मचूरिया और सिंगापुर के मोर्चों में युद्ध-सामग्री की कमी थी। आजकल के युद्धों में युद्ध-सामग्री के अभाव में सफलता प्राप्त करना असम्भव है। इसके अतिरिक्त, उनकी युद्ध-नीति भी अधिक चतुर नहीं थी। उनके आवागमन के साधन, रसद भेजने का प्रबन्ध एवं सड़कें आदि सभी अपर्याप्त थे और इस कारण भी आजाद-हिन्द फौज को सफलता न मिल सकी। जापानियों के पास पीड़ितों की सहायता का भी कोई अच्छा प्रबन्ध न था और इसपर राशन की कमी और भारत से सहायता न पहुँचने के कारण अन्त में उनकी विजय न हो सकी। इधर अंग्रेजों तथा मित्र-राष्ट्रों के पास अस्त्र-शस्त्र आवश्यकता से भी अधिक थे। विशेषकर फौजी मोटर गाड़ियों बम्ब फेंकने वाले हवाई जहाजों आदि की तो उनके पास कमी न थी। अतः आजाद-हिन्द फौज की वीरता के बावजूद उसकी विजय असम्भव होगई।

अमिट छाप—

परन्तु यह कहना अनुचित होगा कि आजाद-हिन्द फौज का प्रयत्न निष्फल ही रहा। इस फौज के अधिकारियों ने जो प्रशासनिक कार्य किया वह कम महत्वपूर्ण नहीं था। उन्होंने अनेकों रेडियो केन्द्र स्थापित किये और भारतियों को युद्ध के लिये प्रोत्साहन दिया। फौजी स्कूलों की स्थापना की गई और उनमें भारतीय इतिहास-भूगोल, के अध्ययन तथा शारीरिक शिक्षा को प्रधानता दी गई। इसने एक राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की और एक अलग मुद्रा-प्रणाली का प्रयोग किया। डाक-विभाग में नये टिकटों का प्रयोग हुआ और सरकारी विभागों के लिये नये नियम बनाये गए। पुलिस और नागरिक प्रशासन के लिये शिक्षण केन्द्र खोले गए। इनके अतिरिक्त औरतों के लिये एक अलग विभाग की स्थापना की गई जिससे कि युद्ध के समय उनकी सहायता भी उपलब्ध की जा सके। भारतियों के सम्मान को अन्य राष्ट्रों की दृष्टि में बढ़ाने में भी आजाद-हिन्द फौज की कार्यवाहियों ने बड़ा महत्वपूर्ण योग दिया। इसके प्रयत्नों के फलस्वरूप ही पूर्व एवं दक्षिणी-पूर्वी एशिया में भारतियों को स्वतन्त्रता मिल सकी। प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट और चर्चिल को भारत

सैनिक स्थिति भी इस समय ऐसी थी कि जापानी सेनाओं का वर्मा की ओर से आक्रमण में विजय प्राप्त करना कठिन था। आसाम में आजाद-हिन्द फौज का केवल एक ही डिवीजन था, चटगाँव में केवल एक ही ब्रिगेड और बंगाल में दो डिवीजन से भी कम सेना थी। राजनीतिक क्षेत्र में भारतियों में इस समय बड़ा असन्तोष छाया हुआ था। यदि इस बीच में जापानी भारत में आगे बढ गए होते तो आजाद-हिन्द फौज को सफलता अवश्य मिल जाती। जापानियों के न बढने से उनके शत्रुओं को अपनी तैयारी करने के लिये समय मिल गया और उनकी सफलता की सम्भावना भी खत्म हो गई। यदि नेताजी सन् १९४२ के बीच में आगये होते तो अवश्य ही इस युद्ध का क्रम बदल जाता।

दूसरे, जापानियों ने भी कैप्टेन मोहनसिंह पर पूरा विश्वास नहीं किया और इसीलिये उन्होंने सन् १९४२–४३ में आजाद-हिन्द फौज के सैनिकों की वृद्धि में योग नहीं दिया। सन् १९४२ में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन जोरों पर चल रहा था। यदि कोई विदेशी आक्रमण इस समय में होता तो उसका परिणाम भारत के लिये अच्छा ही निकलता। परन्तु मोहनसिंह को पर्याप्त सहायता न मिलने के कारण यह सम्भव नहीं हो सका।

तीसरे, कैप्टेन मोहनसिंह का उतावलापन भी आजाद-हिन्द फौज की असफलता का एक कारण बना। वह सच्चे देश-भक्त थे। इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु उनकी युद्ध-नीति अधिक कुशल नहीं रही। इस फौज के कुछ अधिकारी इस आन्दोलन को समाप्त करना चाहते थे और इस कारण मोहनसिंह को गलत राय देते थे। इसी कारण मोहनसिंह ने अपने आक्रमण में उपयुक्त अवसर का प्रयोग नहीं किया और असफल रहे।

चौथे, पहिली आजाद-हिन्द फौज के संगठन में काफी समय लग गया था क्योंकि इसमें भर्ती स्वेच्छा पर आधारित की गई थी, न कि बल प्रयोग पर। लोगों को बलपूर्वक सैनिक नहीं बनाया गया। इसलिये, शक्ति के अपर्याप्त होने के कारण वादविवाद एवं विचार की आवश्यकता हुई जिसमें और भी समय नष्ट हुआ। इधर अंग्रेजों को उसके विरुद्ध तैयारी करने का अवसर मिल गया।

पाँचवें, आजाद-हिन्द फौज में सशस्त्र सैनिकों की संख्या कम थी। जापानियों को इस सेना की सामर्थ्य पर विश्वास नहीं था। उनका विचार था कि उनके ही द्वारा अंग्रेजों से स्वतन्त्र किये गये भारतीय फिर

अध्याय २०

भारत की स्वतन्त्रता और विभाजन

शिमला कान्फ्रेन्स और वेविल योजना—

यद्यपि क्रिप्स-योजना इस देश में सफल न हुई तथापि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने समझौते की वार्ता को बन्द नहीं किया। द्वितीय महायुद्ध सन् १९४५ के लगभग अपनी अन्तिम स्थिति में था और अँग्रेजों का ध्यान जर्मनी के पतन तथा सेनफ्रान्सिको के सम्मेलन की ओर लगा हुआ था। फिर भी, भारत की राजनीतिक समस्याओं को भी अधिक दिनों तक स्थगित नहीं किया जा सकता था। मित्रराष्ट्रों ने आत्म-निर्णय को महायुद्ध का उद्देश्य घोषित किया था। अन्य राष्ट्रों के इङ्गलैंड पर दबाव तथा युद्ध में भारतियों द्वारा की गई सेवाओं के कारण अँग्रेजी-सरकार को उनकी माँगों की ओर ध्यान देना पड़ा। सन् १९४२ के 'भारत-छोड़ो' आन्दोलन ने अँग्रेजों को भारत छोड़ने की चेतावनी दे दी थी। नेता सुभाषचन्द्र बोस ने आजाद हिन्द फौज को एक नया जीवन देकर और वर्मा में स्वतन्त्र सरकार की स्थापना कर इगलैंड को चौकन्ना कर दिया था। ऐसी परिस्थिति में भारतीय-सरकार के लिये शिमला में एक कान्फ्रेन्स बुलाना आवश्यक हो गया।

भारत की समस्याओं पर ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का परामर्श लेने के लिये लार्ड वेविल इङ्गलैंड गये और एक नई योजना के साथ वापिस लौटे। १४ जून सन् १९४५ को उन्होंने इस योजना का रेडियो द्वारा प्रसार किया। यह योजना उन्हीं के नाम पर 'वेविल योजना' के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने कहा कि वे एक नई कार्यकारिणी-समिति का निर्माण करेंगे जिसमें कांग्रेस के नेता तथा देश की अन्य सभी जातियों के प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे और ठेठ हिन्दुओं और मुसलमानों की सख्या बराबर होगी। यह भी कहा कि यद्यपि यह समिति सन् १९३५ के भारत-सरकार अधिनियम के अनुसार कार्य करेगी, तथापि यह एक पूर्णरूप से भारतियों द्वारा निर्मित समित होगी, केवल वाइस-

की स्वतन्त्रता की आवश्यकता अनुभव कराने में इस फौज की कार्यवाहियाँ बड़ी हितकर सिद्ध हुई। आर्थिक क्षेत्र में, पूर्व एव दक्षिणी-पूर्वी एशिया से भारत के व्यापारिक सम्बन्ध दृढ कर इसने देश को अनेकों सुविधायें प्रदान कीं। अनेकों कारखाने खोले गये और पूर्ति को सगठित करने का प्रयत्न किया गया।

सैनिक क्षेत्र में भी आजाद-हिन्द फौज का महत्व कम नहीं है। यह भारत की प्रथम राष्ट्रीय सेना थी जिसकी शिक्षा एव नेतृत्व आदि भारतियों के ही हाथ में थे। प्रथम बार सैनिक आदेशों में हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग किया गया और भारतीय सैनिक अफसरों ने स्वय ही युद्ध योजनाएँ बनाकर उसे कार्यरूप दिया। इस प्रकार यद्यपि आजाद-हिन्द फौज अपने लक्ष्य में सफल न हो सकी तथापि उसने देश के राष्ट्रीय आन्दोलन पर अपनी अमिट छाप लगाकर उसकी गति में परिवर्तन अवश्य कर दिया।

——

गया कि जब योजना के अनुसार केन्द्र तथा प्रान्तों में सरकारें स्थापित हो जायँगी तो वे इस प्रश्न पर विचार करेंगी। अन्त में वाइसराय ने भारतियों की सैनिक दक्षता एव राजनीतिक बुद्धिमत्ता की प्रशंसा की। उन्होंने कहा कि ससार के अन्य राष्ट्रों में भारतियों के लिये सहानुभूति बढती जा रही है और उनके सपूतों की वीरता तथा अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्सों में कूटनीतिज्ञता ने विदेशों में उनके प्रति सम्मान की भावनाएँ उत्पन्न कर दी हैं।

शिमला कांन्फ्रेस—

जहाँ तक इस कान्फ्रेन्स में प्रतिनिधि भेजने का प्रश्न था, इसमें कोई गड़बड़ी नहीं हुई। सभी दलों ने २५ जून की कान्फ्रेन्स का वाइसराय का आमन्त्रण स्वीकार कर लिया और इसका उद्घाटन भी आसानी से हो गया। मौलाना अबुलकलाम आजाद कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से और महात्मा गाधी केवल मन्त्रणा देने के लिये उपस्थित हुए। परन्तु विभिन्न दलों में समझौता न हो सका, अतः २६ जून को इसे स्थगित करना ही उचित समझा गया। इसके पश्चात् वाइसराय प्रमुख दलों के नेताओं से स्वयं इसलिये मिलते रहे कि उनमें कोई पारस्परिक समझौता हो जाये। परन्तु श्री जिन्ना के हठ के कारण यह संभव न हो सका। वे चाहते थे कि मुस्लिम लीग को मुसलमानों की एक मात्र प्रतिनिधि समझा जाये और कार्यकारिणी में मुसलमान सदस्यों की नामजदगी का अधिकार उसे (या स्वयं को) दिया जाये। उनका कहना था कि कांग्रेस हिन्दुओं की सस्था है अतः उसे अन्य जाति के प्रतिनिधियों की नियुक्ति से सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। परन्तु उनकी इस माँग से कांग्रेस सन्तुष्ट नहीं थी। क्योंकि वह अपने राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व के अधिकार को नहीं त्याग सकती थी। इसलिये १४ जुलाई को वाइसराय ने इस कान्फ्रेन्स की असफलता की घोषणा करदी। इसका आरम्भ उच्च आशाओं में हुआ और अन्त निरर्थक एव दुःखद। वास्तव में जिन्ना ही इसकी असफलता के कारण नहीं थे। वह योजना स्वयं दोषपूर्ण थी। जातीय प्रतिनिधित्व के झंझट के कारण यह सर्व-स्वीकृत नहीं हुई। कार्यकारिणी में हिन्दुओं और मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का अनुपात पहिले भी बराबर था और इस योजना से उस दिशा में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता था। केवल इस वास्तविक सत्य को नियमित बनाने का प्रयत्न किया गया था। समानता के अनुपात का अधिकार मिल जाने पर जिन्ना के लिये यह स्वाभाविक था कि लीग के, मुस्लिम सदस्यों की नियुक्ति के अधिकार की माँग करते, उधर कांग्रेस अपने को केवल हिन्दुओं की प्रतिनिधि मानने को तैयार न थी। इसलिये यह कान्फ्रेन्स फेल हो गई।

राय और कमाण्डर-इन-चीफ विदेशी होंगे, और कमाण्डर-इन-चीफ युद्ध-मन्त्री की हैसियत से कार्य करेगा; वैदेशिक कार्यों का विभाग भी, ब्रिटिश भारत के हितों के लिए, भारतियों के हाथों में दे दिया जावेगा और भारत में ब्रिटेन के व्यापारिक एव अन्य हितों की रक्षा के लिये एक अँग्रेज हाई-कमिश्नर नियुक्त किया जायेगा। वाइसराय ने बताया कि यह योजना भारतियों के स्वशासन के मार्ग पर एक नया कदम है क्योंकि इसमें वित्त, गृह तथा वैदेशिक आदि विभाग उनको ही दे दिये गये हैं। इनमें भाग लेने वाले अधिकारियों की नियुक्ति देश के प्रमुख राजनीतिक दलों के नेताओं की स्वीकृति पर आधारित कर दी गई। इस योजना में कार्यकारिणी को कुछ नये कार्य भी दिये गये— प्रथम, देश की समस्त शक्ति को युद्ध में जापान के विरुद्ध लगा देना; दूसरे, सरकार की ओर से राज्य करना और युद्ध की समाप्ति के पश्चात् एक सर्वमान्य सविधान के लागू होने तक कार्य-भार सँभालना; और तीसरे, सविधान की सर्वमान्यता के लिये इस बीच में विभिन्न दलों में समझौते के प्रयत्न करना।[1]

वाइसराय ने यह घोषणा की कि वे एक कान्फ्रेन्स का आयोजन करेंगे जिसमें प्रान्तों के मौजूदा और पिछले प्रधान-मन्त्री, केन्द्रीय एसेम्बली में मुस्लिम-लीग और काग्रेस के नेता एव उप-नेतागण, यूरोपियन दल और राष्ट्रीयदल के नेता मुख्य राजनीतिक दलों की ओर से महात्मा गान्धी और श्री जिन्ना, अछूतों के प्रतिनिधि रावबहादुर एन० शिवराज और सिक्खों की ओर से मास्टर तारासिंह आमन्त्रित किये जायेंगे। यह कान्फ्रेन्स २५ जून सन १९४५ से शिमले में आरम्भ हुई और इसीलिये इतिहास में शिमला कान्फ्रेन्स के नाम से प्रसिद्ध है।

इस अवसर पर वाइसराय ने यह आशा प्रकट की कि यदि कान्फ्रेन्स सफल हो गई तो उसके पश्चात् सन् १९३५ के अधिनियम की धारा ९३ के अनुसार प्रान्तों में सयुक्त मन्त्रिमण्डलों की स्थापना करेंगे। उन्होंने विभिन्न दलों के नेताओं को विश्वास दिलाते हुए कहा कि इस योजना के पीछे ब्रिटिश जनता और उसके प्रमुख व्यक्तियों की, भारत को स्वाधीनता के मार्ग में अग्रसर करने की इच्छा छुपी हुई है।[2] इस योजना में 'भारत-छोड़ो' आन्दोलन के सम्बन्ध में गिरफ्तार किये गये, काग्रेस की कार्यसमिति के सदस्यों को मुक्त करने की व्यवस्था भी की गई। अन्य कैदियों के सम्बन्ध में यह निर्णय किया

1 The Indian Review July. 1945
2 Ibid

गया कि जब योजना के अनुसार केन्द्र तथा प्रान्तों में सरकारें स्थापित हो जायँगी तो वे इस प्रश्न पर विचार करेगी। अन्त में वाइसराय ने भारतियों की सैनिक दक्षता एवं राजनीतिक बुद्धिमत्ता की प्रशसा की। उन्होंने कहा कि ससार के अन्य राष्ट्रों में भारतियों के लिये सहानुभूति बढती जा रही है और उनके सपूतों की वीरता तथा अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्सों में कूटनीतिज्ञता ने विदेशों में उनके प्रति सम्मान की भावनाएँ उत्पन्न कर दी हैं।

शिमला कांन्फ्रेस—

जहाँ तक इस कान्फ्रेन्स में प्रतिनिधि भेजने का प्रश्न था, इसमें कोई गड़बड़ी नहीं हुई। सभी दलों ने २५ जून की कान्फ्रेन्स का वाइसराय का आमन्त्रण स्वीकार कर लिया और इसका उद्घाटन भी आसानी से हो गया। मौलाना अबुलकलाम आजाद काग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से और महात्मा गाधी केवल मन्त्रणा देने के लिये उपस्थित हुए। परन्तु विभिन्न दलों में समझौता न हो सका, अतः २६ जून को इसे स्थगित करना ही उचित समझा गया। इसके पश्चात् वाइसराय प्रमुख दलों के नेताओं से स्वयं इसलिये मिलते रहे कि उनमें कोई पारस्परिक समझौता हो जाये। परन्तु श्री जिन्ना के हठ के कारण यह समव न हो सका। वे चाहते थे कि मुस्लिम लीग को मुसलमानों की एक मात्र प्रतिनिधि समझा जाये और कार्यकारिणी में मुसलमान सदस्यों की नामजदगी का अधिकार उसे (या स्वयं को) दिया जाये। उनका कहना था कि काग्रेस हिन्दुओं की संस्था है अतः उसे अन्य जाति के प्रतिनिधियों की नियुक्ति से सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। परन्तु उनकी इस मॉग से काग्रेस सन्तुष्ट नहीं थी। क्योंकि वह अपने राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व के अधिकार को नहीं त्याग सकती थी। इसलिये १४ जुलाई को वाइसराय ने इस कान्फ्रेन्स की असफलता की घोषणा करदी। इसका आरम्भ उच्च आशाओं में हुआ और अन्त निरर्थक एवं दुःखद। वास्तव में जिन्ना ही इसकी असफलता के कारण नहीं थे। यह योजना स्वयं दोषपूर्ण थी। जातीय प्रतिनिधित्व के झंझट के कारण यह सर्व-स्वीकृत नहीं हुई। कार्यकारिणी में हिन्दुओं और मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का अनुपात पहिले भी बराबर था और इस योजना से उस दिशा में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता था। केवल इस वास्तविक सत्य को नियमित बनाने का प्रयत्न किया गया था। समानता के अनुपात का अधिकार मिल जाने पर जिन्ना के लिये यह स्वाभाविक था कि लीग के, मुस्लिम सदस्यों की नियुक्ति के अधिकार की मॉग करते, उधर काग्रेस अपने को केवल हिन्दुओं की प्रतिनिधि मानने को तैयार न थी। इसलिये यह कान्फ्रेन्स फेल हो गई।

केबिनेट मिशन—

शिमला कान्फ्रेन्स के असफल हो जाने पर भी, तात्कालिक परिस्थितियों के कारण अंग्रेज समझौते की वार्ता का अध्याय समाप्त नहीं कर सकते थे। इसके एक महीने पश्चात् ही लार्ड वेविल को फिर इंग्लैंड बुलाया गया और १६ सितम्बर को लौटने पर उन्होंने एक नई योजना की घोषणा की जो द्वितीय वेविल-योजना के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु इससे भी देश के राजनीतिक दलों के नेता सन्तुष्ट न हो सके क्योंकि उनके विचार में यह क्रिप्स योजना से विशेष भिन्न नहीं थी।[1] फिर भी इससे एक लाभ अवश्य हुआ। सन्धि-वार्ता की एक कड़ी बनकर इसने अँग्रेजों और भारतियों के बीच समझौते के रुख को जारी रक्खा।

१६ फरवरी सन् १६४६ को ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री श्री एटली ने कामन्स-सभा में और लार्ड पैथिक लारैन्स ने यह घोषणा की कि शीघ्र ही केबिनेट के तीन सदस्य—लार्ड पैथिक लारैंस स्वयं, सर स्टैफोर्ड क्रिप्स और श्री ए० वी० एलैक्जैंडर[2]—एक नये संविधान के निर्माण पर भारतीय नेताओं से परामर्श करने के लिये भारत आयेंगे।[3] इस घोषणा से देश में खुशी की लहर फैल गई। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि केबिनेट सदस्यों का यह दल भारतीय-स्वतन्त्रता के अंग-प्रत्यंगों पर पूर्ण प्रकाश डाल सकेगा परन्तु सबसे पहिले इसे भारत की पूर्ण स्वाधीनता की माग को मान्यता देनी चाहिये। मौलाना अबुलकलाम आजाद को यह आशा होने लगी कि कांग्रेस को देश की स्वाधीनता के लिये अब अधिक संघर्ष नहीं करना पड़ेगा। सरदार वल्लभ भाई पटेल ने कहा कि केवल एक वर्ष के समय में भारत अवश्य स्वतन्त्र हो जायगा। यह आशायें निराधार नहीं थीं। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की घोषणाओं एवं प्रेस विज्ञप्तियों से यह प्रतीत होने लगा था कि वे वास्तव में भारतियों को स्वतन्त्रता दे देने के इच्छुक हैं।

१५ मार्च को एटली महोदय ने कामन-सभा में यह भी घोषणा की कि इस बार कोई भी अल्प-संख्यक-दल बहुमत के निर्णयों पर अभिषेध का प्रयोग नहीं करेगा।[4] इस घोषणा की भाषा स्पष्ट थी और भारतियों के लिये

---

1 The Indian Review October, 1946
2 They were also Secretary of State for India, President of the Board of Trade and Lord of the Admiralty respectively
3 The Indian Annual Register, Jan-June, 1946
4 Ibid

आशापूर्ण थी। परन्तु इससे जिन्ना को बड़ा खेद हुआ क्योंकि अपनी पाकिस्तान की माँग में उन्होंने औचित्य को भी त्याग रक्खा था। उन्होंने कहा कि गान्धीजी और कांग्रेस ने केबिनट मिशन से समझौते के वातावरण को दूषित कर दिया है।

१६ मार्च को यह मिशन इंग्लैंड से हवाई जहाज द्वारा रवाना हुआ और २२ तारीख को बम्बई आकर उतरा। दूसरे दिन यह करांची पहुँचा और इसके पश्चात् २४ तारीख को देहली आया। २५ मार्च को लार्ड पैथिक लारेंस ने यह घोषणा की कि हम सम्राट् की ओर से, भारतीय स्वतन्त्रता के लिये अपने कर्त्तव्यों को पूरी तरह निभाने के निश्चित विचार से ही आये हैं, और हमारा किसी विचारधारा विशेष से घनिष्ट सम्पर्क नहीं होगा; परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम स्थिर चित्त होकर कार्य नहीं करेंगे। इसके बाद मुलाकातें आरम्भ हुई। २७ मार्च को यह लोग वाइसराय से मिले और दूसरे दिन प्रान्तीय गवर्नरों के साथ ढाई घन्टे तक एक सम्मेलन हुआ। २६ मार्च को इन्हीं गवर्नरों से एक पृथक् दल के रूप में भेंट हुई।

पहिली अप्रैल से मिशन ने देश के नेताओं से मिलना आरम्भ किया। सबसे पहिले ये तीनों व्यक्ति उत्तर-पश्चिमीय सीमा प्रान्त के कांग्रेसी प्रधानमंत्री डा० खान साहब से मिले। इसी दिन सर स्ट्रैफोर्ड क्रिप्स ने महात्मा गाँधी से भेंट की और नई दिल्ली में एक प्रेस सम्मेलन से समागम किया। २ अप्रैल को देशी राज्यों के सम्बन्ध में राज्य-सदन (Chamber of Princes) के चान्सलर तथा अन्य पाँच राजाओं से बातचीत हुई। ३ अप्रैल को यह मिशन महात्मा गाँधी और अबुल कलाम आजाद से मिला। सर तेजबहादुर सप्रू ने भी इन व्यक्तियों से समागम किया और अन्तरिम शासन के शीघ्र-स्थापन की आवश्यकता पर जोर दिया। ४ अप्रैल को श्री जिन्ना और सिन्ध के प्रधानमंत्री सर गुलाम हुसैन तथा मिशन के बीच वार्ता हुई। ५ अप्रैल को यह मिशन सिक्ख नेताओं, पंजाब के प्रधानमन्त्री तथा हरिजनों के नेता डा० अम्बेडकर से मिला। ६ अप्रैल को, बम्बई, उत्तर प्रदेश और बिहार के प्रधान-मन्त्रियों, पंडित रविशंकर और श्री हरेकृष्ण महताब ने एक साथ मिशन से भेंट की। ६ अप्रैल को देशी राज्यों के तीन प्रतिनिधि—छतारी के नवाब, सर सी. पी रामास्वामी अय्यर और सर मिर्जा इस्माइल—मिशन के सदस्यों से मिले। १२ अप्रैल को ये लोग केन्द्रीय धारा सभा के यूरोपियन दल के नेता श्री पी. जी. ग्रिफिथ्स्, श्रीयुत शरतचन्द्र बोस, पंडित हृदयनाथ कुंजरू और

श्री इमाम हुसैन से मिले। इस प्रकार केबिनेट मिशन की कार्यवाहियों का प्रथम चरण समाप्त हुआ।

१६ अप्रैल को श्री जिन्ना के साथ सन्धि-वार्ता से मिशन की कार्यवाहियों का दूसरा भाग शुरू होता है। इस बार मिशन ने नेताओं के बीच समझौता कराने का प्रयत्न किया। इसके द्वारा भारतीय नेताओं से परस्पर समझौते की प्रार्थना मिशन की विशिष्टता थी। प्रार्थना की आवश्यकता भी इस कारण हुई कि सभी प्रमुख दलों के उद्देश्य सुप्रसिद्ध और निर्धारित थे। कांग्रेस बहुत समय से कहती आ रही थी कि वह देश के विभाजन अथवा उसके संविधान के निर्माण के लिये दो संविधान-सभाओं की माँग को स्वीकार नहीं करेगी। मिशन के साथ समागम में भी इसके नेताओं ने इसी बात पर जोर दिया। परन्तु श्री जिन्ना की यह सबसे बड़ी माँग थी। सिक्ख नेताओं ने यह घोषणा की कि यदि मुसलमानों की पाकिस्तान की माँग स्वीकार की गई तो उनके लिये भी पृथक राज्य की स्थापना आवश्यक होगी।[1] परन्तु विरोधी माँगों के बीच में भी राष्ट्रीयता का प्रकाश दिखाई पड़ रहा था। पारसी, भारतीय ईसाई और ऐंग्लो-इण्डियन लोगों की माँगें उनकी प्रगतिशील राष्ट्रीय भावना की सूचक थीं। पाकिस्तान बनने पर श्री जिन्ना की गृह-युद्ध एवं रक्तपात की धमकी को देखते हुए इन अल्प-संख्यक जातियों का व्यवहार सराहनीय है।

यह निश्चित हुआ कि शिमला में एक कान्फ्रेंस बुलाई जाये और उसमें सभी दलों के बीच समझौते के लिये बातचीत हो। ७ अप्रैल को मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, श्री आसफअली के साथ मिशन से मिले। १८ अप्रैल को सर स्टैफोर्ड क्रिप्स ने लगभग ढाई घन्टे तक गांधीजी से बातचीत की। सब लोगों का यह विश्वास था कि क्रिप्स महोदय सदस्यों के काश्मीर जाने के पहिले गांधीजी तथा जिन्ना के बीच मेल कराने का प्रयत्न कर रहे हैं।[2] १९ अप्रैल को यह मिशन काश्मीर चला गया और पाँच दिनों तक इसके सदस्यों ने पूर्ण अवकाश का भोग किया। २७ अप्रैल को मिशन ने दोनों प्रमुख दलों के अध्यक्षों से एक कान्फ्रेंस के लिये अपने प्रतिनिधि नामजद करने के लिये प्रार्थना की। २८ अप्रैल को कांग्रेस की कार्य-समिति ने मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, पंडित जवाहरलाल नेहरू, खान अब्दुल गफ्फार खाँ

1 Ibid
2 India Steps Forward The Story of the Cabinet Mission in India by Jag Parvesh Chander

और श्री वल्लभभाई पटेल को इस कान्फ्रेंस में भाग लेने के लिये नियुक्त किया। लीग की ओर से श्री जिन्ना, नवाब जादा लियाकतअली खाँ, नवाब मुहम्मद इस्माइल खाँ और खान अब्दुल रब निश्तर इस कार्य के लिये नियुक्त किये गये। ५ मई को प्रातः दस बजे वाइसराय-भवन में तीन दलों का यह कान्फ्रेंस आरम्भ हुआ। एक सप्ताह के पश्चात् १२ मई को इसकी असफलता की घोषणा कर दी गई। परन्तु इस कान्फ्रेंस के भग हो जाने से मिशन की कार्यवाहियों को समाप्त नहीं समझा गया।[1]

पिछली कान्फ्रेंस की भाँति इस कान्फ्रेंस की निष्फलता के लिये भी श्री जिन्ना उत्तरदायी थे। उन्होंने अपना हठ जारी रक्खा और समझौते की सूरतें बनाने का प्रयत्न नहीं किया। वे पंजाब, उत्तर-पश्चिमीय सीमा प्रान्त, बिलोचिस्तान, सिन्ध, बगाल और आसाम के छः मुस्लिम प्रान्तों को मिलाकर पाकिस्तान बनाना चाहते थे। अतः १६ मई को केबिनट मिशन ने, श्री एटली की १५ मार्च की घोषणा की ओर सकेत करते हुए सत्ता के हस्तान्तरण के सम्बन्ध में एक घोषणा की। उन्होंने भारतियों की स्वीकृति के लिये एक नई योजना प्रस्तुत की जिसके कार्यारोपण के रूप इस प्रकार थे :—

(१) ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों को मिलाकर एक सघ बनाया जाये जिसे वैदेशिक कार्यों, रक्षा और यातायात की देखभाल करने का अधिकार तथा इन विषयों के लिये अर्थ-प्रबन्ध की शक्ति दी जाये;

(२) सघ की एक कार्यकारिणी हो जिस में ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों,

(३) सघीय विषयों के अतिरिक्त अन्य सभी विषय तथा अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों को दी जायें,

(४) देशी राज्यों को भी सघीय विषयों के अतिरिक्त सभी शक्तियाँ और अवशिष्ट अधिकार मिले।

(५) प्रान्तों को अलग-अलग समुदाय बनाने तथा प्रत्येक समुदाय की अलग कार्यकारिणी और धारा-सभा बनाने का अधिकार हो, और

(६) सघ तथा समुदायों के सविधान में इस प्रकार की धारा हो जिसके अनुसार प्रत्येक प्रान्त दस वर्ष बाद अपने धारा-सभा के बहुमत द्वारा सविधान की धाराओं पर पुनर्विचार कर सके।

---

1 Ibid

इस योजना को स्पष्ट करने के पश्चात् केबिनट मिशन ने सविधान-सभा के बनाने का निर्णय किया और इस कार्य के लिये हाल ही में हुये प्रान्तीय एसेम्बिलियों के चुनावों का उपयोग किया गया। प्रत्येक प्रान्त को अपनी जनसख्या के आधार पर सीटें प्रदान की गई और ये सीटें प्रान्त के प्रमुख सम्प्रदायों के अनुपात में विभाजित कर दी गई। सविधान बनकर तैयार होने तथा उसके कार्यारोपण के काल तक शासन भार सम्भालने के लिये एक अन्तरिम सरकार की स्थापना का आयोजन किया। पाकिस्तान के निर्माण के सम्बन्ध में लार्ड पैथिक लारेन्स ने कहा कि मुसलमानों के लिये अलग प्रान्त बना देने पर भी जातीय प्रश्न हल नहीं होगा। क्योंकि पाकिस्तान में भी लगभग ४०% हिन्दू रहेंगे और कुछ शहरों जैसे कलकत्ता आदि में तो मुसलमान एक तिहाई से अधिक नहीं हैं। उन्होंने कहा कि पाकिस्तान के भारत से बिल्कुल अलग हो जाने पर सेना के विभाजन के कारण देश की रक्षा न हो सकेगी। इसीलिये उन्होंने पाकिस्तान की माग को महत्त्व नहीं दिया। वास्तव में पाकिस्तान की योजना को ठुकराकर मिशन ने अच्छा किया परन्तु प्रांतों को सघ से निकलने का अधिकार देश के लिये हितकर न था।

२९ जून को केबिनट मिशन भारत से चला गया। १६ मई से लेकर प्रस्थान तक का समय घटनाओं से परिपूर्ण था। इस बीच में वाइसराय ने एक सयुक्त अन्तरिम सरकार बनाने का भरसक प्रयत्न किया। परन्तु काग्रेस, अपने आदर्शों के कारण, मुस्लिम लीग की बराबरी की माग को स्वीकार नहीं कर सकती थी। लीग ने इस सरकार की स्थापित करने के सम्बन्ध में वाइसराय से बातचीत करने के लिये श्री जिन्ना को नियुक्त किया। काग्रेस को इस मिशन की योजना से बहुत शिकायतें थीं। प्रान्तों का समुदाय बनाने का अधिकार देना काग्रेस की सम्मति में देश के सगठन के लिये अहितकर था। इसके अतिरिक्त वाइसराय ने अन्तरिम शासन में ऐसे मुसलमानों को सम्मिलित न करने पर जोर दिया जो लीग के सदस्य नहीं थे। इसलिये काग्रेस ने इस योजना का विरोध किया।[1] इस पर वाइसराय ने स्वय ही अन्तरिम सरकार के अधिकारियों के नाम घोषित कर दिये। वे यह थे: सरदार बल्देवसिंह, सर एन० पी० इजीनियर, श्री जगजीवन राम, पडित जवाहरलाल नेहरू, श्री मोहम्मदअली जिन्ना, नवाबजादा लियाकतअली खाँ, श्री सी० राजगोपालाचार्य, डा० राजेन्द्रप्रसाद, श्री एच० के० महताब, डा० जानमथाई, नवाब मोहम्मद

1 Indian National Congress Report of the General Secretaries March, 1940-Oct, 1946

इस्माइल खॉ, ख्वाजा सर निजामुद्दीन, सरदार अब्दुर रब निश्तर और सरदार बल्लभ भाई पटेल।

काग्रेस की कार्यसमिति की सम्मति में यह सूची बड़ी दोषपूर्ण थी क्योंकि इसमें हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच संतुलन के सिद्धान्त को अपनाया गया था और काग्रेस के मुसलमानों को सम्मिलित नहीं किया गया था। अतः उसने अन्तरिम सरकार के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। परन्तु योजना में प्रस्तावित सविधान-सभा में सम्मिलित होने की स्वीकृति इसने दे दी। इस पर वाइसराय ने सरकारी कर्मचारियों की एक अस्थाई सरकार बनाने का निश्चय किया और केबिनट मिशन के भारत से जाने के पूर्व यह सरकार बन चुकी थी।

इसके पश्चात् श्री जिन्ना ने लीग द्वारा अन्तरिम सरकार बनाने की माग प्रस्तुत की परन्तु वाइसराय ने मना कर दिया। इसपर श्री जिन्ना ने उनपर १६ जून को दिये गये वक्तव्य से फिर जाने का दोष लगाया। स्वार्थांधता के कारण उनके पास अन्य युक्ति नहीं रह गई थी। इधर वाइसराय तथा काग्रेस के बीच वार्ताओं के परिणाम स्वरूप वार्धा में कार्य समिति की बैठक हुई जिसमें काग्रेस के अध्यक्ष को वाइसराय द्वारा अस्थाई राष्ट्रीय सरकार की स्थापना का आमन्त्रण स्वीकार करने का अधिकार दे दिया गया। पडित जवाहरलाल नेहरू, श्री जिन्ना से मिले और उनसे अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने का प्रस्ताव किया। परन्तु उन्होंने मना कर दिया। इसके पश्चात् श्री नेहरू ने लीग की उपेक्षा कर एक मत्रिमडल का सगठन किया जिसमें ये व्यक्ति सम्मिलित थे : वे स्वय, सरदार बल्लभ भाई पटेल, डा० राजेन्द्रप्रसाद, श्री शरतचन्द बोस, श्री जगजीवनराम, श्री राजगोपालाचार्य, श्री आसफअली, डा० जानमथाई, सरदार बलदेवसिंह, सर शफात अहमदखॉं, सैयद अलीजहीर, श्री सी० एच० भाभा। लीग का सहयोग प्राप्त करने के लिये पुनः प्रयत्न किया गया और इस बार उसने अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने की स्वीकृति दे दी। अत्यन्त तर्क-वितर्क के पश्चात् विभागों का वितरण हुआ। श्री लियाकत अलीखा को वित्त (Finance), श्री आई० आई० चुन्दरीगर को व्यवसाय (Commerce) श्री अब्दुर रब निश्तर को यातायात, श्री गजनफरअली खॉं को स्वास्थ्य और श्री जोगेन्द्रनाथ मंडल को विधेयक विभागों का कार्य सौंपा गया।

२० फरवरी सन् १६४७ को श्री क्लीमेन्ट एटली ने कामन्स-सभा[1] में

1. Parliamentary Debates: Hansard, Vol 433, No 52 dated Feb. 20, 1947.

और लार्ड पैथिक लारेंस ने लार्ड-सभा[1] में यह घोषणा की कि सम्राट् की सरकार केबिनट मिशन की योजना के अनुसार नये सविधान के अन्तर्गत स्थापित सरकार को शासन का उत्तरदायित्व सौंपना चाहती है, परन्तु दुर्भाग्य-वश एक सर्वमान्य सविधान और सरकार की स्थापना निकट भविष्य में सभव प्रतीत नहीं होती है; यह अनिश्चितता की दशा अधिक समय तक नहीं रहने दी जायगी और जून सन् १९४८ तक सत्ता का हस्तान्तरण अवश्यम्भावी है। यह घोषणा बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके द्वारा सत्ता के हस्तान्तरण की एक निश्चित तिथि प्रकट करदी गई। परन्तु लीग पर इसका प्रभाव बुरा पड़ा और उसने पाकिस्तान की माँग को और भी जोरों से शुरू कर दिया। इसने यह भी प्रयत्न आरम्भ कर दिया कि अधिक से अधिक सख्या में प्रान्त इसके द्वारा प्रभावित हो सकें। इसके लिये कम मुस्लिम जनसख्या वाले प्रदेशों में सविनय अवज्ञा और अन्य प्रान्तों में आक्रामक-नीति का पालन आरम्भ कर दिया गया। समस्त देश में हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच झगड़ों की योजना कार्यान्वित की गई। केवल कलकत्ते में से १८ अगस्त के दिन लगभग एक हजार व्यक्ति इन झगड़ों के कारण मर गये और दो हजार के लगभग घायल हुये।[2] इस काल के बलवों में जो अत्याचार किये गये उनके सामने मध्यकालीन भारत की रोमाचकारी घटनायें भी कुछ नहीं हैं। कलकत्ता के पश्चात् नोआ-खाली में साम्प्रदायिक झगड़ों की आग फैली परन्तु महात्मा गाधी के प्रयत्नों के कारण हानि अधिक नहीं हुई। इसके पश्चात् पजाब में बलवे शुरू हुए और फिर सारे देश में इसकी लहर फैल गई। भारत का कोई भी कोना इन झगड़ों से न बच सका।

ऐसी परिस्थिति में देश के विभाजन को ही एकमात्र उपाय समझा गया। २ जून सन् १९४७ को वाइसराय ने भारतीय नेताओं का एक सम्मेलन आयोजित किया जिसमें पण्डित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, आचार्य कृपलानी (कांग्रेस की ओर से), जिन्ना, लियाकतअलीखाँ, अब्दुल निश्तर (लीग की ओर से) और सरदार बल्देवसिंह (सिक्खों की ओर से) सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में सम्राट् की भारत के विभाजन की योजना पर विचार किया गया। दो घटे के विचार के पश्चात् यह दूसरे दिन के लिये स्थगित कर दिया गया। इस बीच में नेताओं ने अपने दलों से परामर्श कर उनकी स्वीकृति ले ली। १० जून को वाइसराय ने पजाब और बगाल के

1 Parliamentary Debates Hansard, Vol 145, No. 33 dated Feb 20, 1947
2. Indian Review Sept, 1946.

विभाजन की विधि की घोषणा करदी। २० जून को बंगाल की धारा-सभा ने प्रान्त के विभाजन का निर्णय किया।[1] २३ जून को पंजाब की धारा-सभा के पूर्वी भाग के सदस्यों ने विभाजन की स्वीकृति दे दी। २८ जून को बिलोचिस्तान और १३ जुलाई को सिलहट प्रान्तों की धारा-सभाओं ने भी पाकिस्तान में सम्मिलित होने की स्वीकृति दे दी। सीमा आयोगों ने भी देश के विभाजन का निर्णय दिया जिसके अनुसार विभिन्न प्रान्तों का विभाजन इस प्रकार किया गया।

(१) पश्चिमी पंजाब—में रावलपिंडी और मुल्तान के पूरे डिवीजन और लाहौर के (अ) गुजरानवाला, शेखूपुरा और सियालकोट के जिले (आ) शंकरगढ तहसील, और (इ) चुनिया। लाहौर तहसील और कासूर तहसील के कुछ भाग सम्मिलित किए गए।

(२) पूर्वी बंगाल में चटगॉंव और ढाका डिवीजन, राजशाही डिवीजन के रगपुर, बोगरा, राजशाही और पावना के जिले, नाडिया के कुछ भाग, जैसोर, दिनाजपुर, जलपायगुरी और मालडा के जिले सम्मिलित किए गये।

(३) पूर्वी पंजाब में अम्बाला डिवीजन, जालन्धर डिवीजन, (अ) अमृतसर का जिला (आ) पठानकोट, गुरदासपुर और बटाला की तहसीलें और (इ) कासूर तहसील के कुछ भाग सम्मिलित किये गये।

(४) पश्चिमी बंगाल में वर्दमान डिवीजन, राजशाही डिवीजन का दार्जलिंग जिला, कलकत्ता, २४ परगना और मुर्शिदाबाद, प्रेसीडेन्सी डिवीजन के जिले और नाडिया का शेष भाग, जैसोर, दीनाजपुर, जलपायगुरी और मालडा के जिले सम्मिलित किये गये।

(५) सिलहट में पठारकण्डी, रतनारी, करीमगज और बद्रपुर के अतिरिक्त यह सारा जिला पूर्वी बगाल में सम्मिलित कर दिया गया।[2]

जबकि भारत में यह निर्णय हो रहा था, अँग्रेज राजनीतिज्ञ भी देश की समस्याओं को सुलझाने के लिये प्रयत्नशील थे। १५ जुलाई १९४७ को कामन्स-सभा में भारतीय स्वतन्त्रता बिल पास हुआ, जिसमें सत्ता के हस्तान्तरण की तिथि (१५ अगस्त १९४७) निश्चित की गई थी। भारत की स्वतन्त्रता में देरी करने से देश की राजनैतिक स्थिति दिन प्रतिदिन बिगड़ती जा रही थी। यह अति आवश्यक था कि सत्ता का हस्तान्तरण शीघ्रातिशीघ्र

1. Indian Review, July 1947.
2. Dawn, dated August 18, 1947

हो जाये और अँग्रेज लोग भारत को छोड़ कर चले जायँ। इस विल ने यह अन्तिम रूप से निश्चित् कर दिया कि १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत पूर्ण रूप से स्वतन्त्र कर दिया जायेगा और भारत दो भागों—भारतीय-संघ और पाकिस्तान में विभाजित कर दिया जायेगा। इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता के इस विल ने देश विभाजन को एक निश्चित तथ्य बना दिया।

देश का विभाजन एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। इसके परिणाम हितकर हैं और अहितकर भी। यदि भारत एक संगठित राष्ट्र रहता तो मुसलमान हिन्दुओं पर सदा प्रभुत्व जमाने, जीवन की सुविधाओं में अपने भाग से भी अधिक प्राप्त करने, प्रत्येक कदम पर अपने हितों को सुरक्षित रखने और शासन-कार्य में बाधायें उपस्थित करने का प्रयत्न करते। ब्रिटिश राज्य की वास्तविक उत्तराधिकारी की हैसियत से कांग्रेस इस स्थिति को कभी सहन नहीं करती और स्वाभाविक परिणाम प्रशासन में गड़बड़ी होती। दूसरी ओर विभाजन ने साम्प्रदायिक विद्वेष को कम नहीं किया बल्कि बलवों और झगड़ों की भरमार हो गई। सैकड़ों व्यक्ति बेघरबार हो गये। अनेकों की संपत्ति नष्ट हो गई और आवागमन में शरणार्थियों को अनेकों कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ीं। लाहौर, अमृतसर, गुड़गाँव और रावलपिण्डी में हिन्दू-मुसलमान और सिक्ख साम्प्रदायिक उत्तेजना में पागल होगये और अनेकों अत्याचार किये। महात्मा गान्धी ने इन झगड़ों को शान्त करने का विशेष प्रयत्न किया परन्तु वे इसके द्वारा उत्पन्न वास्तविक समस्याओं को हल नहीं कर सके। देश के विभाजन द्वारा उत्पन्न समस्याओं को हल करने में हमें अब भी प्रयत्न करना पड़ रहा है।

अध्याय २१

महात्मा गाँधी और सरदार पटैल

महात्मा गांधी

मोहनदास करमचन्द गाधी का जन्म २ अक्टूबर सन् १८६९ को काठियावाड़ के पोरबन्दर स्थान पर हुआ था। इनके माता-पिता वैश्य घराने के थे। जब वे सात वर्ष के थे, इनके पिता ने पोरबन्दर छोड़ दिया और राजकोट में दीवान हो गये। यहाँ पर एक हाईस्कूल में वे शिक्षाध्ययन के लिये भेजे गये। इस स्थान पर शिक्षा के निरीक्षक श्री गाइल्स (Giles) विद्यार्थियों की विशेष योग्यता पर जोर नहीं देते थे परन्तु गाधीजी केवल Kettle शब्द के अक्षर यथा स्थान न बतला सकने के कारण फेल कर दिये गये। उनके अध्यापक ने उन्हें एक पास के लड़के से नकल करने के लिये इशारा किया परन्तु उन्होंने ऐसा करना उचित न समझा। निरीक्षक महोदय के चले जाने पर उनके अध्यापक ने नकल न करने का कारण पूछा तो उनकी आँखों में आँसू भर आये। बाल्यावस्था से ही उन पर सचाई का प्रभाव इतना अधिक था कि वे नकल करके अपनी अयोग्यता को छुपाना नहीं चाहते थे।

कुछ दिनों के लिए गाधीजी कुसगत में पड़ गये। उन्होंने मासाहारियों के प्रभाव में मास और तम्बाकू का प्रयोग आरम्भ कर दिया। परन्तु उनका वास्तविक स्वभाव सतोगुणी था। अतः शीघ्र ही वे इन दुर्गुणों से बच गये। उन्होंने इस काल की समस्त घटनाओं को अपने पिता काबा गांधी को एक पत्र द्वारा बतला दिया। उनको क्षमा की आशा न थी क्योंकि उनके पिता स्वभाव से इस प्रकार की हरकतों को क्षमा करने के आदी नहीं थे। परन्तु दण्ड देने के स्थान पर गाधीजी को समझा बुझाकर उन्होंने अपनी सहृदयता का परिचय दिया।

सन् १८८७ में १३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने अहमदाबाद के स्कूल से मैट्रिक की परीक्षा पास की। इसके कुछ समय पश्चात् ही इनके पिता का

देहान्त हो गया। अब यह विचार किया गया कि उन्हें किस प्रकार की शिक्षा दी जाये। इस परिवार के एक हितैषी ने यह सलाह दी कि उनको बैरिस्ट्री पास करने के लिये इंग्लैंड भेजा जाये। इस पर इनकी माता पुतलीबाई को बड़ा संकोच हुआ परन्तु गांधीजी के आग्रह के कारण उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। उन्होंने गांधीजी से शपथ ले ली कि वे वहाँ तीन वस्तुओं—मदिरा, मोहिनी और मांस से हाथ भी न लगाएंगे। उनसे पहिले उनकी जाति का कोई भी व्यक्ति इंग्लैंड नहीं गया था। अतः जाति वालों ने एक सभा की और गांधीजी को आमंत्रित कर यह बतलाया कि उनका धर्म समुद्र-यात्रा की आज्ञा नहीं देता है। उन्होंने इसकी तनिक भी परवाह न की और इंगलैंड जाने की ठान ली। उन्हें जाति से निकाल दिया गया।

मार्ग में गांधीजी लोगों से मिलते-जुलते नहीं थे, क्योंकि उन्हें अकेले रहना अच्छा लगता था। इंग्लैंड में भी मांसाहारी न होने के कारण इन्हें बड़ी कठिनाई हुई। एक दिन फैरिंगडन स्ट्रीट में शाकाहारी भोजनालय मिल जाने पर वे पेट भर भोजन कर सके। उसके पश्चात् उन्होंने एक शाकाहारी क्लब की स्थापना की जिसके सहायक-अध्यक्ष सर एडविन आर्नोल्ड थे।[1]

इंग्लैंड में वे आर्नोल्ड महोदय की दो पुस्तकों 'The Song Celestial तथा "Light of Asia" से बड़े प्रभावित हुए। Old Testament में उन्हें रुचि नहीं थी परन्तु New Testament ने उनके विचारों में बड़ा परिवर्तन किया। कार्लाइल (Carlyle) के "Heroes and Hero-worship" को उन्होंने बड़े चाव से पढ़ा। अन्य अंग्रेज विचारक जैसे जान रस्किन, थोरो इत्यादि की रचनाओं में उनकी विशेष रुचि थी। स्वयं उनके कथनानुसार उन पर रायचन्द भाई की संगत का, टाल्स्टाय की पुस्तक "The Kingdom of God is Within You" का और जॉन रस्किन की पुस्तक "Unto The Last" का बड़ा प्रभाव पड़ा। सन् १८६१ में बैरिस्टी की परीक्षा पास कर वे स्वदेश लौट आये।

भारत आने पर उनको एक नई परिस्थिति का सामना करना पड़ा उन्होंने कानून की परीक्षा तो पास करली थी परन्तु अभी वकालत करना नहीं सीखा था। उन्हें भारत के कानूनों का भी ज्ञान नहीं था। इधर इनके बड़े भाई ने उनके लिये भारी तैयारियाँ करदी थीं। उनमें धन तथा यश की बड़ी चाह थी। इंग्लैंड से लौटने पर गांधीजी का खर्चा भी बढ़ गया था और

1 Roy Walker Sword of Gold—A Life of Mahatma Gandhi

वकालत के अच्छे चलने की आशा से उनके भाई ने इसे और भी बढ़ा दिया। अन्त में उनके एक मित्र ने उन्हें बम्बई के हाईकोर्ट में वकालत कर अनुभव बढ़ाने की राय दी। वे बम्बई चले गये और एक अनभिज्ञ रसोइये रविशंकर के साथ रहने लगे। यह रसोइया निरा मूर्ख था, अतः गाँधीजी को कभी-कभी उसकी सहायता करनी पड़ती थी। इस प्रकार उन्होंने जीविकोपार्जन के लिये प्रयत्न आरम्भ किया।[1]

उनके बड़े भाई ने गाधीजी को कानूनी बहस के लिये सक्षेप आदि दिलाने के लिये बड़ा परिश्रम किया। परन्तु उनकी वकालत ठीक तरह न चल सकी। वे मुकद्दमे लाने वाले दलालों को कमीशन नहीं देना चाहते थे क्योंकि यह उनके सिद्धान्तों के विपरीत था, इससे उन्हे अपने पेशे में और भी कठिनाई हुई। कुछ दिनों बाद उन्हें मामीबाई का एक आसान सा मुकदमा लड़ने के लिये मिला। परन्तु अभियोगी की ओर से गवाहों की जाँच करते समय उनके पैर कँपकँपाने लगे और मस्तिष्क में एक भीषण संघर्ष उत्पन्न हो गया। उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट कर मुकदमे की फीस लौटा दी। अपनी असफलता पर गाँधीजी को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने न्यायालय में जाना बन्द कर दिया और दक्षिणी अफीका को प्रस्थान करने के समय तक वे न गये। निराश होकर वे राजकोट लौट आये और वहाँ उन्होंने अपना एक आफिस खोल लिया जिसमें उन्होंने प्रार्थना-पत्र आदि लिखकर जीविका कमाना आरम्भ कर दिया।[2]

इस समय उनके भाई पोरबन्दर के राना साहब के सचिव और सलाहकार के पद पर कार्य कर रहे थे। उन पर राना साहब को अनुचित राय देने का आरोप लगाया गया था और यह मामला राजनीतिक प्रतिनिधि (Political Agent) के पास निर्णय के लिये पड़ा हुआ था। गाधीजी इंग्लैण्ड में उससे सुपरिचित हो चुके थे। अतः उनके भाई ने सिफारिश के लिये उन्हें भेजा। एजेण्ट ने उनकी बाते सुनने से मना कर दिया और कहा कि यदि उनके भाई को शिकायत है तो उन्हें उचित मार्ग से प्रार्थना-पत्र भेजना चाहिये। इस पर भी गाँधीजी के आग्रह ने एजेण्ट को क्रोधित कर दिया और उसने चपरासी को गाधीजी को मार्ग दिखाने की आज्ञा दी। गाधीजी को इस अपमान से बड़ा खेद हुआ और भारत में अंग्रेजी सरकार के प्रति

---

1. M K Gandhi · The Story of My Experiments with Truth.
2. Ibid.

देहान्त हो गया। अब यह विचार किया गया कि उन्हें किस प्रकार क शिक्षा दी जाये। इस परिवार के एक हितैषी ने यह सलाह दी कि उनक बैरिस्ट्री पास करने के लिये इंग्लैंड भेजा जाये। इस पर इनकी माता पुतलीबा को बड़ा सकोच हुआ परन्तु गाधीजी के आग्रह के कारण उन्होंने अपन स्वीकृति दे दी। उन्होंने गाधीजी से शपथ ले ली कि वे वहाँ तीन वस्तुओं– मदिरा, मोहिनी और मास से हाथ भी न लगाऐंगे। उनसे पहिले उनकी जा का कोई भी व्यक्ति इंग्लैंड नहीं गया था। अतः जाति वालों ने एक सभा और गाधीजी को आमन्त्रित कर यह बतलाया कि उनका धर्म समुद्र-यात्रा आज्ञा नहीं देता है। उन्होंने इसकी तनिक भी परवाह न की और इं जाने की ठान ली। उन्हें जाति से निकाल दिया गया।

मार्ग में गाधीजी लोगों से मिलते-जुलते नहीं थे, क्योंकि उन्हे रहना अच्छा लगता था। इंग्लैंड में भी मासाहारी न होने के कारण बड़ी कठिनाई हुई। एक दिन फैरिंगडन स्ट्रीट में शाकाहारी भोजनालय जाने पर वे पेट भर भोजन कर सके। उसके पश्चात् उन्होंने एक शाका क्लब की स्थापना की जिसके सहायक-अध्यक्ष सर एडविन आर्नोल्ड थे।[1]

इंग्लैंड में वे आर्नोल्ड महोदय की दो पुस्तकों 'The Song Celesti तथा "Light of Asia" से बड़े प्रभावित हुए। Old Testament में उ रुचि नहीं थी परन्तु New Testament ने उनके विचारों में बड़ा परिवर्त किया। कार्लाइल (Carlyle) के "Heroes and Hero-worship" के उन्होंने बड़े चाव से पढा। अन्य अंग्रेज विचारक जैसे जान रस्किन, थोरो इत्यादि की रचनाओं में उनकी विशेष रुचि थी। स्वय उनके कथनानुसार उन पर रायचन्द भाई की सगत का, टाल्स्टाय की पुस्तक "The Kingdom of God is Within You" का और जॉन रस्किन की पुस्तक "Unto The Last" का बड़ा प्रभाव पड़ा। सन् १८९१ में बैरिस्ट्री की परीक्षा पास कर वे स्वदेश लौट आये।

भारत आने पर उनको एक नई परिस्थिति का सामना करना पड़ा उन्होंने कानून की परीक्षा तो पास करली थी परन्तु अभी वकालत करना नहीं सीखा था। उन्हें भारत के कानूनों का भी ज्ञान नहीं था। इधर इनके बड़े भाई ने उनके लिये सारी तैयारियाँ करदी थीं। उनमें धन तथा यश की बड़ी चाह थी। इंग्लैंड से लौटने पर गाधीजी का खर्चा भी बढ़ गया था और

1 Roy Walker Sword of Gold—A Life of Mahatma Gandhi

भंग करना पड़ा। दक्षिणी अफ्रीका में भारतियों के उद्धार से गाधी जी विश्व भर में प्रसिद्ध हो गये।

प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होने पर गाधीजी भारत वापिस आये। इस समय से अपनी असामयिक मृत्यु तक वे भारतीय राजनीति के सर्वेसर्वा रहे। सर्व-प्रथम सन् १६१७ में बिहार के चम्पारन जिले में उन्होंने अपना आन्दोलन चलाना। नील बनाने के लिये रसायनिक पदार्थों की खोज तथा फलस्वरूप इसके पौधों की खेती की आवश्यकता न रहने के कारण इस स्थान के किसानों से सरकार ने जमीन के लिये काफी रकम लेना आरम्भ कर दिया था। गाधीजी ने इस व्यवस्था में न्याय प्राप्त करने के लिये सघर्ष किया और वे सफल रहे। इसके पश्चात् उन्होंने गुजरात के किसानों की दशा सुधारने के लिये प्रयत्न किया। इसमें उन्हे सफलता प्राप्त हुई। अहमदाबाद के श्रमिकों के लिये भी उन्होंने अहिंसात्मक आन्दोलन के सचालन द्वारा सफल संघर्ष किया।

काग्रेस में वे सन् १६१५ में ही प्रविष्ट होगये थे। प्रथम महायुद्ध के समय में वे इसके प्रतिभाशाली नायक भी बन गये। उस समय देश की जनता अग्रेजों की नीति से अत्यन्त क्षुब्ध थी, स्वराज्य का विचार एक कल्पना-मात्र था। परन्तु गाधी जी ने नेतृत्व की बागडोर हाथ में लेते ही भारतीय राजनीति को नई गति प्रदान करदी और राष्ट्रीय आन्दोलन में आध्यात्मिकता का सचार कर दिया। उनके सरल और पवित्र जीवन, व्यक्तित्व के विचित्र आकर्षण, मानवता के प्रति अद्भुत प्रेम एव निडरता आदि ने उनकी प्रसिद्धि को अत्यन्त व्यापक बना दिया और देश की जनता के लिये वे शीघ्र ही देवता-स्वरूप होगए।

महायुद्ध के समाप्त हो जाने के पश्चात् भारतियों को अग्रेजी सरकार से बड़ी-बड़ी आशायें थीं। उन्होंने अग्रेजों की सहायता भी बहुत की थी। परन्तु भारतियों का विश्वास झूँठा ही सिद्ध हुआ। युद्ध से छुटकारा पाते ही सरकार ने भारत को अपने पजे में दृढता से पकड़ने का प्रबन्ध किया। रौलट कानून बनाया गया और अन्य दमनकारी नियमों द्वारा भारतियों को युद्ध काल की दासता में रखने की योजना की गई। इससे गांधी जी के हृदय को बड़ी ठेस पहुँची। अमृतसर के हत्याकाड तथा बाद की घटनाओं ने उन्हे भारतियों के अधिकारों के लिए संघर्ष करने का प्रोत्साहन दिया। उन्होंने असहयोग आन्दोलन का सचालन किया परन्तु चौरी-चौरा की दुर्घटना के कारण उन्हे इसे स्थगित करना पड़ा।

गाधी जी का असहयोग आन्दोलन अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल अवश्य रहा परन्तु इससे कांग्रेस की शक्ति अधिक बढ़ गई और वह

असतोष की यह प्रथम चिनगारी थी। इस घटना ने उनके जीवन-मार्ग को परिवर्तित कर दिया।[1]

सन् १८६३ में पोरबन्दर की एक फर्म ने दक्षिणी अफ्रीका के न्यायालयों में लगभग चालीस हजार रुपये के मुकदमों के सम्बन्ध में गाधी जी को १०५ पौंड वार्षिक वेतन तथा आने-जाने के खर्चे पर, वहाँ भेजा। प्रीटोरिया में उन्हें रहना था परन्तु वहाँ जाने से पहिले उन्होंने कुछ दिन डरबन में व्यतीत किये। एक दिन जब उन्हें न्यायालय को दिखाने के लिए लेजाया गया तो न्यायाधीश ने उन्हें अपनी पगड़ी उतारने के लिये कहा। गाधी जी ने मना कर दिया। क्योंकि यह केवल अपमान का ही सूचक नहीं थी प्रत्युत प्रत्येक जाति के व्यक्ति को, ऐसा नहीं करना पड़ता था।[2] भारतियों को वहाँ कुली समझा जाता था और इसीलिये उनसे पगड़ी उतरवा ली जाती थी परन्तु गाधीजी ने इस अपमान को सहन न कर अपने साहस का परिचय दिया। इस घटना के एक सप्ताह के पश्चात् वे प्रीटोरिया के लिए रवाना हुए। परन्तु उनके पास पहिले दर्जे का टिकट होते हुए भी उन्हें रेलवे के गोरे अधिकारियों ने मेरित्ज़वर्ग के के स्टेशन पर उन्हें उतार दिया। इस प्रकार के दुर्व्यवहारों ने उनके सामने यह समस्या पैदा करदी कि भारत को लौटा जाये अथवा भारतियों के लिये डटकर अफ्रीका में सग्राम किया जाये। उन्होंने द्वितीय निर्णय को ही अपना आधार बनाया।

सन् १८६३ से सन् १६१४ तक गाधी जी दक्षिणी अफ्रीका में रहे। अपनी युवावस्था उन्होंने वहाँ रहने वाले भारतियों के अधिकारों के लिये सघर्ष करने में व्यतीत की। वहाँ भारतियों के साथ बड़ा दुर्व्यवहार होता था, उन पर जुर्माने लगाये जाते थे, उन्हें नगरों से बाहर गदे स्थानों पर रहना पड़ता था, और उनकी दुकानें लूट ली जाती थीं और नाना प्रकार के अत्याचार किये जाते थे। गाधीजी ने सत्याग्रह-आन्दोलन की शैली का प्रयोग किया। हिंसा का सामना करने के लिये अहिंसा का पाठ पढाया और इस प्रकार वहाँ के निवासी भारतियों में एक नवीन जीवन का सचार किया। सन् १६१२-१३ में नैटाल तथा ट्रान्सवाल मे विशाल सभायें हुई, प्रदर्शन किये गये और अन्त में बर्बरता के प्रमुख स्रोत जनरल स्मटस (General Smuts) को क्रूर नियमों को

---

1 M K Gandhi The Story of My Experiments with Truth

2 Roy Walker Sword of Gold—A Life of Mahatma Gandhi

3 Romain Rolland Mahatma Gandhi

भग करना पड़ा। दक्षिणी अफ्रीका में भारतियों के उद्धार से गाधी जी विश्व भर में प्रसिद्ध हो गये।

प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होने पर गाधीजी भारत वापिस आये। इस समय से अपनी असामयिक मृत्यु तक वे भारतीय राजनीति के सर्वेसर्वा रहे। सर्व-प्रथम सन् १९१७में विहार के चम्पारन जिले में उन्होंने अपना आन्दोलन चलाना। नील बनाने के लिये रसायनिक पदार्थों की खोज तथा फलस्वरूप इसके पौधों की खेती की आवश्यकता न रहने के कारण इस स्थान के किसानों से सरकार ने जमीन के लिये काफी रकम लेना आरम्भ कर दिया था। गाधीजी ने इस व्यवस्था में न्याय प्राप्त करने के लिये सघर्ष किया और वे सफल रहे। इसके पश्चात् उन्होंने गुजरात के किसानों की दशा सुधारने के लिये प्रयत्न किया। इसमें उन्हें सफलता प्राप्त हुई। अहमदाबाद के श्रमिकों के लिये भी उन्होंने अहिंसात्मक आन्दोलन के सचालन द्वारा सफल संघर्ष किया।

कांग्रेस में वे सन् १९१५ में ही प्रविष्ट होगये थे। प्रथम महायुद्ध के समय में वे इसके प्रतिभाशाली नायक भी बन गये। उस समय देश की जनता अंग्रेजों की नीति से अत्यन्त क्षुब्ध थी, स्वराज्य का विचार एक कल्पना-मात्र था। परन्तु गाधी जी ने नेतृत्व की बागडोर हाथ में लेते ही भारतीय राजनीति को नई गति प्रदान करदी और राष्ट्रीय आन्दोलन में आध्यात्मिकता का संचार कर दिया। उनके सरल और पवित्र जीवन, व्यक्तित्व के विचित्र आकर्षण, मानवता के प्रति अद्भुत प्रेम एव निडरता आदि ने उनकी प्रसिद्धि को अत्यन्त व्यापक बना दिया और देश की जनता के लिये वे शीघ्र ही देवता-स्वरूप होगए।

महायुद्ध के समाप्त हो जाने के पश्चात् भारतियों को अंग्रेजी सरकार से बड़ी-बड़ी आशायें थीं। उन्होंने अंग्रेजों की सहायता भी बहुत की थी। परन्तु भारतियों का विश्वास झूँठा ही सिद्ध हुआ। युद्ध से छुटकारा पाते ही सरकार ने भारत को अपने पजे में दृढता से पकड़ने का प्रबन्ध किया। रौलट कानून बनाया गया और अन्य दमनकारी नियमों द्वारा भारतियों को युद्ध काल की दासता में रखने की योजना की गई। इससे गाधी जी के हृदय को बड़ी ठेस पहुँची। अमृतसर के हत्याकाड तथा बाद की घटनाओं ने उन्हें भारतियों के अधिकारों के लिए संघर्ष करने का प्रोत्साहन दिया। उन्होंने असहयोग आन्दोलन का सचालन किया परन्तु चौरी-चौरा की दुर्घटना के कारण उन्हें इसे स्थगित करना पड़ा।

गाधी जी का असहयोग आन्दोलन अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल अवश्य रहा परन्तु इससे कांग्रेस की शक्ति अधिक बढ़ गई और वह

पहिले की अपेक्षा जनता के अधिक निकट आगई। साइमन कमीशन के भारत आने पर उसका बहिष्कार किया गया। सन् १६२६ में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य की घोषणा के पश्चात् गांधी जी ने जनवरी सन् १६३० में सविनय अवज्ञा आंदोलन आरम्भ कर दिया। ६ अप्रैल को डांडी के स्थान पर नमक कानून भंग कर स्वतन्त्रता संग्राम का सूत्रपात किया परन्तु ५ मई को उनकी गिरफ्तारी से इसकी गति और भी बढ गई। परन्तु जनवरी सन् १६३१ में वे मुक्त कर दिये गये और मार्च के माह में वाइसराय लॉर्ड इरविन से समझौता होगया। प्रथम गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर वे कारावास में थे। द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर उन्होंने अंग्रेजों को साम्प्रदायिक विभेद की कुचाल के लिये लताड़ा और वहाँ लौटने के पश्चात् सविनय अवज्ञा को फिर छेड़ दिया। मई सन् १६३३ में उनकी गिरफ्तारी से इसकी गति शनै शनै शिथिल होती गई।

सन् १६४०-४१ में गांधीजी ने व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन का संचालन किया। इसका श्री गणेश श्री विनोबा भावे द्वारा पोनार में युद्ध विरोधी प्रचार से हुआ। इस अवसर पर गांधीजी ने सत्याग्रहियों के लिये बड़े कुशल आदेश प्रकाशित किये और भली-भांति जनता का नेतृत्व किया। सन् १६४२ के 'भारत-छोड़ो' आन्दोलन में गांधी जी का बड़ा हाथ था। उन्होंने ही विदेशी आक्रमण की आशंका में भयभीत भारतियों को अंग्रेजी साम्राज्यवाद की विभीषिका से बचाने के लिये अंग्रेजों द्वारा भारत छोड़ने का तर्क प्रस्तुत किया। यह आन्दोलन भारत का अन्तिम स्वतन्त्रता-संघर्ष था और इस बार देश के सभी मुख्य वर्गों ने इसमें भाग लिया। इसने अंग्रेजों के भारत को स्वाधीनता देने के निर्णय को प्रोत्साहित किया और फलस्वरूप वेविल योजना, केबिनेट मिशन योजना आदि कांग्रेस के सम्मुख प्रस्तुत की गई। अन्त में १५ अगस्त सन् १६४७ को देश को स्वतन्त्रता मिल जाने पर भी गांधी जी का कार्य पूरा न हुआ। उन्होंने देश विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न साम्प्रदायिक झगड़ों की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया परन्तु इसी बीच ३० जनवरी सन् १६४८ को गोडसे ने उनकी हत्या करदी।

महात्मा गांधी की इस संक्षिप्त जीवन-झांकी से यह प्रतीत होता है कि यदि किसी एक व्यक्ति का स्वतन्त्रता प्राप्ति में सबसे अधिक हाथ हो सकता है तो महात्मा गांधी ही ऐसे व्यक्ति थे। यह सत्य, अहिंसा और त्याग की साक्षात् मूर्ति थे। इन्होंने लगभग ४० वर्ष तक भारतवर्ष की निरन्तर सेवा की और उससे पूर्ण भारतियों के प्रति सहानुभूति और प्रेम का परिचय

दक्षिणी अफ्रीका में सत्याग्रह करके दिया। वास्तव में चम्पारन और कायरा के आन्दोलनों का श्रीगणेश करने के पश्चात् से अपने जीवन के अन्तिम काल तक वे अपनी विचार-धाराओं के अनुकूल निरन्तर सेवा करते रहे। महात्मा गाधी ने देशवासियों को जागृत किया और उनमें त्याग की भावना भर दी। स्वय अनेकों बार जेल-यात्रायें की और बड़े से बड़े त्याग में भी कभी सकोच नहीं किया। हिन्दुओं और मुसलमानों में वे तनिक भी अन्तर नहीं समझते थे बल्कि हिन्दुओं की दृष्टि में वे मुसलमानों के पक्षपाती समझे जाते थे। इसी विचार धारा के कारण उनका गोडसे नामक एक हिन्दू ने वध कर दिया। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के सच्चे समर्थक थे और देश के प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति देखना चाहते थे। उनकी राजनीति में छल-कपट लेश मात्र भी नहीं था, बल्कि यह कहना चाहिये कि महात्मा गाधी ने यह सिद्ध कर दिया कि राजनीति में भी आध्यात्मिक सिद्धान्तों का भली-भाति उपयोग किया जा सकता है। आत्मा की शुद्धि के लिये वह व्रत का सहारा लेते थे। आर्थिक क्षेत्र में भी उन्हें बड़ी रुचि थी। कुटीर-उद्योगों पर वे विशेष जोर देते थे। शिक्षा के क्षेत्र में भी उनका नाम बेसिक शिक्षा के कारण आज तक उल्लेखनीय है। सच तो यह है कि महात्मा गाधी को केवल राजनीतिज्ञ ही कहना अनुचित होगा क्योंकि वे सर्वतोमुखी प्रतिमा रखने वाले व्यक्ति थे। समाज-सुधार में उनका बहुत बड़ा हाथ था। छुआछूत और नशीली वस्तुओं का विरोध उन्होंने जीवन भर किया। निसदेह महात्मा गाधी एक महान् आत्मा थे।

सरदार वल्लभ भाई पटेल—

सरदार वल्लभ भाई पटैल के पूर्वज नादियाद (Nadiad) के पट्टीदार थे। उनका सम्बन्ध अयोध्या तथा मथुरा से बताया जाता था। वे लोग ग्रामीण थे तथा १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता सग्राम में उन्होंने भाग लिया था। विशेषतया उनके पिता झावर भाई के, इस युद्ध में भाग लेने के सम्बन्ध में कोई सदेह नहीं है। और वास्तव में ९० वर्ष पश्चात् जब झावर भाई के पुत्र वल्लभ भाई के प्रयत्नों द्वारा १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तो यह उनके वश की राजनीतिक परम्परा का ही परिणाम था। इनके पिता भी नादियाद के पट्टीदार थे। वल्लभ भाई अपने पॉच भाइयों तथा एक बहन में से चौथे बालक थे।

उनका जन्म ३१ अक्टूबर सन् १८७५ में कायरा जिले के करमसाद (Karamsad) नामक गॉव में हुआ था। इनका बाल्यकाल यहीं व्यतीत हुआ।

उनके माता-पिता धार्मिक मनोवृत्ति के लिये प्रसिद्ध थे। धन की कमी होते हुए भी उन्होंने अपने बालकों को शिक्षित करने का भरसक प्रयत्न किया।

वल्लभ भाई ने करमसाद गाँव में ही अपनी प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की और नादियाद से हाई स्कूल की परीक्षा पास की। तत्पश्चात् उन्होंने मुख्त्यार-परीक्षा पास करके वकालत आरम्भ कर दी और शीघ्र ही फौजदारी के प्रसिद्ध वकील हो गये। वल्लभ भाई ने इंगलैंड जाने के लिये पासपोर्ट बनवाया। जब उनके बड़े भाई विट्ठलभाई ने यह देखा कि यह पासपोर्ट वी० जे० पटेल के नाम से बना हुआ था तो उन्होंने स्वयं उसी पासपोर्ट से इंगलैंड जाने की इच्छा प्रकट की। वल्लभ भाई ने तनिक भी संकोच नहीं किया और अपने बड़े भाई को पहले इङ्गलैंड जाने का अवसर दे दिया।

वल्लभ भाई का विवाह अल्पायु में ही श्रीमती झावर बा से हो गया था किन्तु १९०८ में उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। उन्होंने एक पुत्र तथा एक पुत्री छोड़ी। उनका नाम क्रमश दया भाई तथा मणीबैन हैं। दया भाई बम्बई के राजनीतिक तथा व्यापारिक क्षेत्रों में बहुत ही प्रसिद्ध व्यक्ति हैं।

विट्ठल भाई के विलायत जाने के पश्चात् वल्लभ भाई भी इङ्गलैंड गये और वहाँ जाकर बैरिस्ट्री की परीक्षा पास की। उन्होंने १६ घंटे प्रतिदिन कार्य करके बैरिस्टी की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। वे फरवरी १९१३ को भारतवर्ष लौट आये। यहाँ आकर वल्लभ भाई ने अहमदाबाद में अपनी वकालत आरम्भ की और शीघ्र ही वे उच्चकोटि के वकील हो गये। वे अभियोगों का बहुत ही अच्छी तरह अध्ययन करते थे, यही उनकी सफलता का रहस्य था।

जब वे अहमदाबाद के सर्वोच्च वकील की हैसियत से कार्य कर रहे थे उस समय कोई भी व्यक्ति इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता था कि उनके जीवन में महात्मा गांधी द्वारा एक विशाल परिवर्तन होगा। महात्मा गांधी की प्रथम भेंट का तो उन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा किन्तु १९१८ में जब महात्मा गांधी ने अहमदाबाद के मजदूरों के पक्ष में वहाँ के मिल मालिकों का विरोध किया और खेड़ा के सत्याग्रह के संग्राम में कूद पड़े तो उस समय वे गांधीजी के प्रमुख साथी बन गये। इस समय वल्लभ भाई को अपनी वकालत छोड़ देनी पड़ी।

जब रौलेट कमेटी ने अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कीं तो गाधीजी के साथ-साथ वल्लभ भाई भी चिन्तित हुए और इनके प्रभाव से सत्याग्रह प्रतिज्ञा-पत्र पर उपस्थित सज्जनों ने हस्ताक्षर कर दिये। असहयोग आन्दोलन के प्रस्ताव के सम्बन्ध में भी उन्होंने गाधीजी की बहुत सहायता की। सन् १६२१ में वे अहमदाबाद कॉंग्रेस की स्वागत-समिति के चैयरमैन हुए। कांग्रेस का यह अधिवेशन दो विशेषताओं के लिये बहुत ही प्रसिद्ध है। प्रथम तो इन्होंने प्रतिनिधियों के लिये कुर्सी तथा बेंचों का आयोजन नहीं किया था और दूसरे उन्होंने समिति के सभापति की हैसियत से एक बहुत ही सक्षिप्त भाषण दिया।

१६२२ में बोर्साद की जनता ने सरकारी जुर्माने के विरोध में सत्याग्रह किया। और वल्लभ भाई ने स्वय सब लोगों से यह टैक्स देने के लिये मना किया। लगभग २०० स्वय-सेवकों को वहाँ रात और दिन यह देखने के लिये छोड़ा कि कोई व्यक्ति टैक्स तो नहीं दे रहा है।

जब महात्मा गाधी ने चौरी-चौरा की दुर्घटना के पश्चात् अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन को वापिस ले लिया तो सी० आर० दास तथा मोतीलाल नेहरू ने स्वराज्य-दल की स्थापना की और कौंसिलों में प्रवेश की नीति को अपनाया। विट्ठल भाई पटेल भी सी० आर० दास तथा मोतीलाल के साथी बन गये। किन्तु वल्लभ भाई ने गाधीजी की ही विचार-धारा का पक्ष लिया। इन दोनों भाइयों ने गुप्त रूप से यह निश्चिय कर लिया कि वल्लभ भाई बम्बई में जो कि विट्ठल भाई का गढ था न जाया करेंगे और विट्ठल भाई वल्लभ भाई के अहमदाबाद वाले क्षेत्र में प्रवेश न करेंगे।

सन् १६२४ से १६२८ तक वल्लभ भाई अहमदाबाद की नगरपालिका के प्रमुख कार्यकर्त्ता रहे। इस हैसियत से उन्होंने बड़े महत्वपूर्ण कार्य नागरिकों के हित में किये। जब गुजरात में बाढ आई तो उन्होंने बाढ-पीड़ितों को काफी सहायता पहुँचाई। किन्तु शीघ्र ही बारदौली-आन्दोलन आरम्भ हो गया और उन्हें अपना यह कार्य छोड़ना पड़ा।

बारदौली में किसानों ने सरकार को टैक्स न देने का निश्चिय किया। यह निश्चय स्वराज्य प्राप्ति सत्याग्रह आन्दोलन आदि के उद्देश्य से नहीं किया गया था वरन् इसका अभिप्राय किसानों की शिकायतों को दूर करना था। वल्लभ भाई पटेल ने १२ फरवरी सन् १६२८ में बहुत सोच-विचार के पश्चात् बारदौली सत्याग्रह में प्रवेश किया। श्री महादेव देसाई

ने बारदौली की कहानी के नाम से इस घटना का उल्लेख किया है। सरदार वल्लभ भाई पटेल की वाणी में बड़ी शक्ति थी और ग्रामीणों पर वह विशेष प्रभाव रखती थी। उदाहरणार्थ उन्होंने कहा कि सरकार एक पागल हाथी के समान प्रत्येक वस्तु को कुचलना चाहती है। ठीक इसी समय उन्हें किसानों के सरदार की उपाधि प्राप्त हुई और सरदार शब्द उनके नाम के पहले लगाया जाने लगा। बारदौली ने सरदार पटेल को भारतियों की दृष्टि में बहुत ऊँचा उठा दिया था। श्री निवास शास्त्री ने गाधीजी को यह सत्य ही लिखा था कि इस समय वल्लभ भाई सर्वोच्च स्तर प्राप्त कर चुके हैं।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के अवसर पर वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्हें सरकार ने ८ मार्च १९३० को वन्दी बनाया। ३ महीने पश्चात् मुक्त कर दिया गया और कॉंग्रेस ने उन्हें सभापति नियुक्त कर लिया। उन्होंने सत्याग्रह को जोरों से चलाया और फिर जेल-यात्रा की। वास्तव में वे ११ महीने में ३ बार वन्दीगृह में डाले गये। १९३१ में जब गान्धी जी का लार्ड इरविन से समझौता हुआ तो सरदार पटेल ने गान्धी जी का साथ दिया। जब कराची में मार्च के महीने में कॉंग्रेस की बैठक हुई तो सरदार पटेल को सभापति चुना गया और वहाँ उन्होंने गान्धी इर्विन समझौते का समर्थन किया। सरदार पटेल ने इस अधिवेशन में नागरिकों के मूल अधिकारों का प्रस्ताव पास कराया। यह अपने आधुनिक विधान में सम्मिलित किये गये हैं। १९३२ में सरदार पटेल पर सरकार की कृपादृष्टि फिर हुई और उनको वन्दी बना लिया गया जिसके बाद उन्हे जुलाई १९३४ में छोड़ा गया।

जब काग्रेस ने १९३५ के अधिनियम के अनुकूल चुनाव लड़ने का निश्चय किया तो सरदार पटैल ने भारतवर्ष की यात्रा की और काग्रेस उम्मेदवारों को वोट देने के सम्बन्ध में तर्क दिये। १९३६ में वे काग्रेस के पार्लियामेण्टरी बोर्ड के सदस्य हुए और बम्बई, गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक की सेन्ट्रल कमेटी के चेयरमैन बनाये गए। जब काग्रेस ने मन्त्रिमण्डल बनाया तो सरदार पटैल 'पार्लियामेन्टरी-सब-कमेटी' के चेयरमैन नियुक्त हुए और उनके अन्य दो साथी डॉ० राजेन्द्रप्रसाद तथा मौलाना अबुलकलाम आजाद थे। इस सब-कमेटी का उद्देश्य कॉंग्रेस के हितों की काग्रेसी प्रदेशों में रक्षा करना था।

सितम्बर १९३९ में जब ससार का द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ और काग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दिये तो सरकार तथा कॉंग्रेस के बीच फिर

तनातनी हो गई और १९४० में सरदार पटेल को व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन के फलस्वरूप सरकार ने बन्दी बना लिया। उन्हें १९४१ में बीमार होने के कारण मुक्त कर दिया गया। किन्तु ९ अगस्त सन् ४२ में उन्हें फिर से 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के सम्बन्ध में अहमदनगर के किले में लेजाकर बन्दी बनाया और १५ जून १९४५ तक रखा। और जब प्रथम शिमला-सम्मेलन हुआ उस समय उनको मुक्त किया गया।

जब सन् १९४६ में प्रथम अन्तरिम सरकार बनाई गई तो सरदार पटेल को गृह-मन्त्री नियुक्त किया गया। सन् १९४६-४७ में भारतवर्ष में अशान्ति रही और हिन्दू-मुसलमानों के बीच बड़े झगड़े हुए किन्तु सरदार पटेल ने प्रत्येक स्थान पर सहायता पहुँचाने का प्रयत्न किया।

जब १५ अगस्त १९४७ में भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तो सरदार पटेल को उप-प्रधान-मन्त्री नियुक्त किया गया और गृह-मन्त्रित्व तथा देशी राज्यों आदि का कार्य उन्हें सौंपा गया। उन्होंने देशी नरेशों को चेतावनी दी कि उन्हें समस्त भारतवर्ष के हित में ही कार्य करना होगा। इस समय ५६२ देशी रियासतें थीं। सरदार पटेल ने बड़ी बुद्धिमानी तथा शीघ्रता से उन सबका एकीकरण कर दिया। उनका यह कार्य भारतवर्ष के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा क्योंकि इन रियासतों में निरंकुश शासकों का रहना देश की उन्नति के लिये बाधक था और राष्ट्रीय एकीकरण के लिए अत्यन्त घातक था। सरदार पटेल जैसे दूरदर्शी तथा दृढ़ विचार वाले राज-नीतिज्ञ के परिश्रम का ही यह परिणाम था कि भारतवर्ष का सबसे बड़ा संकट दूर हो गया। हैदराबाद भी भारत की प्रमुख समस्याओं में से एक था। लेकिन इस समस्या को भी उन्होंने बड़ी योग्यतापूर्वक हल किया और हैदराबाद को वश में कर लिया। हैदराबाद-समस्या के समाधान ने तो सरदार पटेल के नाम को सदैव के लिए अमर बना दिया है। किन्तु इन महत्वपूर्ण कार्यों के अतिरिक्त उनके अन्य रचनात्मक कार्यों को भी नहीं भुलाया जा सकता है। उन्होंने नौकरशाही में भी सुधार किये और कांग्रेस की एकता को कायम रखा। उनकी सेवाओं के कारण भारतवासी उनसे बड़ा प्रेम करते थे।

वे प्रत्येक बात को बहुत ही स्पष्ट रूप से प्रकट किया करते थे। वे रचनात्मक कार्यों पर विशेष जोर देते थे तथा हवाई किले नहीं बनाते थे। वे अपने विचारों में बड़े दृढ़ थे। उनकी दृढ़ता के अनेकों प्रमाण हमें मिलते हैं। जब वे वकालत का कार्य करते थे तो एक बार उनकी स्त्री के देहान्त का

ने बारदौली की कहानी के नाम से इस घटना का उल्लेख किया है। सरदार वल्लभ भाई पटेल की वाणी में बड़ी शक्ति थी और ग्रामीणों पर वह विशेष प्रभाव रखती थी। उदाहरणार्थ उन्होंने कहा कि सरकार एक पागल हाथी के समान प्रत्येक वस्तु को कुचलना चाहती है। ठीक इसी समय उन्हें किसानों के सरदार की उपाधि प्राप्त हुई और सरदार शब्द उनके नाम के पहले लगाया जाने लगा। बारदौली ने सरदार पटेल को भारतियों की दृष्टि में बहुत ऊँचा उठा दिया था। श्री निवास शास्त्री ने गाधीजी को यह सत्य ही लिखा था कि इस समय वल्लभ भाई सर्वोच्च स्तर प्राप्त कर चुके हैं।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के अवसर पर वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्हें सरकार ने ८ मार्च १६३० को बन्दी बनाया। ३ महीने पश्चात् मुक्त कर दिया गया और कॉंग्रेस ने उन्हें सभापति नियुक्त कर लिया। उन्होंने सत्याग्रह को जोरों से चलाया और फिर जेल-यात्रा की। वास्तव में वे ११ महीने में ३ बार बन्दीगृह में डाले गये। १६३१ में जब गान्धी जी का लार्ड इरविन से समझौता हुआ तो सरदार पटैल ने गान्धी जी का साथ दिया। जब कराची में मार्च के महीने में कॉंग्रेस की बैठक हुई तो सरदार पटेल को सभापति चुना गया और वहाँ उन्होंने गान्धी इर्विन समझौते का समर्थन किया। सरदार पटैल ने इस अधिवेशन में नागरिकों के मूल अधिकारों का प्रस्ताव पास कराया। यह अपने आधुनिक विधान में सम्मिलित किये गये हैं। १६३२ में सरदार पटैल पर सरकार की कृपादृष्टि फिर हुई और उनको बन्दी बना लिया गया जिसके बाद उन्हें जुलाई १६३४ में छोड़ा गया।

जब काग्रेस ने १६३५ के अधिनियम के अनुकूल चुनाव लड़ने का निश्चय किया तो सरदार पटैल ने भारतवर्ष की यात्रा की और काग्रेस उम्मेदवारों को वोट देने के सम्बन्ध में तर्क दिये। १६३६ में वे काग्रेस के पार्लियामेण्टरी बोर्ड के सदस्य हुए और बम्बई, गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक की गैननल कमेटी के चेयरमैन बनाये गए। जब काग्रेस ने मन्त्रिमण्डल बनाया तो सरदार पटैल 'पार्लियामेन्टरी-सब-कमेटी' के चेयरमैन नियुक्त हुए और उनके अन्य दो साथी डॉ० राजेन्द्रप्रसाद तथा मौलाना अबुलकलाम आजाद थे। इस सब-कमेटी का उद्देश्य कॉंग्रेस के हितों की काग्रेसी प्रदेशों में रक्षा करना था।

सितम्बर १६३६ में जब ससार का द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ और काग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दिये तो सरकार तथा कॉंग्रेस के बीच फिर

तनातनी हो गई और १६४० में सरदार पटेल को व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन के फलस्वरूप सरकार ने बन्दी बना लिया। उन्हें १६४१ में बीमार होने के कारण मुक्त कर दिया गया। किन्तु ६ अगस्त सन् ४२ में उन्हें फिर से 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के सम्बन्ध में अहमदनगर के किले में लेजाकर बन्दी बनाया और १५ जून १६४५ तक रखा। और जब प्रथम शिमला-सम्मेलन हुआ उस समय उनको मुक्त किया गया।

जब सन् १६४६ में प्रथम अन्तरिम सरकार बनाई गई तो सरदार पटेल को गृह-मन्त्री नियुक्त किया गया। सन् १६४६-४७ में भारतवर्ष में अशान्ति रही और हिन्दू-मुसलमानों के बीच बड़े झगड़े हुए किन्तु सरदार पटेल ने प्रत्येक स्थान पर सहायता पहुँचाने का प्रयत्न किया।

जब १५ अगस्त १६४७ में भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तो सरदार पटेल को उप-प्रधान-मंत्री नियुक्त किया गया और गृह-मन्त्रित्व तथा देशी राज्यों आदि का कार्य उन्हें सौंपा गया। उन्होंने देशी नरेशों को चेतावनी दी कि उन्हें समस्त भारतवर्ष के हित में ही कार्य करना होगा। इस समय ५६२ देशी रियासतें थीं। सरदार पटेल ने बड़ी बुद्धिमानी तथा शीघ्रता से उन सबका एकीकरण कर दिया। उनका यह कार्य भारतवर्ष के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा क्योंकि इन रियासतों में निरंकुश शासकों का रहना देश की उन्नति के लिये बाधक था और राष्ट्रीय एकीकरण के लिए अत्यन्त घातक था। सरदार पटेल जैसे दूरदर्शी तथा दृढ विचार वाले राज-नीतिज्ञ के परिश्रम का ही यह परिणाम था कि भारतवर्ष का सबसे बड़ा संकट दूर हो गया। हैदराबाद भी भारत की प्रमुख समस्याओं में से एक था। लेकिन इस समस्या को भी उन्होंने बड़ी योग्यतापूर्वक हल किया और हैदराबाद को वश में कर लिया। हैदराबाद-समस्या के समाधान ने तो सरदार पटेल के नाम को सदैव के लिए अमर बना दिया है। किन्तु इन महत्वपूर्ण कार्यों के अतिरिक्त उनके अन्य रचनात्मक कार्यों को भी नहीं भुलाया जा सकता है। उन्होंने नौकरशाही में भी सुधार किये और कॉंग्रेस की एकता को कायम रखा। उनकी सेवाओं के कारण भारतवासी उनसे बड़ा प्रेम करते थे।

वे प्रत्येक बात को बहुत ही स्पष्ट रूप से प्रकट किया करते थे। वे रचनात्मक कार्यों पर विशेष जोर देते थे तथा हवाई किले नहीं बनाते थे। वे अपने विचारों में बड़े दृढ थे। उनकी दृढ़ता के अनेकों प्रमाण हमें मिलते हैं। जब वे वकालत का कार्य करते थे तो एक बार उनकी स्त्री के देहान्त का

समाचार न्यायालय में बहस करते समय प्राप्त हुआ उन्होंने उस समाचार को पढ़ने के बाद भी मुकद्दमे की कार्यवाही बन्द नहीं की। वास्तव में सरदार पटेल बड़े दृढ़ विचार के व्यक्ति थे और यही कारण था कि वे हैदराबाद तथा अन्य देशी रियासतों की समस्याओं को बड़ी सरलतापूर्वक हल कर सके। इन्हीं सब विशेषताओं के कारण देश के गम्भीर राजनीतिज्ञों में इनका नाम सदैव अग्र-गणनीय रहेगा।